

मानव व्यक्तित्व की वैदिक अन्वेषणा



डॉ. श्रद्धा चौहान

श्रीगणेशाय नमः श्रीगणेशाय नमः

श्रीगणेशाय नमः

वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और
आत्म-साधना के लिए अभिप्रेत हैं ।
इसलिए यही अर्थ है जिसे हमें
पुनरुज्जीवित करना चाहिए ।

(महर्षि अरविन्द)

मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा नामक यह ग्रन्थ निस्संदेह एक अनुपम गवेषणा है । गवेषणा का रूढार्थ यद्यपि 'खोज' हो गया है, परन्तु इसका यौगिक अर्थ "गौ की खोज " है । प्रस्तुत प्रसंग में 'गौ' स्वयं वेद है । सामान्य रूप से हम वेद नाम से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद नामक ग्रन्थों से परिचित हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन महान् ग्रन्थों का नाम "गौ" नामक तत्त्व (वेद) को अपना वर्ण्यविषय बनाने के कारण हुआ । मूलवेद तो देव (ब्रह्म) की वह शक्ति है, जो अन्य देवों के हेतु नाना रूपों में प्रकट होती है । एक मूल से उद्भूत अनेकता में एकता अथवा योग को जानना ही वैदिक गवेषणा की सबसे बड़ी विशेषता है । वेद में "मनु" और "मनुस्" शब्दों के द्वारा द्विविध मनुष्यव्यक्तित्व की ओर संकेत किया गया है । यह हर्ष का विषय है कि यशस्विनी लेखिका ने वेदमन्त्रों और पूरे वैदिक साहित्य से प्रमाण उपस्थित करके नरनारी -व्यक्तित्व के उक्त दोनों 'स्तरों' के पारस्परिक सम्बन्ध को उजागर करते हुए, वैदिक योग और यज्ञ पर जो महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है, वह उनका सर्वथा मौलिक एवं निजी अन्वेषण है ।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसके द्वारा वेदभाष्य की एक नई दिशा मिलेगी ।

फतहसिंह

पूर्वनिदेशक,

राज. प्राच्यविद्या प्रशिक्षण, जयपुर

मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा (वेदों की आध्यात्मिक व्याख्या)

डॉ. श्रद्धा चौहान

वरिष्ठ सहायक आचार्य, संस्कृतविभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर

गवेषणा प्रकाशन

जोधपुर

प्रकाशक : गवेषणा प्रकाशन

विकास इण्डिया ग्रुप

17ई/257, नन्दनवन,

जोधपुर 342008

© 2614847

© लेखिका

संस्करण : 2003

आवरण : रणजीत सिंह राठौड
(ए.बी.सी एडवरटाईमेन्ट)
18 ई.से. के पास,
73-सूरजनगर, जोधपुर

शब्दांकन : पिक्सल कम्प्यूटर सेन्टर
प्रतापनगर, जोधपुर

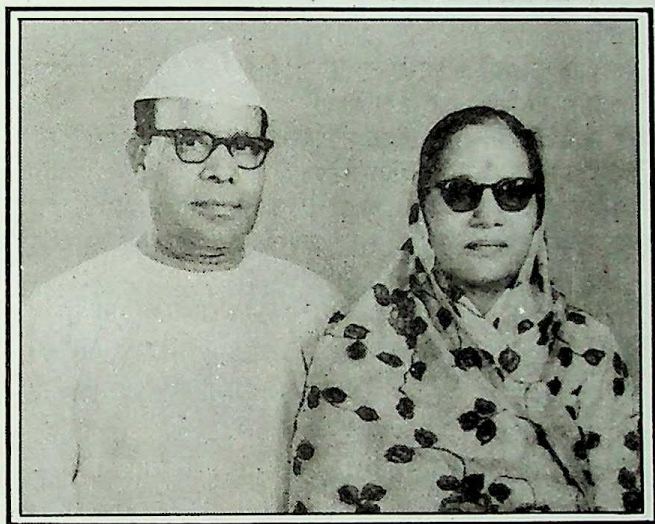
मुद्रक : भण्डारी ऑफसेट,
जोधपुर

मूल्य : 225/-

समर्पण

जिसके आँचल के अमृत ने,
मेरे बचपन को नित सींचा ।

ऋषिकल्प ज्ञान ने जिसके,
मार्ग गवेषणा का दिखलाया ।



डॉ फतहसिंह एवं स्व.श्रीमती श्यामाकुमारी
(माता—पिता)

द्यावा—पृथिवी सम दम्पती को,
श्रद्धा का यह आत्मसमर्पण ।

संकेत-सूची

अ	अथर्ववेद संहिता	द्र.	द्रष्टव्य
ऋ.	ऋग्वेद संहिता	धातु पा.	धातु पाठ
ऐआ.	ऐतरेय आरण्यक	नि.	निरुक्त
ऐउ.	ऐतरेयोपनिषद्	पा.धा.	पाणिनीयधातुपाठ
ऐ.	ऐतरेयब्राह्मण	पृ.	पृष्ठ
क.	कपिष्ठल कठ संहिता	प्र.	प्रथम
कपि.	कपिष्ठल संहिता	ब.व	बहुवचन
कउ.	कठोपनिषद्	बृ.	बृहद्देवता
का.,काठ.	काठक संहिता	बृउ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
काठ.संक.	काठक संकलन	मासं.	माध्यन्दिन संहिता
काश.	काण्वीय शतपथ ब्राह्मण	माश	माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण
केउ.	केनोपनिषद्	मैसं.	मैत्रायणी संहिता
कौउ.	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्	मं.	मन्त्रब्राह्मण
कौ.	कौषीतकि ब्राह्मण	य.	यजुर्वेद संहिता
गो.	गोपथ ब्राह्मण	वही	उपर्युक्त
घेसं.	घेरण्ड संहिता	वा.	वाजसनेयी संहिता
जै.उ.	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	श्रीमद् गी.	श्रीमद्भगवद्गीता
जै.	जैमिनीय ब्राह्मण	श्वे	श्वेताश्वतरोपनिषद्
टि.	टिप्पणी	शौ.	शौनक संहिता
तां	तांड्यमहाब्राह्मण	शां.	शांखायन ब्राह्मण
तु.	तुलनीय	षवि.ब्रा.	षड्विंश ब्राह्मण
तैआ.	तैत्तिरीय आरण्यक	सं.	संस्कृत
तैउ.	तैत्तिरीयोपनिषद्	सा.	सामवेद संहिता
तै.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	सा.भा.	सायण भाष्य
तैसं.	तैत्तिरीय संहिता		

विषयानुक्रमणी

पृष्ठ-संख्या
भूमिका i-vi
प्राक्कथन I-X

1. प्रथम अध्याय : षाट्कौशिक व्यक्तित्व 1-21

व्यक्तित्व—चित्रण की विचित्र शैली	1
प्रतीकवादी शैली में आप:	2
चेतना का द्वैत और अद्वैत	4
द्यावाभूमी से द्यावापृथिवी	5
देवपत्नियों का देव	5
अथर्वा और आप:	7
हरिणी अथवा अपराजितापुरी	8
(ज्योति और आनन्द की स्थिति)	
षाट्कौशिक व्यक्तित्व	10
आनन्दमयकोश	10
विज्ञानमयकोश	11
मनोमयकोश	13
प्राणमय तथा अन्नमयकोश	14
संहितान्तचतुष्टय अथवा कबन्ध	16
ब्रह्मात्मसायुज्य अथवा सहस्रम्	16
सन्दर्भ	17

2. द्वितीय अध्याय : पुरुष-संहिता और ब्रह्म-प्रकाशन 22-44

अदिति-माता और आदित्य-बोध	22
पुरुष और अपुरुष	23
सुधन्वा और हिरण्यनाम	23
वेद, ब्रह्मवीर्य और यज्ञ	24
ब्रह्म, ब्रह्मा और ब्राह्मा:	25
अमोघपुरी का दिव्य	26

पुरः एवं पश्च स्तर	27
प्राणदृष्टि से मनुष्य-व्यक्तित्व के द्विविध आयाम	27
सजाताः पूर्वे देवाः	27
साध्यदेव एवं ब्रह्मौदन	28
साध्यदेव एवं राष्ट्र और द्विविध इन्द्र	30
उत्तम राष्ट्र और द्विविध इन्द्र	31
मन्यु और ब्रह्म-प्रकाशन	33
मन्यु और ब्रह्मजाया	33
गायें (ब्राह्मीशक्तियाँ) और गोष्ठ	36
सन्दर्भ	39
 3. तृतीय अध्याय : आत्मा, मनु, मानव और मानुषी प्रजायें	 45-69
जन्मना जातवेदा	45
विवस्वत् मनु से वैवस्वत की ओर	46
दैव्यजन की अवतरण यात्रा	49
नाभानेदिष्ठ और नाभाक मानव	49
परमा —नाभि, तद्बन्धु, सुबन्धु एवं द्विबन्धु	50
नाभाक साधना	51
नाभाक साधना में अग्नि	51
नाभाक साधना में वरुण	52
चक्षु-मानव	52
चक्षु के विभिन्न स्तर	53
नहुषः मानवः और नाहुषी विशः	54
महदसुरत्वम्	54
शार्यात मानव	58
अध्वर तथा ऊर्ध्वा ग्रावाणः	58
व्यक्तित्व की परिपक्वता	59
मन्वन्तर-कल्पना का वैदिक आधार	60
मानुषी प्रजायें	62
मनु-यज्ञ	62
मनु-यज्ञ अथवा जीवयाज	63
पञ्चमानव, सप्तमानुष और सूर्य	64
सन्दर्भ	65

4. चतुर्थ अध्याय : मनुष्याः प्राणः 70-94

मनुष्याः प्राणाः	70
नहुषः और नरः	71
मरुतः नरः	71
मनुष्य प्राणों की रश्मिरूपता	72
परस्पर विरोधी प्राणरश्मियाँ	72
पृतनाः	73
सुदास् का आध्यात्मिक स्वरूप एवं मनुष्यनाम	74
आयु एवं आयवः	75
पञ्चजनाः	77
पाञ्चजन्याः कृष्टयः	78
कृष्टि और विश्वकृष्टि	79
विश्वकृष्टयः मरुतः	79
यव की कृषि और योग	80
कृष्ण स्तर	80
कर्षणातीत का कृष्णत्व	81
कृष्ण और सूर्य	82
हारियोजन, हरियोग और हरित	84
सोम और गावः का नाम- रूप	86
जगतः तस्थुषश्च	87
तस्थुषः, मरुतः और सुदास्	87
सन्दर्भ	89

5. पञ्चम अध्याय : प्राणों का अनेकत्व, युग्मत्व और एकत्व 95-117

चर्षणयः और अग्नि	95
उभयङ्कर प्राण	97
अद्वैतावस्था अथवा विश्वचर्षणी	98
ऋ. 1.109 का सारांश	99
अद्वैत चर्षणि	99
हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व (गृत्समद)	101
हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व (वामदेव)	102
क्षितयः और पूरवः	103
वव्रि और वव्र	104

जन्तवः कृष्टयः	105
जन्तवः और इष आत्रेय	105
जन्तवः मरुतः विशः	106
पूर्व ओर नूतन (जन्तु)	107
षड्वृक्षीया अरुन्धती	108
मरुतों की ऋष्टि	110
व्रत्याः और सोम	110
कृशानु अस्ता	112
सन्दर्भ	113

6. षष्ठ अध्याय : अन्तर्जगत् की प्राणसृष्टि और जिष्णुयोग 118-136

अथर्ववेद का प्राणसूक्त	118
गोपथब्राह्मण का सृष्टि-वर्णन	119
वेद और महाव्याहृति	121
वेदों और व्याहृतियों का मनोविज्ञान	121
प्राणरूप देव	123
अद्वैत सलिलम्	124
प्राणदृष्टि का त्रिविध रूप	125
ऋषि-देवता-छन्द-विज्ञान और योग	126
संग्राम, सहयोग और समन्वय योग	128
उत्तरोत्तर योग-प्रयास	128
वेदव्याख्या और प्राण-दृष्टि	129
वैदिक योग अथवा जिष्णु योग	131
सन्दर्भ	133

7. सप्तम अध्याय : षाट्कौशिक व्यक्तित्व के त्रैत और द्वैत 137-153

जातवेदस् में इन्द्र, अग्नि और सोम	137
इन्द्र, अग्नि और सोम का पार्थक्य	137
तीन सुप्रसिद्ध युग्म	138
कुत्स और इन्द्र परमेश्वर	138
त्रित रूप कुत्स कूप में	140
आप्त्य त्रित	141
अनेक त्रित और त्रिधातु अमृतम्	141

कुत्स और रथ	141
कुत्स की विविधता	142
कुत्स और लुश	143
रथिष्ठभर का रथ	144
मनुष्य-रथ	144
अश्विनौ का रथ	145
सूर्या विवाह का प्रसंग	146
अनः, अनङ्वाहौ और अनङ्वाह	147
उर्वी प्रदिशायें और उरु अन्तरिक्ष	149
सन्दर्भ	150

8. अष्टम अध्याय : षड्द्यावापृथिवी, अन्य युग्म तथा बृहद् द्यौ 154-173

पूर्वाग्रह निराकरण की आवश्यकता	154
अन्य देवतायुग्म	155
अभिधेयार्थ और प्रतीक	155
'स्वधे' युग्म का आध्यात्मिक परिवेश	156
सु और सुदास्	157
अर्यः सुदास्तराय	158
द्यावापृथिवी के दो स्तर	158
धिषणे और पूर्य रोदसी	159
रोदसी, अन्त्योदात्त और आद्योदात्त	159
रोदसी और पुरंधीवान् सोम	160
द्यावापृथिवी की बाधाएं	162
साधन-निर्माण और साध्य 'शम्'	163
बृहद् द्यौ	164
बृहद् द्यौ और परम पद	165
शक्ति का एकत्व, युग्मत्व और बहुत्व	165
एकं सत् का विस्तार	166
देवता युग्म और मरुतः	167
अन्य देवताद्वन्द्वों का गठबन्धन	168
स्तोम का स्तोमत्व	169
षड्योग षड् सामानि और साम-साम	169
अभीद्ध तप से अघमर्षण	169
सन्दर्भ	170

9. नवम अध्याय : शुभम् नासत्यम् और अश्व

174-190

शुभम् और सत्यम्	174
हिरण्यकोशीय-शुभम् के यात्री	175
अन्त्योदात्त शुभम्	176
इन्द्रनासत्या और नासत्य	176
सामराजम् और साम्राज्यम्	178
अग्नि, अग्नि या जातवेदस्	178
नासत्या का आधार	179
नासत्य और नृघ्न रुद्र	180
शुभंयु और शुभस्पती	181
अनश्व रथ और समह	182
अचित्तं ब्रह्म-रथ	183
हिरण्ययथ	183
अश्विनौ की रथ-यात्रा	184
अश्विनौ का अश्व	184
मधुविद्या और अश्व	185
अश्व के विविध नाम	186
सन्दर्भ	187

10. दशम अध्याय : उपसंहार (मनुष्य-व्यक्तित्व की समग्रता) 191-207

अश्वद्वय	191
अश्वमेध और पुरुषमेध	191
आरोहणशील अश्व	193
सोम और अश्व	194
इन्द्राग्नी (अश्विनौ) का भिषज्या तनू	194
चक्षुषी अग्नीषोमौ	195
नवेदसा अग्नीषोमौ	196
नवेदा इन्द्र और नवेदसा अश्विनौ	196
नवेदसा: मरुतः	197
नवेदा: उषसः, अग्नि और इन्द्र	198
इन्द्रासोमा की उषा	198
सोमरेतस् की द्विधा सृष्टि	199
धिषणे, धिष्यौ और सोमयज्ञ	199

आदर्श जीवन यज्ञ	200
आध्यात्मिक-सोमयज्ञ	200
पञ्चमुख सोमयज्ञ	202
षडायामीय सोमयज्ञ	203
संदर्भ	204
 सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थसूची	 208—212

भूमिका

मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा नामक यह ग्रन्थ निस्संदेह एक अनुपम गवेषणा है। गवेषणा का रूढार्थ यद्यपि 'खोज' हो गया है, परन्तु इसका यौगिक अर्थ 'गौ की खोज' है। प्रस्तुत प्रसंग में, 'गौ स्वयं वेद' ही है। सामान्य रूप से हम वेद नाम से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद नामक ग्रन्थों से ही परिचित हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन महान् ग्रन्थों का नामकरण गौ नामक तत्त्व (वेद) को अपना वर्ण्यविषय बनाने के कारण हुआ। मूलवेद तो देव (ब्रह्म) की वह शक्ति है, जो अन्य देवों के हेतु नाना रूपों में प्रकट होती है। यह वेद मूलतः परम देव (ब्रह्म) में अन्तर्हित रहता है। उसी की नान्तरूपात्मक अभिव्यक्ति से उस एक देव के जो अनेक रूपान्तर होते हैं उन्हीं को इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि अनेक देवों के रूप में कल्पित किया गया है। अतः यजुर्वेद² का एक मन्त्र कहता है कि 'हे देव! जिस हेतु तुम देवों के लिए वेद होते हो उसी हेतु मेरे लिए भी वेद हो, इस प्रकार सभी देव गातु (योग मार्ग) के ज्ञाता हो जाते हैं और गातु को जानकर स्वयं भी 'गातु' ही हो जाते हैं।³ एक मूल से उद्भूत अनेकता में एकता अथवा योग को जानना ही वैदिक गवेषणा की सबसे बड़ी विशेषता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार, मनरूपी समुद्र से देव सर्वप्रथम वाक् द्वारा त्रयी विद्या को खोद कर निकालते हैं।⁴ इस त्रयी के अन्तर्गत निस्संदेह ऋक्, यजुः, साम नामक त्रयी का समावेश होता है।⁵ इसी त्रयी विद्या के साथ प्रजापति⁶ उन आपः में प्रवेश करता है जिन्हें सृष्टि का मूलधार⁷ माना जाता है।

गोपथब्राह्मण का सृष्टि-वर्णन

उक्त त्रयी विद्या से होने वाली सृष्टि का जो वर्णन गोपथब्राह्मण में प्राप्त होता है वह इस दृष्टिकोण को एक भिन्न शैली द्वारा प्रकट करता है। तदनुसार, ॐ ब्रह्म में अन्तर्हित सुवेद के प्रवहमाण रूप 'स्वेद' से जो तीन धारायें प्रसृत होती हैं उनको क्रमशः धाराः, जायाः और आपः नाम दिया गया है।⁸ यहाँ निस्संदेह सुवेद से ॐ ब्रह्म की अन्तर्हित मूलवेद नामक शक्ति अभिप्रेत है तथा उसी के 'स्वेद' रूप को सुवेद का प्रवहमाण रूप मानकर उक्त त्रिविध धाराओं में प्रवाहित होता हुआ कहा गया है। इन धाराओं में से आपः को सरस्वती कहा गया⁹ और ऋक् और साम को उसी के सारस्वत उत्सों के रूप में कल्पित किया गया है।¹⁰ इससे स्पष्ट संकेत है कि स्वेद से प्रवाहित धाराः और जायाः को ऋक् और साम माना गया है तथा सरस्वती रूपी आपः को त्रयीविद्या का यजुः माना जा सकता है। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए, गोपथब्राह्मण उक्त आपः द्वारा भृगु एवं पुरुष की उत्पत्ति बताकर, निम्नलिखित दश वेदों की उत्पत्ति का उल्लेख करता है — 1. आथर्वणवेद 2. अंगिरसवेद 3. ऋग्वेद 4. सामवेद 5. यजुर्वेद 6. पुराणवेद 7. इतिहासवेद 8. असुरवेद 9. पिशाचवेद 10. सर्पवेद।

निस्संदेह इन दश वेदों को पूर्वोक्त त्रयी विद्या की तात्त्विक सृष्टि का विस्तार मानना पड़ेगा, न कि कोई ग्रन्थ। इस सृष्टि को प्रथम तो पिण्डाण्ड (मनुष्य देह) में समझें और फिर यथा 'पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की उक्ति का आश्रय लेकर अग्रसर हों।

वेद, फेथ और ग्रन्थ रूप वेद

इस तात्त्विक वेदमाला की सृष्टि को समझने के लिए हमें उस तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सहायता लेना आवश्यक है जिसके आविर्भाव से भारत और योरोप की भाषाओं को एक ही परिवार की माना गया है। तदनुसार, वेद शब्द के मूल में स्थित 'विद्' धातु ही लैटिन भाषा की 'फिदेर' अथवा 'फिद्' धातु है, जिसने योरोपियन भाषाओं में फेथ शब्द को जन्म दिया। इसी धातु को हम मध्यपूर्वीय भाषाओं के 'फिदा' और तथा योरोप के 'फाइडालिटी' जैसे शब्दों में भी देख सकते हैं। इन शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि वेद अथवा फेथ वस्तुतः वह श्रद्धाविश्वासमयी चेतना शक्ति है, जो बाल्यकाल से प्रादुर्भूत होकर उत्तरोत्तर विकसित की जा सकती है। अतः उसके विकास के विभिन्न स्तरों को ही बताने के लिए गोपथब्राह्मण में उक्त दश वेदों की कल्पना की गई प्रतीत होती है। आज हम जिन चार वेद नामक ग्रन्थों से परिचित हैं वे सभी विकास-स्तरों के वेद (फेथ) को चतुर्विध दृष्टि से वर्णित करते हुए माने जा सकते हैं। ज्ञान और भावना शक्ति के प्रतीक स्वरूप त्रयी के अंगभूत क्रमशः ऋक् और साम हैं जिन्हें यजुः सरस्वती के दो उत्स माना गया है। अतः ये तीनों जिन ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय बने, उन्हें क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद नाम दिया गया, जबकि ऋक्, साम और यजु नामक त्रयी में प्रकट होने वाले मूल सुवेद के स्वेद रूप को अथर्ववेद (अथ+अर्वाक्)¹¹ कहा गया। सुवेद की अर्वाक् (निम्न) गति के फलस्वरूप उक्त त्रयी का उद्भव होता है।

वेद (फेथ) के विभिन्न स्तर

त्रयी के उक्त स्तर का साक्षात्कार करने के लिए साधना-जन्म श्रद्धा-विश्वासमयी चेतना रूप में वेद (फेथ) व्यक्तित्व के अन्नमयकोश नामक निम्नतम स्तर से विकसित होता है। जिन प्राणशक्तियों में इसकी विकासयात्रा चलती है उन्हें द्विविध रूप में विभक्त किया गया है। एक वर्ग में असुर, पिशाच और राक्षस नामक प्राणशक्तियाँ हैं और द्वितीय वर्ग में देव, पितर और मनुष्य हैं।¹² अन्नमयकोश के स्तर पर यह चेतना (फेथ) 'सर्पवेद' कहलाती है जिससे प्रेरित होकर शिशु में प्रारंभ से ही मानसिक एवं शारीरिक क्रियायें अत्यन्त शीघ्रता से होने लगती हैं। उक्त क्रियाओं का ही एक सुविकसित रूप खान-पान तथा मैथुनादि कर्मों में दृष्टिगोचर होता है। ये सभी शरीर के मांसल भोगों की इच्छा से प्रेरित होने वाली वे सहज क्रियायें हैं जो शरीर की पेश (मांसपेशियों) को महत्त्व देने तक सीमित रहती हैं। अतः उन्हें 'पिशाचवेद' कहा गया है। प्राणमय के कण कण में प्रविष्ट मनोमयकोश की असुर नामक प्राणशक्तियों का ध्यान मांसपेशियों में सक्रिय उन सभी असु प्राणों पर जाता है जिन (असु प्राणों) में रमे होने के कारण ही मनोमयस्तर तथा उसकी प्राणशक्तियों की असुर¹³ संज्ञा होती है। इस स्तर पर श्रद्धाविश्वासरूपिणी चेतना (वेद) का नाम 'असुरवेद' है। मनोमय के भीतर समाये हुए विज्ञानमयकोश में जो शक्ति का निम्नगामी प्रवाह है, वह मनोमयकोश तक पहुँचता है, तो उसकी प्राणशक्तियों को ही 'मनुष्य' कहा गया है, जबकि विज्ञानमय का जो पक्ष अन्नमयकोश की ओर आकर्षित होता है, उसको प्राणशक्तियों को 'पितर'

कहा जाता है तथा स्वयं आनन्दमय की शक्तियों को 'देव' कहा जाता है। मनुष्य नामक प्राणशक्तियों के स्तर पर जो श्रद्धाविश्वासमयी चेतना (वेद-फेथ) उत्पन्न होती है उसी का नाम 'इतिहासवेद' भी है, क्योंकि इस स्तर तक पहुँचते पहुँचते उक्त चेतना (वेद-फेथ) के अतीतकालिक क्रियाकलापों पर ध्यान केन्द्रित होता है। इस इतिहास¹⁴ का ज्ञान होते ही यह बोध भी हो जाता है कि उक्त सभी स्तरों पर जो प्राणशक्तियाँ प्राण (प्र+अन), अपान (अप+अन), व्यान (वि+आ+अन), समान (सम+अन) तथा उदान (उद+अन) नामक थीं उनमें विद्यमान 'अन' नामक मूल प्राण ही शरीर नामक 'पुर' के भीतर विविधरूपेण रहता है। इस अनुभूति के परिणामस्वरूप 'पुराणवेद' की कल्पना प्रादुर्भूत होती है जिसका लक्ष्य पुर के सर्वव्यापी 'अन' में श्रद्धाविश्वास रखना होता है। यही पूर्वोक्त 'पितर' नामक शक्तियों का स्तर है। पुराणवेद का समस्त पुर में व्याप्त जिस प्राण पर ध्यान केन्द्रित होता है वही गोपथ ब्राह्मण के आरम्भिक वर्णन का 'पुरुष' है। पितरों के पश्चात् आनन्दमयकोश की देव शक्तियाँ तो वस्तुतः सोमानन्दमयी दिव्य शक्तियाँ हैं जो उस दिव्य सोम-यज्ञ की उपज हैं जिसका विस्तार उन ऋक्, साम एवं यजुः नामक त्रयी से होता है। जो संयुक्त रूप में उस आथर्वण वेद (फेथ) से उद्भूत होती है। जो वस्तुतः पूर्वोक्त ॐ ब्रह्म में निहित 'सुवेद' के प्रवहमाण रूप 'स्वेद' को अर्वाक् (निम्नगामी) गति देकर व्यक्तित्व के 'अन्नमयकोश' नामक निम्नतम स्तर तक सुवेद के 'सु' तत्त्व को पहुँचाने में समर्थ है।

सूर्या और सूर्यापति

उक्त 'सु' तत्त्व की झलक पाकर ही पूर्वोक्त व्यापक 'अन' प्राण उस सूर्या का 'अनट्' बनने की ललक उत्पन्न करता है, जो, 'सु' तत्त्व को 'उरुता' प्रदान करने के कारण सूर्या कहलाती है और वह अपने ब्रह्मस्वरूप सूर्य नामक पति तक पहुँचने की यात्रा करती है। इस यात्रा का विस्तृत आलंकारिक वर्णन हमें ऋग्वेद के सूर्यासूक्त¹⁵ में प्राप्त होता है। सूर्या की यह यात्रा मनोमय अन द्वारा प्रारम्भ होने वाली मानी गई है।¹⁶ इसका लक्ष्य सूर्या को अमृतलोक तक आरोहण कराना है जहाँ उसका पति (ब्रह्मसूर्य) विराजमान¹⁷ है। सूर्या के रूप में श्रद्धाविश्वासमयी चेतना की यह आरोहण यात्रा है, जबकि अवरोहण यात्रा में सूर्या को क्रमशः सोम, गन्धर्व, अग्नि एवं मनुष्यजाः पतियों की पत्नी के रूप में वर्णित किया गया है।¹⁸ इनमें से सोम को आनन्दमयकोश का प्राण, गन्धर्व को विज्ञानमय और मनोमयकोश का प्राण, अग्नि को प्राणमयकोश का प्राण और मनुष्यजाः को अन्नमयकोश में प्राण के अनेक सक्रिय रूपान्तरों के रूप में माना जा सकता है। सूर्या की यह आरोहण यात्रा श्रद्धाविश्वासमयी चेतना (फेथ) की योग-साधना है, जबकि योगजन्य सामर्थ्य द्वारा सम्पन्न होने वाले आचरण को यज्ञ (कर्तव्यनिष्ठा) रूप देना ही अवरोहण यात्रा है।

इस रूप में, वेद अथवा फेथ नामक चेतना को ग्रहण करने से सभी धार्मिक आस्थाओं के अनुयायियों को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाया जा सकता है और 'जिहादी आतंकवाद' जैसे उन्माद को भी समाप्त किया जा सकता है। वेद नामक ग्रन्थ-चतुष्टय इसी भावना के प्रेरक हैं, परन्तु इसे प्राप्त करने के लिए वेदमन्त्रों के प्रयुक्त शब्दों को अर्थ के आधार पर आधारित

आलंकारिक परोक्षवाद को समझना होगा। इसी परोक्षवाद को अपनाते हुए भारतजन की रक्षा करने वाले ब्रह्म¹⁹ को ऋग्वेद उस विश्वामित्र का ब्रह्म बताता है, जो विश्वमैत्री का अद्भुत प्रतीक है। ऐसे ही विश्वामित्रों (विश्वामित्रेषु) में शान्तिविधायक शक्ति का 'तनु' स्वच्छ होकर उभरता है।²⁰ ऐसे ही विश्वामित्रों द्वारा जन्म जन्मान्तर में जातवेदस् अग्नि को अजस्र रूप में प्रज्वलित किया जा सकता है।²¹ यह जातवेदस् अग्नि वह प्राणाग्नि है जिसमें वेद (फेथ) नामक चेतना सुविकसित होने में प्रवृत्त होती है। तभी उसे ज्ञानरश्मियाँ (केतवः) उत्तरोत्तर उच्च स्तर तक ले जाती²² हुई ब्रह्मसूर्य का दर्शन कराने में समर्थ होती हैं, जिससे अन्ततः सभी हृदरोग²³ समाप्त हो जाते हैं। वेदकल्पित यह विश्वामित्र ही वह महान् दिव्य ऋषि है, जो सिन्धु नामक अर्णव को स्तम्भित कर उसे प्रत्येक व्यक्तित्व तक ले जाता है जिसे ऋग्वेद में 'सु' तत्त्व का दाता होने के कारण सुदास्²⁴ कहा गया है। सुदास् से सम्बन्धित दशराजाओं (दीप्तिपुक्त²⁵ तत्त्वों) को पूर्वोक्त दश वेद नामक तत्त्व माना जा सकता है। एक अन्य विचारणीय बिन्दु यह भी है कि जहाँ कहीं भी दाशराज्ञ शब्द ऋग्वेद में आया है उसके साथ युद्ध शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। इसके साथ ही ये दश राजा यज्ञ से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। उक्त दश दीप्तिपुक्त वेद नामक तत्त्वों को केवल विकासमान वेद का शृंखलाबद्ध स्तर माना जा सकता है; अतः वे युद्ध भी नहीं करते और न यज्ञ में ही सम्मिलित होते हैं। वे 'अयज्ञव' ही हैं, क्योंकि यज्ञ का विस्तार जिस त्रयी से होता है वह तो इन दश वेदों से परे सुवेद के स्वेद रूप से निष्पन्न धाराः, जाया और आपः नामक प्रवाह हैं जो मनुष्य के आचरण में यज्ञ का विस्तार कर सकते हैं। इन्द्र और वरुण किसी 'भेद' की हिंसा करते हुए सुदास् की रक्षा अवश्य करते हैं, परन्तु इस भेद नामक शत्रु की हिंसा करने का अर्थ यह भी हो सकता है कि उक्त दीप्तिमान दश राजाओं के रूप में कल्पित दश वेदों की एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न (भेद रहित) शृंखला होती है; इसीलिए उन्हें 'समिताः' भी कहा गया है। इसी दृष्टि से ऋ. 7. 33. 3 के निम्नलिखित तीन प्रश्न भी बोधगम्य हो सकते हैं :-

1. किस सिन्धु को पार किया ?
2. किस भेद की हिंसा की गई?
3. कौन से सुदास् की दाशराज्ञ में रक्षा की गई?

वेद में इतिहास नहीं

सुदास विषयक यह विवेचन भलीभाँति स्पष्ट करता है कि सुदास् तथा उससे सम्बन्धित 'दाशराज्ञ' कल्पना में कोई भी सामान्य ऐतिहासिकता नहीं, अपितु मनुष्य-व्यक्तित्व की एक आध्यात्मिकता सिद्ध होती है। इसी प्रकार, डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा ने वैदिक ऋषियों पर लिखे गये शोधप्रबन्ध में यह सिद्ध किया है कि वेद के ऋषि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, अपितु आध्यात्मिक जगत् की प्राणशक्तियाँ हैं। इस निष्कर्ष का समर्थन शौनकीय 'बृहददेवता' नामक ग्रन्थ की उस पंक्ति से भी होता है जिसमें वेदों के ऋषियों, देवताओं और छन्दों को प्राणदृष्टि से समझने का कथन किया गया है। अतः, उक्त समस्त विवेचन से महर्षि दयानन्द सरस्वती के इस महत्त्वपूर्ण मत की भी पुष्टि होती है कि वेदों में इतिहास नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में एतदविषयक विश्लेषण सप्रमाण विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के दश अध्यायों में मनुष्य-व्यक्तित्व

सम्बन्धी गवेषणा की गहराई में जाने का जो अभूतपूर्व प्रयास किया है वह भावी वैदिक अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए एक अच्छा पथप्रदर्शक सिद्ध होगा। डॉ. श्रद्धा चौहान ने ग्रन्थ की भूमिका में महर्षि अरविन्द के 'वेदरहस्य' से उन उद्धरणों को उद्धृत किया है जिनमें उन्होंने सायणादि प्राचीन भाष्यकारों से लेकर दयानन्द आदि आधुनिक भाष्यकारों के योगदान का सादर उल्लेख किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वेद का मर्म समझने के लिए अब तक सम्पादित हुए सभी कार्यों का यथासम्भव आश्रय लेकर अपने अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए, तभी वेदोद्धार सम्भव हो सकेगा।

निघण्टु में निहित दिशाबोध

विगत कुछ वर्षों में निघण्टुगत शब्दसूचियों के अध्ययन द्वारा उनमें निहित वेदभाष्य की दिशा को समझने का जो प्रयास प्रारम्भ हुआ है, उसी शृंखला में प्रस्तुत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ निघण्टु की जिस शब्दसूची पर आधारित है, उसका अन्त 'इति मनुष्यनामानि' से होता है। अतः अभी तक विद्वान् इसके सभी शब्दों को मनुष्यवाचक ही समझते रहे हैं। परन्तु, आज तक क्या कोई भी भाष्यकार (भारतीय या पाश्चात्य) इन सभी शब्दों को मनुष्य के अर्थ में ग्रहण कर सका है? उदाहरण के लिए, 'जगतः तस्थुषः' को प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा है। निम्नलिखित मन्त्रों में इनका एकसाथ प्रयोग हुआ है:-

1. तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं, धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्। (ऋ.1.86.5)
2. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ.1.115.1)
3. शीर्ष्वाः शीर्ष्वां जगतस्तस्थुषश्च, समया विश्वमा रजः। (ऋ.7.66.15)
4. स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां, तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ.7.101.6)

वास्तविकता यह है कि, जैसा इस पुस्तक में संकेत दिया गया, निघण्टु के सभी 'पञ्चतुविंशति मनुष्यनामानि' व्यक्तित्व के उस स्तर के द्योतक हैं जिसे वेद में 'मानव' से भिन्न 'मनुष्य' माना गया है। इस द्विविध मनुष्यव्यक्तित्व की ओर 'मनुवत्' और 'मनुष्यवत्' तथा 'मनु' और 'मनुस्' शब्द संकेत करते हैं। यह हर्ष का विषय है कि यशस्विनी लेखिका ने वेदमन्त्रों और पूरे वैदिक साहित्य से प्रमाण उपस्थित करके नरनारी-व्यक्तित्व के उक्त दोनों स्तरों के पारस्परिक सम्बन्ध को उजागर करते हुये, वैदिक योग और यज्ञ पर जो महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है वह उनका सर्वथा मौलिक एवं निजी अन्वेषण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसके द्वारा वेदभाष्य के साथ साथ समस्त मनुष्यजाति के आध्यात्मिक स्वरूप को समझने की एक नई दिशा मिलेगी जो निघण्टु का सम्यक् उपयोग न होने के कारण सर्वथा अज्ञात थी।

इति शम्।

फतहसिंह
पूर्व निदेशक,

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

- ¹ वेद ह गौः (माश. 3.1.2.17 तु.जै. 2.182)
- ² वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्योऽभवत् मह्यं वेदो भूयाः
- ³ देवाः, गातुविदो, गातुं विच्चा गातमिन् (य. 2.21)
- ⁴ मनसो वै समुद्रात् वाचा अभ्रया देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन् (माश. 7.5.2.52) तु.य. 13.53
- ⁵ त्रयी वै विद्या ऋचो यजूषि सामानि (माश. 4.6.7.1)
- ⁶ प्रजापतिस्त्रय्या विद्या सह आपः प्राविशत् (माश. 6.3.1.10)
- ⁷ आपो वै जनयो अदिभः हीदं सर्वं जायते (माश. 6.8.2.3)
- ⁸ गोपथ 1.1-2
- ⁹ जै. 2.201
- ¹⁰ मै 1.8.8, तै. 1.4.4.9
- ¹¹ तद् यद् अब्रवीत् अथ अर्वाक् एनम् तासु अस्तु अन्विच्छेति तदथर्वाऽभवन् । तद् अथर्वणः अथर्वत्वम् (गो. 1.1.4)
- ¹² देवाः पितरः मनुष्याः ते अन्यत्, असुराः पिशाचाः रक्षांसि अन्यत् (काठ. 10.7, जै. 1.154)
- ¹³ मनो वा असुरम् तद् हि असुषु रमते (जै. 3.35.3)
- ¹⁴ अ.वे. 15.6.11-12, माश. 13.3.4.12
- ¹⁵ ऋ. 10.85
- ¹⁶ वही मंत्र 12
- ¹⁷ वही, मंत्र 20
- ¹⁸ सोमः प्रथमो विविदे वि विद् उत्तरः । तृतीयो अग्निस्ते पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः । (ऋ.10.85.40)
- ¹⁹ विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतंजनम् (ऋ. 3.53.12)
- ²⁰ ऋ. 3.18.4, तुलनीय विश्वस्य ह मित्रं विश्वामित्रः (ऐ.ब्रा. 6.20.21)
- ²¹ ऋ. 3.1.21
- ²² उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् । (ऋ. 1.50.1)
- ²³ वही, मंत्र 11
- ²⁴ तु. दासु दाने (धातुपाठ 1.665)
- ²⁵ तु. राजृदीप्तौ (धातुपाठ 1.569)

मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा

प्राक्कथन

मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा वस्तुतः अन्तश्चेतना की विकास-यात्रा है जिसका लक्ष्य 'वेद' तत्त्व की प्राप्ति है। अपनी विकास-यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर यह चेतना जिन अनेक परिधानों में अपने स्वरूप को उद्घाटित करती है, उन्हें वेद में विभिन्न नामों द्वारा प्रकट किया गया है। इन्हीं नामों को वैदिक शब्दकोश निघण्टु में 'इति पञ्चविंशति मनुष्य नामानि' कहकर मनुष्य नामों के अन्तर्गत संकलित किया गया है। यह निश्चित है कि अन्तश्चेतना के विकास के इन विभिन्न सोपानों की जो गवेषणा वैदिक मन्त्रों की पृष्ठभूमि में अंकुरित हुई, वही हमारे जनजीवन का आधार बनकर भारतीय संस्कृति बन गई। यही भारतीय दर्शन, साहित्य, समाजशास्त्र, संगीतशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र आदि कलाओं के माध्यम से पुष्पित और पल्लवित हुई। अन्तश्चेतना की यह गवेषणा भारतीय जनमानस में इतनी रच बस गई कि वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन के बिना ही कबीरदास, सूरदास और रैदास जैसे आदरणीय सन्तों ने मनुष्य व्यक्तित्व रूपी अयोध्या-पुरी का वर्णन अपनी अपनी वाणी में किया।

सन् 1995 में जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय द्वारा मुझे 'मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा' नामक शोधप्रबन्ध पर डी. लिट् की उपाधि प्रदान की गई। शोध प्रबन्ध के विद्वान् परीक्षकों ने इस ग्रन्थ की उपादेयता को स्वीकार करते हुए हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में अविलम्ब प्रकाशन का परामर्श भी दिया। अपने जन्मदाता तथा इस शोध के परामर्शदाता ऋषिकल्प डा. फतहसिंह के मार्गदर्शन से वैदिक तत्त्वज्ञान का जो अल्पांश मेरी आस्तिक बुद्धि ने ग्रहण किया उसे 'मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा' के संशोधित रूप में प्रकाशित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। आशा है कि सुधी पाठक मेरे इस प्रयास का स्वागत करेंगे और गवेषक इस दिशा में अन्वेषण कर वेद के रहस्यों को उद्घाटित करेंगे।

अस्तु, मेरा यह आयास उसी ज्ञानयज्ञ का एक अंग है, जो मैंने तैंतीस वर्ष पूर्व एक बालप्रयास के रूप में प्रारम्भ किया था। उस समय मैंने पीएच. डी. के शोध-प्रबन्ध में निघण्टु के 'धननामानि' में परिगणित अट्ठाइस वैदिक शब्दों के सभी वैदिक सन्दर्भों का अध्ययन कर यह पाया कि ये समस्त धननाम वस्तुतः आध्यात्मिक सम्पदा की ओर इंगित करते हैं, जिनकी केन्द्रीभूत समष्टि हिरण्ययकोशीय ब्रह्मात्म-सायुज्य में प्राप्तव्य 'महाधन' की कल्पना में उपलब्ध होती है। यही वह धन है जिसकी चाह प्रत्येक मानव को है। यही वह वैदिक सोम है जिसे मरुतों द्वारा नियम्यमान तथा हिरण्ययकोश में स्थित माना गया है (ऋ. 9.75.3)। इसे ही अन्यत्र 'उत्सो देवः हिरण्ययः' (ऋ. 9.107.4) अथवा 'सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम्' (ऋ. 9.5.10) कहा जाता है। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार अन प्राण के द्वारा जो जीवन साम्यावस्था की ओर ले जाता है वही वस्तुतः जीवन है। 'अनोवाह्यं समे जीवनम्' की यह वैदिक कल्पना ही उस आदर्श जीवन-यज्ञ का मूलाधार है जिसे आध्यात्मिक साधना-यज्ञ अथवा पञ्चमुखी सोमयज्ञ या सम्पन्नतम यज्ञ कह सकते हैं। इसके प्रतीक स्वरूप ही वैदिक काल में सोम-याग का वर्णन हुआ, जो प्रत्यक्ष रूप से जीवन के लिए विहित पञ्चमहायज्ञों की अवधारणा भी इसी से प्रेरित रही हो।

वेदमन्त्रों की आध्यात्मिकता

मेरी इस प्रतिपत्ति को एक दुस्साहसपूर्ण प्रयास भी समझा जा सकता है, क्योंकि इसमें उस पाश्चात्य दृष्टिकोण का स्पष्ट विरोध है जिसका हमारे मानस पर पूर्ण आधिपत्य है। याज्ञिक परम्परावादियों को भी सम्भवतः यह ग्राह्य न हो, क्योंकि भौतिक मनोरथों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होने वाला कर्मकाण्ड ही उनकी दृष्टि में यज्ञ है। सायणाचार्यकृत यज्ञपरक वेद-भाष्य भी यज्ञ के कर्मकाण्डीय स्वरूप को मान्यता प्रदान करता है। मीमांसकों को भी इस निष्कर्ष में मीमांसा-दर्शन की अवहेलना की गन्ध आ सकती है, परन्तु मुझे संतोष है कि मेरे ग्रन्थ का आधार वैदिक-मन्त्र हैं। इन मन्त्रों का अर्थ करने में श्री अरविन्द के ये विचार सर्वाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं कि, “ऋषियों ने अपनी विचार-सामग्री को एक समानान्तर तरीके से व्यवस्थित किया था, जिसके द्वारा वही के वही देवता एक साथ विराट् प्रकृति की आम्यन्तर तथा बाह्य दोनों शक्तियों के रूप में प्रकट हो जाते थे और उन्होंने इसे एक ऐसी द्वयर्थक प्रणाली से अभिव्यक्त किया जिससे एक ही भाषा दोनों रूपों में उनकी पूजा के प्रयोजन को सिद्ध कर देती थी, परन्तु भौतिक अर्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान है और अपेक्षया व्यापक घनिष्टता के साथ ग्रथित तथा अधिक संगत है। वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्म-साधना के लिये अभिप्रेत है। इसलिये यही अर्थ है जिसे हमें पुनरुज्जीवित करना चाहिये” (वै.रह. पृ.70)।

निघण्टु-सम्मत

निस्संदेह, श्री अरविन्द का उपर्युक्त मत उस प्राचीन परम्परा के अनुकूल है, जो निघण्टु की विभिन्न नाम-सूचियों के संकलन का आधार रही प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये, ‘यज्ञनामानि’ को ही लीजिये, इन नामों में मेघ जिस प्रकार बुद्धिवाचक मेधा का सजातीय है उसी प्रकार विदथः तथा वेनः भी ज्ञानार्थक धातु से निष्पन्न है; अतः यह स्पष्ट है कि ये नाम यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। निघण्टु की नामसूचियों पर अन्य शोधप्रबन्ध लिखे गये हैं जिनके निष्कर्ष भी मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर की डॉ प्रतिभा शुक्ला ने डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा के निर्देशन में यह सिद्ध किया कि निघण्टु के हिरण्यनामों की सूची में जो वैदिक शब्द संकलित हैं उनमें लौहार्थक अयस् एवं लौह से लेकर स्वर्णबोधक ‘हिरण्य’ पर्यन्त समस्त नाम आन्तरिक प्रकाश के विभिन्न स्तरों के द्योतक हैं और उन सबकी पराकाष्ठा के लिये वेद में ‘हिरण्यय’ (हिरण्यातीत) पद प्रयुक्त होता है, जो षाट्कौशिक मानव व्यक्तित्व के अन्तस्तमकोश का नाम भी है। इसी विश्वविद्यालय की कुमारी अरुणा शुक्ला ने निघण्टु के अन्तरिक्ष-नामों का अध्ययन कर यह पाया कि ये सभी नाम अन्तश्चेतना के बोधक हैं। अन्नमयकोश रूप पृथिवी तथा मनोमयकोश रूप द्यौ के मध्य जो प्राणमय अन्तरिक्ष है वह अहंकार-ग्रस्त व्यक्तित्व में अति संकीर्ण तथा क्षुद्र हो जाता है। इसीलिये ‘ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु’ की प्रार्थना वेद में प्राप्त होती है और प्रकाशस्वरूप ‘स्वः’ नामक ‘उरु अन्तरिक्ष’ की कल्पना के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मणग्रन्थ अन्तरिक्ष को ऊर्ध्व तथा द्यौ एवं पृथिवी को

उसके अंगभूत स्तनद्वय मानते हैं। यही कारण है कि निघण्टु के अन्तरिक्ष-नामानि में आकाश और पृथिवी को भी सम्मिलित किया गया है, जो सामान्य मान्यता के सर्वथा विपरीत होते हुए भी उक्त वैदिक प्रसंग की अलंकार-योजना में पूर्णतया युक्तिसंगत हो जाता है।

जोधपुर के अतिरिक्त राजस्थान तथा मेरठ विश्वविद्यालय में भी निघण्टु की नामसूचियों पर पीएच.डी. उपाधि हेतु शोधप्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय की माधुरी गुप्ता 'अश्वनामानि' पर, कु. ललितासिंह 'गृहनामानि' पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उपाधि प्राप्त कर चुकी हैं। मेरठ विश्वविद्यालय के सुकर्मपालसिंह तोमर ने उदकनामानि का अध्ययन प्रस्तुत किया है। ये सभी प्रबन्ध श्री अरविन्द के उपर्युक्त मत का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। यदि आध्यात्मिक व्याख्या की उपेक्षा कर दी जाय और उदकनामानि में पठित शब्दों को जल के अर्थ में ही ग्रहण किया जाय, तो इस सूची के सत्यम्, ऋतम्, ऋतस्ययोनिः, पूर्णम्, भूतम्, भुवनम् आदि शब्द सर्वथा असंगत हो जाते हैं और ईम्, इदम्, स्वः, क्षत्रम्, वनम्, शम्बरम् जैसे शब्दों की सार्थकता पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है।

निरुक्तकार और महर्षि दयानन्द

निघण्टु से संकलित नामसूचियों के उक्त मूल्यांकन को दृष्टि में रखकर, यह स्वीकार करना होगा कि निरुक्तकार यास्क निघण्टु की व्याख्या का सूत्रपात कर जिस वेद व्याख्यापद्धति का पुनरुद्धार करना चाहते थे और निरुक्तकेन्द्रित जिस व्याख्या को स्वामी दयानन्द ने अपनाया तथा प्रोत्साहित किया, वह वस्तुतः वही वेदार्थ है जिसे "प्रथम पुनरुज्जीवित" करने का परामर्श श्री अरविन्द ने दिया है। उनका कथन है कि, "इस कार्य में व्याख्या की प्रत्येक प्राचीन तथा आधुनिक प्रणाली एक अनिवार्य सहायता देती है। सायण और यास्क बाह्य प्रतीकों के कर्मकाण्डमय ढाँचे को और अपनी परम्परागत व्याख्याओं तथा स्पष्टीकरणों के बड़े भारी भण्डार को प्रस्तुत करते हैं। उपनिषद् प्राचीन ऋषियों के आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों को जानने के लिये अपने मूल-सूत्र हमें पकड़ाते हैं और आध्यात्मिक अनुभूति एवं अन्तर्ज्ञान की प्रणाली को हम तक पहुँचाते हैं। योरोपियन पाण्डित्य तुलनात्मक अनुसंधान की एक आलोचनात्मक प्रणाली को देता है - - - दयानन्द ने ऋषियों के भाषा-सम्बन्धी रहस्य का मूलसूत्र हमें पकड़ा दिया और वैदिक धर्म के एक केन्द्रीभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् में एक ही देव की सत्ता है और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से उस एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं। मध्यकालीन भूत से इतनी सहायता लेकर हम अब भी इस सुदूरवर्ती प्राचीनता का पुनर्निर्माण करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं और वेद के द्वार से प्रागैतिहासिक ज्ञान के विचारों तथा सच्चाइयों के अन्दर प्रवेश पा सकते हैं (वे.रह. पृ. 70)।"

मधुसूदन ओझा की परम्परा

उपर्युक्त उद्धरण में श्री अरविन्द ने वेदव्याख्या की जिन प्राचीन तथा आधुनिक व्याख्यापद्धतियों का उल्लेख किया है उसमें स्वर्गीय पं. मधुसूदन ओझा और उनके सुयोग्य शिष्य पं. मोतीलाल शास्त्री का नाम नहीं है, क्योंकि श्री

अरविन्द के समय तक उनका कार्य प्रकाश में नहीं आया था। इधर प्रसिद्ध पत्रकार श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश ने इन दोनों विद्वानों के प्रभूत लेखन और चिन्तन के प्रचार-प्रसार के लिये जो व्यापक अभियान चलाया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर वेद-विज्ञान को प्रस्तुत करता है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों की आधुनिक पद्धति में ब्राह्मणग्रन्थों को सर्वथा त्याज्य समझा गया है। वेदविज्ञान को प्रकाश में लाने के कार्य में स्वामी सुरजनदास, पं. अनन्त शर्मा, डॉ. बी.बी.चौबे, डॉ. दयानन्द भार्गव, डॉ. रामनाथन् जैसे बहुश्रुत विद्वानों का स्तुत्य योगदान है।

खेद का विषय है कि पं. ओझा और पं. मोतीलाल शास्त्री की पद्धति को कुछ विद्वान् इस आधार पर दयानन्दविरोधी मानते हैं कि स्वामी जी 'मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' को स्वीकार न करके केवल मन्त्रसंहिताओं को ही वेद मानते थे, जबकि उक्त दोनों विद्वान् मुख्यतः ब्राह्मणग्रन्थों को विशेष महत्व देते हैं, लेकिन महर्षि के समर्थक इस तथ्य को क्यों विस्मृत करते हैं कि उन्होंने स्वयं अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में ब्राह्मणग्रन्थों से अनेक उद्धरण देकर वेदव्याख्या में उनके महत्व को स्वीकार किया है। वस्तुतः महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद के पुनरुद्धार के लिये अकेले ही, देशी तथा विदेशी विरोध का सामना किया तथा विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी वैदिक धर्म के लिये जिस देशव्यापी महान् आन्दोलन का सूत्रपात किया, वह अभूतपूर्व कार्य था। इसीलिये, लोकमान्य तिलक और टी. परमशिव अय्यर के वेद विषयक कार्य का उल्लेख करने के पश्चात् श्री अरविन्द कहते हैं, "तीसरी भारतीय सहायता तिथि में अपेक्षया कुछ पुरानी है, परन्तु मेरे वर्तमान प्रयोजन के अधिक नजदीक है; यह है वेद को फिर से एक सजीव धार्मिक पुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिये आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भारतीय भाषा-विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार बनाया जिसे उन्होंने उनके पास जो सामग्री थी, उस पर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन संस्कृत भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्व का उन्होंने रचनात्मक प्रयोग किया जो सायण के "धातुओं की अनेकार्थता" इस एक वाक्यांश से बहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि इस तत्व का, इस मूल-सूत्र का ठीक-ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियों की निराली प्रणाली को समझने के लिये बहुत अधिक महत्व रखता है। — दयानन्द की मन्त्रों की व्याख्या इस विचार से नियन्त्रित है कि वेद धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्य का एक पूर्ण ईश्वर-प्रेरित ज्ञान है। वेद की धार्मिक शिक्षा एक देवतावाद की है और वैदिक देवता एक ही देव के भिन्न-भिन्न वर्णनात्मक नाम हैं, साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियों के सूचक भी हैं, जिन्हें हम प्रकृति में कार्य करता हुआ देखते हैं और वेदों के आशय को सच्चे रूप में समझकर हम उन सभी वैज्ञानिक सच्चाइयों पर पहुँच सकते हैं जिनका आधुनिक अन्वेषण द्वारा आविष्कार हुआ है (वे.रह.पृ. 69)।"

वेद-विज्ञान का महत्व

श्री अरविन्द द्वारा महर्षि दयानन्द के कार्य का जो मूल्यांकन यहाँ प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट है कि स्वामी जी वेद में विज्ञान के अस्तित्व को

स्वीकार करते थे। उसी को अपनी शैली में पं. ओझा और शास्त्री जी ने भी अपने चिन्तन और लेखन का विषय बनाया। लक्ष्य की एकात्मता को ध्यान में रखकर थोड़े बहुत वैचारिक मतभेद को स्वीकार करना बुद्धिमानी है। इसी दृष्टि से श्री अरविन्द ने पाश्चात्य विद्वानों की तुलनात्मक भाषा और तुलनात्मक गाथाशास्त्र (माइथॉलॉजी) पर आश्रित वेद-व्याख्या का भी स्वागत किया। इस दृष्टि से पं. मधुसूदन ओझा और पण्डित मोतीलाल शास्त्री का कार्य इसलिये और भी अभिनन्दनीय हो जाता है कि अब क्रिस्सौप कापरा, एल्फ्रेड पैट्री, अर्द्धेन्दुशेखर चक्रवर्ती एवं डॉ. एम. एल. गुप्ता जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने भी आधुनिक विज्ञान के अनेक निष्कर्षों को वैदिक वाङ्मय में निहित बताया है।

इसी प्रकार द्वारिकापीठ के स्वर्गीय शंकराचार्य ने वैदिक गणित को लोकप्रिय बनाने के लिये जो देश विदेश में प्रयास किया, उस पर आधुनिक विद्वानों को विचार करना चाहिये, क्योंकि गणित की यही शैली अथर्ववेद के कुछ सूक्तों में स्पष्टतः संकेतित है। शून्य सहित अंकों एवं दशमलव प्रणाली को भारतीय मूल का ही माना जाता है। ऋग्वेद के वरुण सूक्त में वर्ष के बारह मासों के अतिरिक्त एक तेरहवें मास का उल्लेख स्पष्टतः सिद्ध करता है कि वैदिक काल-गणना कितनी विकसित अवस्था में थी। इसी प्रकार, इस ग्रन्थ में प्राण-सृष्टि तथा जिष्णुयोग के प्रसंग में वैदिक मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान और शान्तिविज्ञान के जिस स्वरूप की ओर यत्र-तत्र संकेत किया गया है वह वेदमन्त्रों की पृष्ठभूमि में सर्वत्र विद्यमान है और उस ओर ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में भी संकेत प्राप्त होता है।

उपेक्षित प्रतीकवाद

प्राणविद्या और अतिवैयक्तिक मनोविज्ञान को अभिव्यक्ति देने के लिये वेदमन्त्रों में सूर्य, चन्द्र आदि को प्रतीक के रूप में अवश्य ग्रहण किया गया था, परन्तु सायणाचार्य की वेदव्याख्या में इन प्रतीकों के प्रतीकत्व को इतना उपेक्षित कर दिया गया कि सर्वानुक्रमणीकार की यह उक्ति भी सर्वथा विस्मृत हो गई कि महान् आत्मा ही एक देवता है जिसे सूर्य कहा जाता है — “एकैव या महानात्मा देवता। स सूर्य इत्याचक्षते।” इसी भांति यास्क की यह उक्ति है “महाभाग्याद् देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते।” स्वयं ऋग्वेद भी एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् (ऋ 8.58.2) की घोषणा करता है और इसी तथ्य की पुष्टि एकं सत् (1.64.46), तत् एकम् (10.129.2), तत् सत्यम् (3.39.5; 4.54.4) तथा अमृतत्वम् (1.164.23; 5.55.4) रूप में करते हुए उसे ही जीवनसाधना का चरम लक्ष्य मानता है। इस परमतत्त्व को अथवा उस तक पहुँचने के उपायों की व्याख्या के लिये वेद में अनेक प्रतीकवादी आख्यानों की सृष्टि की गई। उदाहरण के लिये, ऋभु, वाज एवं विभ्वा नामक तीन भाइयों द्वारा जिन शान्ति-प्रयासों के माध्यम से (शमीभिः) अमृतत्व प्राप्त किया जाता है उनमें वाक् शक्ति (गो) की रक्षा, माः नामक चन्द्रज्योति का संदीपन (अपिशन्) तथा भाः नामक सूर्यज्योति-सम्भरण की गणना (ऋ 4.33.4) है। इनमें से रक्षाकार्य का सम्पादन वाज नामक क्रियाबल, भावना की प्रतीक चन्द्रज्योति (माः) का संदीपन विभ्वा नामक भावना-बल तथा ज्ञान की प्रतीक ज्योति (भाः) का सम्भरण ऋभु नामक ज्ञान-बल करता है। इस त्रिविध शान्ति-कर्म के सम्पादन काल को “सर्वत्सम्” नाम दिया गया जो उस

ब्रह्मात्म-सायुज्य का सूचक है, जब वाक् रूपी गौ के क्रिया-पक्ष की रक्षा के साथ भावना-पक्ष और ज्ञान-पक्ष को भी ज्योति सम्पन्न किया जाता है।

इस रूप में वाज (क्रियाबल) मनुष्य-व्यक्तित्व रूप चमस को बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी गति देकर द्विविध करता है, जबकि विन्वा (भावनाबल) और ऋभु (ज्ञान बल) क्रमशः भावना और ज्ञान को आयाम देते हैं और इस प्रकार वे तीनों उसे चतुर्विध कर देते हैं। यह चतुर्विध मनुष्यव्यक्तित्व उस द्वादशाह की साधना में रत हो जाता है जिसका उल्लेख आगे किया गया है। इस साधना के अन्तर्गत षाट्कौशिक व्यक्तित्व अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख चेतना-प्रवाह की दृष्टि से द्वादशविध हुआ माना जाता है जिसके फलस्वरूप समाधि में अर्जित आनन्द-सोम सम्पूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त होकर उसे अगोह्य (प्रत्यक्ष) सविता (पवमान सोम) के गृह रूप में परिणत कर देता है, (ऋ. 4.335-6) जिसमें उक्त तीनों (ऋभु, विन्वा और वाज) बारह दिन (द्वादशाह) सोते हैं। इस शयन के परिणाम को सुक्षेत्रों की उत्पत्ति, सिन्धुओं का आगमन और निरुदक प्रदेश (धन्व) में आपः रूप औषधियों के प्रतीकों द्वारा संकेतित किया गया है। (ऋ. 4.33.7) अभिप्राय यह है कि समाधि में अर्जित, ब्रह्मानन्दरूप सोम व्युत्थानावस्था में व्यक्तित्व के छः कोशों में द्विविध चेतना - प्रवाह द्वारा विस्तारित होकर द्वादशाह रूप में कल्पित हो जाता है। बहिर्मुखी अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह वाक् (ता.11.10-19.12.5. 13) है और अन्तर्मुखी अनुभूति की दृष्टि से बृहती का यज्ञ (ऐ. 4.24) है। यही ज्येष्ठ यज्ञ (ऐ.4.25) तथा प्रजापति यज्ञ (ऐ.4.25) भी कहलाता है, परन्तु कर्मकाण्ड में इस द्वादशाह नामक आध्यात्मिक यज्ञ का जो प्रतीक रूप निर्धारित किया गया, कालान्तर में वही विशिष्ट हो गया और उसका आध्यात्मिक पक्ष पूर्णतया विस्मृत हो गया।

पाश्चात्य वेदव्याख्या की दृष्टि

इसी प्रकार, द्वादशाह जैसे अन्य कर्मकाण्डगत यज्ञ-रूपों का दार्शनिक पक्ष भी ब्राह्मण-ग्रंथों में संकेतित है, परन्तु अब उसे कर्मकाण्डीय यज्ञ का एक ऐसा अर्थवाद मात्र माना जाता है जिसका कोई भी आध्यात्मिक आधार नहीं। इससे हमारी दोहरी हानि हुई है, प्रथम तो यज्ञ से सम्बन्धित वेद-मन्त्रों का कोई सुसंगत अर्थ नहीं रह गया, द्वितीयतः तत्सम्बन्धी ब्राह्मणवाक्यों को अनर्गल प्रलाप समझ लिया गया। यही कारण है कि कालान्तर में वैदिक धर्म सर्वथा भोगैश्वर्यवादी 'वेदवाद' में परिणत हो गया जिसकी गीता ने निन्दा (2.42-46) की। इसके विपरीत जो दिव्य (15.15) ज्ञानस्वरूप माना गया था, वह सर्वथा विलुप्त हो गया। वेदमन्त्रों की याज्ञिक व्याख्या में उनके वास्तविक अर्थ को गौण कर इस भ्रान्त धारणा का सफल प्रचार किया गया कि भौतिक अग्नि में आहुति देना मात्र ही यज्ञ है और सूर्य, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियाँ ही वे देवता हैं जिनकी उपासना वेद-मन्त्रों और यज्ञकर्म द्वारा अभीष्ट है।

इस मिथ्या धारणा को परमसत्य मानकर पाश्चात्य विद्वानों ने इसका प्रचार किया, क्योंकि इसका साम्य प्राचीन ग्रीस और रोम के निवासियों द्वारा अपनाई गई प्रकृति-पूजा से था। आज भी जंगली जातियों में उसकी मान्यता है। इस दृष्टिकोण को पुष्टि प्रदान की सायणभाष्य ने। इसके आधार पर वे कर्मकाण्ड को ही धर्म मानते थे और वेदमन्त्रों की पृथक् पृथक् व्याख्या के रूप में समझने लगे, जबकि

वैदिक कर्मकाण्ड केवल उस आध्यात्मिक यज्ञ का प्रतीक मात्र है जिसका सम्बन्ध उन दिव्यशक्तियों से है, जो पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त हैं। इन दिव्यशक्तियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति वेदमन्त्रों के रूप में हुई और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों ने इनकी मीमांसा की। अनेक पाश्चात्य विद्वानों को इस कर्मकाण्ड रूप धर्म की चर्चा इसलिये भी रुचिकर लगी, क्योंकि वे इसको आधार मानकर उस हिन्दू धर्म को असम्य एवं गृहित सिद्ध कर सकते थे जो परम्परा से वेदमूलक माना जाता है। मोनियर विलियम्स, मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने भी वेदाध्ययन को पश्चिम के लिये इसी दृष्टि से उपयोगी माना था। इस प्रसंग में सर्वाधिक प्रामाणिक मैकडॉनलकृत "द वैदिक रिलीजन" नामक पुस्तक है, जो सर्वप्रथम 1881 में लन्दन से प्रकाशित हुई थी। इसमें लेखक के उन व्याख्यानों का परिष्कृत रूप प्राप्त है, जो उन्होंने प्रकाशन से पूर्व कलकत्ता में ईसाई मिशनरियों के लिये दिये थे। मैकडॉनल हमारे विश्वविद्यालयों में एक सुप्रतिष्ठाप्राप्त वैदिक विद्वान् के रूप में माने जाते हैं, अतः उनकी इस पुस्तक का किंचित् विवेचन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वेदों के विषय में क्रिश्चियन दृष्टिकोण से लिखित पुस्तकों की चर्चा करते हुए, उक्त पुस्तक के प्राक्कथन में वे कहते हैं कि — "पंडित दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज नामक ईश्वरवादी धर्म के परिप्रेक्ष्य में, वर्तमान में इस प्रकार की चर्चा की विशेष आवश्यकता है। दयानन्द इस समय वेद के विषय में अपने विचित्र दृष्टिकोण का प्रतिपादन कर रहा है जिसके अनुसार चारों वेद ईश्वरीय ग्रन्थ हैं तथा एकेश्वरवादी हैं। रेवरेण्ड डी हट्टन ने मुझे मिर्जापुर से लिखा है— इंडियन क्रिश्चियन हेराल्ड में प्रति सप्ताह आपके जो भाषण प्रकाशित होते हैं उन्हें मैं रुचिपूर्वक पढ़कर लाभान्वित हो रहा हूँ — हमारे मिर्जापुर में एक आर्यसमाज की शाखा है जिसे मैं वैदिक सुधारक, दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित कह सकता हूँ— मुझे ऐसा लगा कि आपके भाषणों के कुछ अंश यदि हिन्दी में रख दिये जायें तो लाभदायक होगा — स्वामी वेद-संहिता को ईश्वरकृत और संनातन मानता है। आपके भाषणों के कुछ सुविचारित संग्रह इस विषय को एक दूसरी दिशा दे देंगे।"

फादर हट्टन की इस प्रार्थना के प्रसंग में मैकडॉनल ने लिखा — "मेरी अपनी धारणा है कि हिन्दुओं में प्रचार करने वाले मिशनरी को हिन्दू धर्म का ज्ञान होना चाहिये — उसकी सहायता के लिये ये पृष्ठ इस आशा से लिखे जा रहे हैं कि ईश्वरीय सत्ता उनका प्रयोग अनीश्वरवादियों के गढ़ों को ध्वस्त करके भारत में अपने राज्य की स्थापना करे।" इस पुस्तक को लिखने में मैकडॉनल का जो उद्देश्य था उसका स्पष्ट ज्ञान होने के पश्चात् "द वैदिक रिलीजन" में वेद और वैदिक धर्म का परिचय जिन शब्दों में कराया गया है उन पर किसी को भी आश्चर्य नहीं होना चाहिये। उसका किंचिद् प्रतिबिम्ब निम्नलिखित उद्धरणों में दृष्टिगत होता है—

1. "किसी विषय की सत्यता का पता लगाने के लिये, विषयताओं के साथ-साथ सादृश्य के बिन्दुओं पर भी विचार करना आवश्यक है। मुझे इस बात का हर्ष है कि मुझे इन प्राचीन वैदिक सूक्तों में ईसाई धर्म के साथ कुछ सादृश्य बताने वाले बिन्दु मिले हैं और इतने कूड़ा-ककट में कुछ 'सत्य के कण' भी दिखाई पड़े हैं, परन्तु मैं इस सत्य पर अपनी आँखों को नहीं बन्द कर सकता कि

वहाँ इतना सड़ा गला कचरा है और बहुत कुछ तो उससे भी बुरा है जिसे विषाक्त घास-फूस अथवा ऐसे बीज कहा जा सकता है, जो शीघ्र ही ऐसी नग्न तथा अपरिहार्य मूर्ति-पूजा में बदल गये, जो दानवी, अनैतिक, मूर्खतापूर्ण एवं नृशंस थी और जिसने अनीश्वरवाद तथा बहुदेववाद को छोड़कर कभी भी कोई अन्य रूप ग्रहण नहीं किया, जबकि दूसरी ओर 'सत्य के कण' थे जो लाखों व्यक्तियों के लिये किसी आध्यात्मिक सत्य के बीज नहीं बन सके। ये कण गेहूँ के उन दानों के समान सिद्ध हुए जो सहस्र वर्षों तक मिस्र के संरक्षित मुर्दों (ममीज़) के साथ व्यर्थ, शुष्क और अनुत्पादक होकर दबे पड़े रहे।" (पृ. 175)

2. ऋग्वेद में जिन मान्यताओं तथा धार्मिक एवं नैतिक व्यवहारों के सर्वेक्षण से यह बात अच्छी तरह से समझ में आ सकती है कि वैदिक धर्म में विश्वास रखने वाला आज का कोई भी समझदार आर्य नहीं हो सकता। (पृ. 155)
3. वेद में मनुष्य की अवधारणा उसके कर्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों की परिकल्पना त्रुटिपूर्ण है। (पृ. 158)
4. वैदिक प्रार्थनाओं (सूक्तों) के रचनाकारों ने किसी दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होने का दावा नहीं किया है। (पृ. 160)
5. जिन चमत्कारों का उल्लेख है वे किसी बात के प्रमाण रूप में नहीं प्रस्तुत किये गये हैं। (पृ. 160)
6. किसी सत्य धर्म का दावा करने की दृष्टि से सर्वाधिक घातक तथ्य ऋग्वेद के विषय में यह है कि वह ऐसा कोई तर्क संगत उपाय नहीं बताता जिससे मनुष्य को पाप से और उसके भयंकर परिणामों से बचाया जा सके। (पृ. 161)
7. ईसाई सदा ही मनुष्य के शरीर का आदर करते आये हैं और वे मृत्यु के बाद भी उसके पुनरुत्थान तथा आध्यात्मिकता में विश्वास रखते हैं; परन्तु आर्यों में ऐसा कोई नहीं मानता, अपितु शरीर के विषय में हीन एवं घृणा युक्त बातें कही जाती हैं। (पृ. 172-173)

वेद में मानव-व्यक्तित्व का भव्यतम रूप

अस्तु, "ईंट का जवाब पत्थर से देना" मानवीय गरिमा और मर्यादा के विरुद्ध है, अतः मैं केवल इन्हीं बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में विद्वानों का ध्यान वेदों में प्राप्त मनुष्य की उस भव्य समग्रता की ओर आकृष्ट करना चाहूँगी जो हमारी संस्कृति का आधार है।

जैसा कि पुस्तक के प्रथम दो अध्यायों में बताया गया है वेद के अनुसार मनुष्यव्यक्तित्व का अन्तस्तम स्तर हिरण्यकोश नामक ज्योति-मण्डित स्वर्ग है जिसमें आत्मा अपने पिता (ब्रह्म) के साथ सायुज्य प्राप्त किये हुए ब्रह्मानन्द में निमग्न है। इस ब्रह्मानन्द को सहस्रधार सोम में परिणत कर नीचे आचरण के स्तर पर लाने का ही नाम है 'स्वर्ग को पृथिवी पर लाना' अथवा जीवन को स्वर्ग बनाना। इसके अभाव में मनुष्य का जीवन न्यूनोन्नति रूप में आधि-ध्याधि और पाप

का घर अथवा नरक कहलाता है। जीवन को नरक बनाने वाला है मनुष्य का वह अहंकार जिसके वशीभूत होकर वह स्वयं को आत्मा न कहकर शरीर मानता है, अतः शरीर—केन्द्रित संकीर्ण स्वार्थ से प्रेरित होकर वह काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर, घृणा और द्वेष रूप में दुरित और अनृत की संहिता बन जाता है।

इस अनृत से मुक्त होने का एकमात्र उपाय वेद के अनुसार यही है कि वह शरीर केन्द्रित अहंकार को छोड़कर अपने उस 'विश्वमानुष' रूप को पहचाने, जो मानव मात्र में भेद नहीं करता और सभी में उस एक ही चेतन—तत्त्व का निवास मानता है जिसके कारण, जन—जन के भीतर इच्छा, ज्ञान और क्रिया की त्रिवृत् शक्ति समान ढंग से कार्य करती है। उचित संयम—साधना द्वारा उसी को एकीभूत तथा ऊर्ध्वमुखी कर पूर्वोक्त ब्रह्मात्म—सायुज्य का साक्षात्कार के उपरान्त ब्रह्मबल रूप सोम की सहायता से, मनुष्यव्यक्तित्व की सुषुप्त अनेक दिव्य शक्तियों के जागरण द्वारा असम्भव को सम्भव बनाने की सामर्थ्य अर्जित की जा सकती है। इन्हीं सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत करने का नाम मनु—यज्ञ है। दूसरे शब्दों में इसे ही 'मनु' होकर दिव्यजन को जन्म देना भी कहा जाता है। तृतीय अध्याय में आत्मा के इसी मनु—रूप से उद्भूत मानवी और मानुषी प्रजाओं का उल्लेख है। इन प्रजाओं का जन्म तभी सम्भव है जब अहंकार—रूप अहि या वृत्र से उन दिव्य शक्तियों को मुक्त कराया जाय, जिन्हें ब्राह्मणग्रन्थ 'प्राणाः वै आपः' कहकर पुकारते हैं। आपः की यह मुक्ति अहंकार के निवारण से ही सम्भव है जिसे काव्यमयी भाषा में, कभी तो वृत्र—वध कहा जाता है, तो कभी वृत्र को मेघ रूप में कल्पित कर उसके भेदन द्वारा सप्तसिंधुओं अथवा आपः का प्रवाहित होना कहा जाता है। उक्त आपः नामक दिव्य प्राण—धाराओं के अवतरण से पूर्व मनुष्य के प्राण अहंकार के वशीभूत होकर 'द्रुह्यवः' आदि आसुरी रूपों में ही जाने जाते हैं, परन्तु उक्त दिव्य—धाराओं के अवतरण से उनका काया पलट हो जाता है। इस प्रकार वे व्यक्तित्व को मानसिक स्तर पर मानुष और अतिमानसिक स्तर पर मानव या दिव्य—जन नाम देकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को दिव्यता प्रदान कर देते हैं। इसी सन्दर्भ में मनुष्यप्राणों के जो विविध रूप होते हैं उनका वर्णन चतुर्थ एवं पञ्चम अध्यायों में है। इस दिव्यता की सृष्टि तभी सम्भव है जब मनुष्य अन्धकार से ऊपर उठकर अतिमानसिक यात्रा करने को तैयार हो। इस यात्रा के साधन को ही वेद में मनुष्य—रथ के रूप में कल्पित किया गया है।

इस ऊर्ध्वमुखी यात्रा का परिणाम वह प्राणसृष्टि है जिसका वर्णन षष्ठ अध्याय में किया गया है। आलंकारिक भाषा में इस सृष्टि का वर्णन अनेक रूपों में प्राप्त होता है। कभी पूर्वोक्त आपः नामक प्राण ही सृष्टिकर्ता कहे जाते हैं और कभी उनके द्वारा आत्मा या मन को सृष्टिकर्ता अथवा प्रजापति माना जाता है। कभी इसी सृष्टि को इन्द्र द्वारा सम्पादित होने वाले वृत्र—वध से सूर्य, उषा और सप्तसिन्धु आदि का जन्म कहा जाता है। इस दिव्यसृष्टि के परिणामस्वरूप अहंकार के वशीभूत हुई जो शक्तियाँ पहले सर्प, पिशाच, असुर आदि कही जाती थीं, उन्हीं के जन्म को अब सर्पवेद, पिशाचवेद और असुरवेद आदि नाम दिये जाते हैं। इस सृष्टि के लिये वेद का सफल उपाय वह जिष्णुयोग है, जो ब्रह्मयोग, क्षत्रयोग, इन्द्रयोग, सोमयोग तथा अप्सुयोग के सहयोग से सम्पन्न होता है।

षड्योग द्वारा ही मनुष्य उस सम्पन्नतम यज्ञ को करने में समर्थ होता है, जो उसके व्यक्तित्व को समग्रता प्रदान करता है।

उक्त योग की आवश्यकता क्यों? इस प्रश्न का उत्तर अष्टम अध्याय में है। मनुष्य का अद्वैत और एकीभूत चेतनायुक्त व्यक्तित्व त्रिवृत् रूप धारण करके ही नहीं रह जाता, अपितु षड्विध होकर नानात्व भी ग्रहण करता है। इसी दृष्टि से षड् द्यावापृथिवी, षड्उर्वी, षड्दिशः, षट्पक्षाः, षड्हम्, षड्ऋचः, षड्रात्र, षड्वृषः, षण्मयूखम्, षडरम् और षड्योग जैसे पारिभाषिक शब्द अस्तित्व में आये। षड्योग को एकात्मता प्रदान करने वाला उक्त जिष्णुयोग था। इस योग का लक्ष्य क्या है? इसका उत्तर नवम अध्याय में शुभम्, नासत्य, समह, परमव्योम आदि की ओर संकेत कर दिया गया है। इस योग द्वारा जिस अद्वैत तत्त्व की अनुभूति होती है उसी में समस्त चेतना धाराओं का विलीनीकरण होता है। वही आनन्द-सिन्धु है। वही सत्यासत्य विलक्षण 'नासत्य' नामक परिव्याप्त पृथिवी (क्षाः) है। उस द्वन्द्वातीत सत्य का श्वः नहीं होता। अतः इसी को 'अश्व' अर्थात् सनातन सत्, चित् और आनन्द कह सकते हैं। इसी के समञ्चन-प्रसारणात्मक द्विविध प्रवाह को अश्विनौ नाम दिया गया। वही अपने 'भिषज्या तनू' के माध्यम से मनुष्यव्यक्तित्व को रोगरहित तथा आनन्द-सम्पन्न कर देता है। यही वेद का सम्पन्नतम यज्ञ है, जो मानव व्यक्तित्व को सम्पूर्णता प्रदान कर भारतीय संस्कृति का मूलाधार बन गया।

मानव व्यक्तित्व की अन्तश्चेतना की वैदिक गवेषणा रूप यह ज्ञानयज्ञ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा द्वारा सहयोग प्रदान करने वाले आदरणीय विद्वानों, स्नेहीबन्धुओं एवं सुहृज्जनों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन रूप आहुति बिना अपूर्ण रहेगा। अस्तु, सर्वप्रथम मैं सर्वशक्तिमान् परमात्मा के प्रति नतमस्तक होती हुई इस ग्रन्थ के प्रेरणास्रोत और मन्त्रों के रहस्य को अपने अन्तश्चक्षुओं से उद्घाटित कर मुझे सहज रूप से सुलभ कराने वाले मेरे पिता वेदर्षि डॉ फतहसिंह जी के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए यही कहूँगी -

ज्ञेया भागं सहसानो वरेण त्वा दूतासो मनुवद्वदेम ।

अनूनमग्निं जुह्वा वचस्या मधुपृचं धनसा जोहवीमि ॥

मेरी शिष्या डा. अरुणा शुक्ला और डा. रेणुका राठौड़ ने ग्रन्थ की प्रूफ रीडिंग कार्य में जो निष्काम सहयोग प्रदान किया वह अविस्मरणीय रहेगा। इन सबके बीच में पतिदेव डा. जसवन्तसिंह जी शेखावत, दोनों पुत्रों सौरभ सिंह, सुपर्णसिंह तथा पुत्रवधुओं और अपनी बिटिया मनस्विनी को कैसे विस्मृत कर सकती हूँ जिन्होंने मुझे समय समय पर गार्हस्थ्य दायित्व से मुक्त कर ग्रन्थ को पूर्ण करने का अवसर प्रदान किया। साथ ही, इसके प्रकाशन के लिए प्रोत्साहित भी किया।

प्रथम अध्याय

षाट्कौशिक व्यक्तित्व

वेदों में मानव व्यक्तित्व के विविध आयामों का चित्रण हुआ है; उदाहरणार्थ, मनु से निष्पन्न मनुष्य, मानुष, विश्वमानुष और मानव शब्द एक ओर, तो आयु से व्युत्पन्न नूतन-आयु, पूर्व-आयु, प्रथम-आयु और विश्वायु जैसे शब्द किसी अन्य दिशा में संकेत करते प्रतीत होते हैं। नृ, नर, विश्वानर और वैश्वानर आदि की शब्द-शृंखला जहाँ 'मनुष्याः वै नराशंसः'¹ का स्मरण करवाते हैं वहीं 'नरो वै देवानां ग्रामः'² की उक्ति 'देवानां पूरयोध्या'³ की ओर इंगित करती हुई हमें, मनुष्यव्यक्तित्व की उस गहराई तक ले जाती है जहाँ ब्रह्मवेत्ताओं का वेद्य "आत्मन्वत् यक्ष" रूप में विराजमान है। इसके अतिरिक्त 'मनुष्याः वै विश्वेदेवाः'⁴ कहकर मनुष्यव्यक्तित्व के जिस पक्ष की ओर संकेत किया जाता है उसी को लक्ष्य करके अन्यत्र 'विश्वेहीदं देवा स्मो यन्मनुष्याः' कहा जाता है। इसके विपरीत शतपथब्राह्मण का आरोप है कि केवल मनुष्य ही प्रजापति की आज्ञा का अतिक्रमण करता है, जबकि देव, पितर और पशु में से कोई भी ऐसा नहीं करता।⁵ इसी आरोप का समर्थन करते हुए ऐतरेयब्राह्मण 'अनृत संहिता वै मनुष्याः'⁷ की घोषणा करता है।

व्यक्तित्व-चित्रण की विचित्र शैली

मनुष्यव्यक्तित्व की उक्त विविधता को चित्रित करने के लिये, वेद ने जिस शैली को अपनाया है वह उन शैलियों से सर्वथा भिन्न है जिनसे हम सामान्यतः परिचित हैं; उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के एक ऐसे सूक्त⁸ को यहाँ प्रस्तुत करते हैं जिसमें मनुष्य-व्यक्तित्व की आद्योपान्त चर्चा हुई है। इस सूक्त में मनुष्य की एडी से लेकर चोटी तक सम्पूर्ण स्थूल-शरीर पर दृष्टिपात करते हुए अनेक जिज्ञासाएँ उपरिथत की गई हैं। सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रों में शरीर के विभिन्न अंगों का उल्लेख करते हुए पुनः प्रश्न किया जाता है कि इन अंगों को किसने बनाया, इनका आधार कौन है? किसने इसकी बाहुओं में बल दिया जिससे यह पौरुष कर सके? कर्मेन्द्रियों के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए ज्ञानेन्द्रियों की ओर भी ध्यान जाता है, तो पुनः प्रश्न उठता है कि शिरोभाग में किसने श्रोत्र, नासिका, चक्षु और मुख रूप ये सप्त छिद्र बनाये जिनकी विजय के माहात्म्य में यह द्विपाद पुरुष चतुष्पाद होकर यम-नियम-संयम के मार्ग पर चलता है।

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षाणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।

येषां पुरुत्रा विजयस्य महानि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ शौ.10.2.6

उपर्युक्त मन्त्र का चतुर्थ-चरण उस समय तक बोधगम्य नहीं हो सकता जब तक हम इसे वैदिक दृष्टि से न देखें। दो पैरों वाले मनुष्य की चतुष्पाद होकर चलने की बात तभी समझी जा सकती है जब हम उक्त ज्ञानेन्द्रियों की बहुमुख विजयमहिमा को-⁹ CC-0. Sri Gopinath Kulkarni, Delhi. Digitized by eGangotri. In Public Domain. दृष्टिमानुष्य के माहात्म्य को हृदयंगम करने के लिये "यामम्"⁹ पद पर विचार करना होगा जो 'यम' धातु से निष्पन्न होने के कारण

यम-नियम-संयम के योगमार्ग का सूचक है। दूसरे शब्दों में, यहाँ ऋषि यह संकेत दे रहा है कि ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ही सामान्यतः अन्नमय और प्राणमय कोशों पर आरुढ़ द्विपाद मनोमयपुरुष यम-नियम-संयम के मार्ग पर चलकर उस आनन्दमय पुरुष का रूप धारण कर लेता है जो विज्ञानमय से लेकर अन्नमय तक के चारों कोशों¹⁰ पर आरुढ़ होने से चतुष्पाद पुरुष कहलाता है। जबड़ों के मध्य स्थित बहुत चलने वाली जिह्वा और उसमें आश्रित 'महीवाक्' को स्मरण करके उसके विधाता के विषय में ऋषि कहता¹¹ है, "सब प्रकार के कर्मों को प्रकाशित करने वाला वह सभी भुवनों में व्याप्त हो रहा है; उस 'ऊँ'¹² तत् को किसने जाना ?" इसी 'ऊँ तत्' का उल्लेख सूक्त में दो बार अन्यत्र¹³ भी हुआ है और इसी की अभिव्यक्ति निम्नलिखित मन्त्र में 'कतमः स देवः' वाक्य में हुई है:-

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।

चित्वा चित्यं हन्वो पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ शौ.10.2.8

इस मन्त्र में उक्त अज्ञातदेव मस्तिष्क आदि का निर्माण करके और दोनों जबड़ों के बीच 'चित्यम्' (वाचम्) का चयन करके द्यौ पर आरुढ़ कहा गया है। यहाँ पूर्वोक्त जबड़ों के मध्य जिह्वाश्रित 'वाक्' के स्थान पर 'चिति संज्ञाने' से निष्पन्न 'चित्यं' पद का प्रयोग करके इंगित किया गया है कि 'चित्यम्' से यहाँ पूर्ववर्ती वैखरी वाक् के स्थान पर उसके 'संज्ञानमय' आन्तरिक रूप से अभिप्राय है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत प्रसंग में 'जबड़ों' को भी मस्तिष्क के वाम तथा दक्षिण कपालों के रूप में लेना होगा, क्योंकि संज्ञानमयी वाक् का सम्बन्ध इन्हीं दो से हो सकता है। यह अर्थ करने पर ही सूक्त की मन्त्र संख्या 7 और 8 में प्रयुक्त हन्वोः (जबड़ों) शब्द को पुनरुक्ति दोष से बचाया जा सकता है। इसके साथ ही अगले दो मन्त्रों में प्राप्त प्रिय-अप्रिय, स्वप्न, आनन्द आदि मनोवैज्ञानिक सृष्टि के उल्लेख के साथ इस 'चित्यम्' की संगति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार, एक 'हन्वोः' शब्द को दो भिन्न अर्थ देकर और उससे सम्बन्धित 'शक्ति' के लिये दो भिन्न शब्दों के प्रयोग द्वारा शैली की विचित्रता प्रकट होती है।

प्रतीकवादी शैली में आपः

वेदों में प्रतीकवाद का बहुत प्रयोग हुआ है, परन्तु परवर्तीकाल में वही सर्वाधिक उपेक्षित हुआ है; उदाहरण के लिये आलोच्यसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र में प्रयुक्त आपः को लेते हैं:-

कोऽस्मिन्नापो व्यदधाद् निषुवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः !

तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अर्वाचीः पुरुषे तिरश्चीः !!

शौ.10.2.11

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि मनुष्य-व्यक्तित्व में आपः को किसने विभिन्न प्रकार से स्वीकार किया है? आपः व्यापक शैली तथा अर्वाची रूप ग्रहण करने वाले (पुरुवृतः) हैं, परन्तु वे 'सिन्धुसृत्य' के लिये हो गये (जाताः), यह कथन मन्त्र

के पूर्वार्ध में है। उत्तरार्ध में कहा गया है कि वे आपः तीव्र गति वाले हैं; वे विभिन्न वर्णों वाले हैं और वे ऊर्ध्व, अर्वाक, तथा तिरश्चीन गति करने वाले हैं। इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं— सिंधु (समुद्र) की ओर प्रवाहित होना अथवा सिंधु से प्रवाहित होना। स्पष्ट है कि इस प्रसंग में सिन्धु का अर्थ भौतिक समुद्र नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पूर्ण सूक्त में मनुष्य-व्यक्तित्व का ही वर्णन है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में¹⁴, आपः शब्द प्राणवाचक है। इसी सूक्त के तेरहवें मन्त्र में भी प्राण, अपान, व्यान और समान का उल्लेख है। वेद में प्राण एक शक्ति का नाम है जो पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विभिन्न रूप ग्रहण करती है। मनुष्य के भीतर इस शक्ति का जो स्रोत है उससे प्राण प्रवाहित हैं और पुनः उसी में संचरण करते हैं इस दृष्टि से इसी स्रोत को सिन्धु कहा जा सकता है जहाँ से प्राण रूप आपः का आवागमन होता रहता है।

आपः शब्द की इस व्याख्या के आधार पर ही ग्यारहवें मन्त्र से आगे के वर्णन में संगति सिद्ध हो सकती है। बारहवें मन्त्र में यही प्राण 'नामरूप' और सामर्थ्य (महान्) के साथ 'गातु', केतु और 'चरित्राणि' के स्थापक के रूप में वर्णित हैं। चौदहवें मन्त्र में उसी प्राणरूप आपः को मनुष्य के भीतर यज्ञ रखने वाला कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ वेदि में समिद्ध अग्नि में हवि प्रदान द्वारा सम्पादित होने वाला यज्ञ अभिप्रेत नहीं है। तैत्तिरीयारण्यक¹⁵ में एक आध्यात्मिकयज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता में जिन अनेक यज्ञों का उल्लेख है उनमें प्राणापान से सम्बन्धित यज्ञ¹⁶ भी सम्मिलित है। वहाँ 'योगयज्ञः'¹⁷ संज्ञा भी प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में 'प्राणो वै होता' की उक्ति भी प्रचलित¹⁸ है। प्राणरूप होता द्वारा सम्पन्न होने वाले आध्यात्मिक यज्ञों की उपलब्धियों की ओर पूर्वोक्त गातु¹⁹ केतु²⁰ तथा चरित्राणि²¹ शब्द भी संकेत करते हैं। प्राणरूप आपः आत्मप्रसार द्वारा मनुष्यव्यक्तित्व के भीतर विभिन्न चेतना स्तरों (मन, विज्ञान, आनन्दादि) को परिधान देता है (वासः परिदधाति) और यही आयु, बल तथा वेग का कारण है, जिसके लिये प्रश्न किया है—

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।

बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयत् जयम् ॥ शौ.10.2.15

उपर्युक्त चेतना-स्तरों में से ज्ञानात्मक स्तर की ओर संकेत करने के लिये अहः (दिन) उषा तथा सायंभव जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है और भावात्मक चेतना-स्तर के द्योतक वे व्यापार हैं, जो संतानोत्पत्ति मेघा-प्रसार, वाणी तथा नृत्य जैसी अभिव्यक्तियों को जन्म देते हैं।²² इसी प्रकार क्रियापरक चेतना-स्तर की दृष्टि से भूमि, द्यौ, पर्वत तथा कर्म जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया गया है, जबकि ज्ञान, भावना और क्रिया के परे अतिमानसिक परावाक् को लक्ष्य करके पर्जन्य, सोमविचक्षण, यज्ञ, श्रद्धा तथा 'निहितं मनः' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है—

केन इमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवदिदवम् ।

केनाभि महना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ शौ.10.2.18

केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः ॥ शौ.10.2.19

CC-0. In the Public Domain.

चेतना का द्वैत और अद्वैत

उक्त मन्त्रद्वय में जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे प्राण के उस स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं, जो अतिमानसिक स्तर तक पहुँचे हुए 'निहित मनः' से युक्त हैं। वे प्राण ही मनुष्य के कर्म को श्रेष्ठतम²³ रूप प्रदान करके उसे यज्ञ बनाते हैं। वे ही श्रद्धा जैसी उदात्तशक्ति को जन्म देते हैं अथवा आनन्ददृष्टि करने वाले 'पर्जन्य' और दिव्य दृष्टि देने वाले 'सोम विचक्षण' नामक तत्त्व को अस्तित्व में लाने में सहायक होते हैं। इसी 'निहित मनः' से मनुष्य में वह प्राणशक्ति उत्पन्न होती है जिसके द्वारा उड़ते हुए पर्वतों²⁴ (अतिमानसिक शक्तियों) को अभिभूत करके (पंख काट कर) उन्हें आचरण के स्तर पर उतार कर कर्म किये जाते हैं। यही अति-मानसिक प्राणशक्ति उस द्विविध चेतना-प्रवाह में प्रयुक्त होती है जिसे भूमि और द्यौ का युग्म कहा जाता है और जिसके लिये 'द्यावाभूमी' समस्त पद का भी प्रयोग हुआ है।²⁵

यह चेतनायुग्म द्यौ रूप में द्युति विकीर्ण करने वाला है, जबकि भूमि रूप में 'भू' धातु से निष्पन्न 'भवनम्' (परिवर्तनशील) या भाव-सत्ता²⁶ का द्योतक है। अथर्ववेद इस युग्म के उस अद्वैत स्रोत को भी जानता है और उससे प्रारम्भ होने वाले पृथिवी नामक उस चेतना-प्रवाह का भी ज्ञाता है जिसके हृदय को सत्यावृत-अमृत कहा गया है तथा जो उत्तम राष्ट्र को तेज तथा बल प्रदान करने वाली है—

यार्णवेऽधि सलिलमग्रासीत् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।

यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥

शौ.12.1.8

उत्तम राष्ट्र को तेज और बल प्रदान करने की सामर्थ्य रखने वाली भूमि का परमव्योम में स्थित उक्त 'सलिल' नामक अद्वैत रूप ही अखण्डता बोधक 'अदिति' नाम ग्रहण करता है। यह वह चेतना है जिस तक विशिष्ट शक्ति (मायाभिः) से युक्त मनीषियों की ही पहुँच होती है। यही अपने विस्तारक रूप में पृथिवी (प्रथनशील) नाम से भी अभिहित होती है जिसका सत्यावृत अमृत हृदय परमव्योम में स्थित रहता है। अपने मूल अद्वैत रूप में यह देशकाल से परे 'अर्णव' में स्थित मानी गई है। इस प्रकार इस अखण्ड चेतना के दो रूप हैं— एक²⁷ में वह 'इदं सर्व' के नानात्व का 'अदन' करने वाली अदिति होकर नानात्व को स्वकेन्द्रित कर लेती है और दूसरे²⁸ में वह सम्पूर्ण अनेकत्व को पुनः प्रसार देने वाली है। अतः प्रथम रूप में अदिति शब्द को 'अद्' धातु से निष्पन्न किया जाता है, जबकि द्वितीय रूप में 'दो' अवखण्डने धातु से व्युत्पन्न किया गया है। अपने इस द्विविध व्यापार के परिप्रेक्ष्य में, अदिति को 'उभयतःशीर्ष्णी वाक्' भी कहा²⁹ गया है। यही उभयतः शीर्ष्णी वाक् द्यावापृथिवी अथवा द्यावाक्षामा नामक युग्मों के रूप में कल्पित हुई है।

द्यावाभूमी से द्यावापृथिवी

उपर्युक्त मन्त्र में इस युग्म के भूमि तत्त्व का उसके देशकालातीत स्वरूप की दृष्टि से 'सलिलम्' नाम दिया गया है। भूमि का यह स्तर मनुष्य के अतिमानसिक जगत् का सर्वोच्च स्थान है। यही निम्न-स्तरों की ओर प्रथन करके पृथिवी कहलाती है। इसी को परमव्योम में स्थित पृथिवी का सत्यावृत-अमृतहृदय भी कहा गया है। यही हमारे मनोमय, प्राणमय और अन्नमय स्तरों पर आकर आचरण रूप में प्रकट होती हुई उत्तम राष्ट्रीय जीवन को तेज और बल प्रदान करने वाली मानी गई है। इस प्रसंग में सलिलावस्था ही द्यावाभूमी के द्यौ तत्त्व की दृष्टि से 'परमव्योम' कही गयी है। वस्तुतः परमव्योम तथा सलिल नाम से द्यावाभूमी नामक चेतनायुग्म का अदितिसंज्ञक अखण्ड और अद्वैत स्वरूप ही अभिप्रेत है जो द्वैत रूप ग्रहण करके द्यावाभूमी कहलाती है और निम्नतर स्तरों पर इसी को द्यावापृथिवी के युगल रूप में देवों के जन्मदाता माता-पिता के रूप में स्वीकार किया³⁰ जाता है। सलिलम् को आपः नामक उन दिव्य प्राणों का स्रोत भी माना जाता है³¹ जिन्हें देवपत्नियाँ अथवा देवों का प्रियधाम कहकर देवत्व प्रदान किया गया है।³²

देवपत्नियों का देव

आपः को देवपत्नियाँ कहने का तात्पर्य है कि आपः नामक प्राणशक्तियों का कोई शक्तिमान् (देव) भी है। आपः शब्द वेद में सर्वत्र बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। वह एकीभूत अव्याकृत प्राणशक्ति (सलिलम्) के उस व्याकृत रूप का द्योतक है जो नानात्व की सृष्टि करता है।³³ अतः वैदिक आपः की तुलना³⁴ सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से की जा सकती है। 'सलिलम्' प्रकृति³⁵ की साम्यावस्था है जिसमें त्रिगुणातीत नित्यसत्त्व की स्थिति रहती है, जबकि 'आपः' प्रकृति की वह अवस्था है जिसमें सत्त्व, रजः तथा तमः नामक गुणों का नानात्व सदा विद्यमान रहता है। आपः शब्द का बहुवचनान्त रूप इसी नानात्व का सूचक है। साथ ही, आपः पद शक्ति पद के समान ही स्त्रीलिंग है और उसका शक्तिमान् देव पुल्लिंग है। इसी दृष्टि से आपः देवपत्नियाँ (स्त्रियाँ) हैं। विस्तारार्थक 'स्तृ' धातु से निष्पन्न स्त्रीलिंग को धारण करने वाली आपः नामक नानात्वमयी प्राणशक्ति अपने शक्तिमान् देव का विस्तार करने वाली है। अतः आपः का विस्तारपरक स्त्रीत्व सार्थक है और उतनी ही सुसंगत है आपः की पूर्वाक्त सृष्टि विस्तार की कल्पना।³⁶

सलिलावस्था में, शक्ति (आपः) और शक्तिमान् देव की एकात्मकता है, स्त्री-पुरुष का तादात्म्य है। आपः होकर वह देव ही नानात्व-सृष्टि रूप में अपने परम स्थान से वर्षण करता है; अतः उसका नाम परमेष्ठी है।³⁷ अथर्ववेद के आलोच्य सूक्त के अनुसार, मनुष्य के भीतर यह परमेष्ठी विद्यमान है और उसकी प्राप्ति सम्भव है, परन्तु इससे पूर्व श्रोत्रिय को प्राप्त करना होगा। अतः प्रश्न है कि वहाँ तक कैसे पहुँचा जाता है - "केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेन परमेष्ठिनम्" (शौ.10.2.20) यहाँ परमेष्ठी से पूर्व श्रोत्रिय शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। परमेष्ठी को ब्रह्माण्डीय सत्ता भी माना जा सकता है, परन्तु श्रोत्रिय

मनुष्यव्यक्तित्व की ही वह सत्ता है जिसका श्रुति अथवा मन्त्रश्रुत्यम्³⁸ से सम्बन्ध है। योगशास्त्र की परम्परा में इसी को अनाहत-नाद का श्रवण कहा जाता है। यही ऋग्वेद का वह वर्षणशील रयि है जो ऋषिगम्य होने के कारण 'श्रुतऋषिम्'³⁹ भी कहा जाता है। वर्षणशील रयि की कल्पना पुनः उसी आपः शब्द की ओर संकेत करती है जो स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। इसी ओर इंगित करते हुए काठकसंहिता श्रोत्रिय को 'स्त्रीकामतमः'⁴⁰ कहती है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रोत्रिय हमारे उस आध्यात्मिक स्तर का नाम है जिसमें दिव्य-आपः रूपिणी स्त्रियों की सर्वाधिक कामना होती है। साधक अपने आचरण के स्तर तक उन दिव्यशक्तियों का अवतरण करने के लिये उत्सुक रहता है; अतः वेद उक्त प्रश्न के उत्तर में ब्रह्म को ही श्रोत्रिय अथवा परमेष्ठी की प्राप्ति में साधनभूत मानता है।⁴¹

दूसरे शब्दों में, मनुष्यव्यक्तित्व के पुरुष को ब्रह्म न केवल श्रोत्रिय और परमेष्ठी रूप में प्राप्त होता है, अपितु अग्नि तथा संवत्सर रूप में भी पुरुष इसी ब्रह्म का निर्माण करता है—'ब्रह्मममेगिं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे' (शौ.10.2.21) इस निर्माण प्रक्रिया को बताते हुए कहा गया है कि मनुष्यव्यक्तित्व में निवास करने वाले देवों और दैवजनीविशः में ब्रह्म का वास हो जाता है। यही ब्रह्म 'नक्षत्र' तथा 'क्षत्र' नामक दो परस्पर विरोधी तत्त्वों के रूप में आविर्भूत होता है। नक्षत्र को असत् नामक सततगतिशील-सत्ता⁴² कह सकते हैं, जबकि क्षत्र को सत् कहा गया है—

ब्रह्म देवां अनु-क्षियति, ब्रह्म दैवजनीर्विशः।

ब्रह्मेदं अन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते ॥ शौ.10.2.23

इन्हीं सत् और असत् अथवा क्षत्र और नक्षत्र की सहायता से पूर्वोक्त धावाभूमी के युगल की उत्पत्ति के साथ ही ऊर्ध्व, तिर्यङ्, अथवा अव्यक्त और व्यक्त रूप में अन्तरिक्ष की भी सृष्टि होती है।⁴³

यहाँ जिस अन्तरिक्ष का उल्लेख हुआ है वह वस्तुतः ब्रह्म का ही ऊर्ध्ववर्ती, तिर्यक्, अव्यक्त और व्यक्त रूप है— ब्रह्ममेदमन्तरिक्षम् ऊर्ध्वं तिर्यक् व्यचो हितम्। अतः जैमिनीय उपनिषद् के इस कथन के अनुसार ब्रह्म ही अन्तरिक्ष⁴⁴ है। इसका अर्थ यह हुआ कि वेद में वर्णित अन्तरिक्ष बाह्यजगत् में पृथिवी एवं आकाश के मध्य-स्थित अवकाश मात्र नहीं हो सकता। वेद का अन्तरिक्ष वह ऊर्ध्व है जिसमें आकाश और पृथिवी को दो स्तनों के रूप में कल्पित⁴⁵ किया जाता है। इस प्रकार मूँमि और द्यौ को अन्तरिक्ष का अंगभूत मानकर इस द्विविध चेतनायुग्म द्वारा क्रमशः जिन देवों और प्रजाओं को दूध पिलाने का कथन⁴⁶ है उनसे पूर्वोक्त देव और देवजनीविशः अभिप्रेत हो सकते हैं जिन्हें मनुष्यव्यक्तित्व की विविध प्राणशक्तियों के रूप में माना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उदता है कि क्या यह ब्रह्म ही वह देव है जो पूर्वोक्त देवपत्नियों (आपः) का देव पीत है ? अपनी शैली की विलक्षणता के अनुसार, वेद

इस प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर कुछ घटनाक्रम प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा प्रश्न का उत्तर ध्वनित हो रहा है। वह घटनाक्रम इस प्रकार है, "अथर्वा ने मनुष्य के मूर्धा-तत्त्व (ज्ञान पक्ष), हृदय तत्त्व (भावपक्ष) को परस्पर अनुस्यूत किया। ऊर्ध्व पवमान ने शीर्षस्थान से इस कार्य को प्रेरित किया। यही अथर्वा का शिर देवकोश है; मन, प्राण और अन्न इसकी रक्षा करते हैं। निस्संदेह ऊर्ध्वगामी सृष्टि और तिर्यक् सृष्टि के रूप में पुरुष सभी दिशाओं में चारों ओर फैल गया जो ब्रह्म के उस पुर को जानता है जिसका वह (ब्रह्म) पुरुष कहलाता है"।⁴⁷ इस विवरण में ब्रह्म को पुरुष कहा गया है, क्योंकि उसका एक पुर है। इस ब्रह्मपुर के पुरुष के अतिरिक्त एक अन्य पुरुष का भी उल्लेख है जो ब्रह्म तथा ब्रह्मपुर को जानने वाला है। संकेत यह है कि ज्ञाता पुरुष तो आत्मा है जो मनुष्य-देह में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और दूसरा उसके द्वारा ज्ञेय ब्रह्म पुरुष है। आत्मा से सम्बद्ध यह ब्रह्म ही उपनिषदों में 'आत्मन्वी ब्रह्म'⁴⁸ कहा गया है और इस ब्रह्म को अथर्ववेद 'आत्मन्वत् यक्ष' कहकर ब्रह्मवेत्ताओं का वेद्य ब्रह्म कहता है।⁴⁹

अथर्वा और आपः

उक्त दो पुरुषों के विवरण के साथ जिस अथर्वा का उल्लेख है वह एक ज्योति है जिसका स्थान 'आप' नामक प्राण कहे जाते हैं।⁵⁰ 'अथ + अर्वाक' से निष्पन्न अथर्वा संज्ञा वाले इस तत्त्व को गोपथ ब्राह्मण आपः में अन्वेषणीय बताता⁵¹ है। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में अथर्वा को प्रजापति⁵² कहकर यह इंगित कर दिया गया कि अथर्वा वस्तुतः ब्रह्म का ही वह रूप है जो पूर्वोक्त आपः नामक प्राणशक्ति का शक्तिमान् होने से उस (आपःशक्ति) से अविनाभाव सम्बन्ध रखने के कारण उसी में प्राप्य हो सकता है। अतः अथर्वा रूप में ब्रह्म ही वह देव सिद्ध होता है जिसकी देवपत्नियों के रूप में आपः को पहले प्रस्तुत किया गया था। जैसा कि पहले कहा गया इस अथर्वा ने मनुष्यव्यक्तित्व के मस्तिष्क स्तर पर उसके ज्ञान पक्ष (मूर्धा) तथा भावपक्ष (हृदय) को परस्पर अनुस्यूत कर रखा है, जबकि पवमान उसे शीर्षस्थान से प्रेरित करता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में भी पवमान को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि "तेरे 'मधु' के साथ अथर्वाणः (अथर्वा के रूपान्तर) 'पयः' को एकीभूत⁵³ कर रहे हैं।" यहाँ मधु⁵⁴ से पवमान सोम का आनन्द (भावपक्ष) अभिप्रेत है, जबकि 'पयः'⁵⁵ ज्ञानपक्ष का द्योतक हो सकता है।

वस्तुतः पयः, मधु आदि प्रतीकों द्वारा मनुष्य-व्यक्तित्व के उन तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है जिनको आपः नामक प्राण-शक्ति का रूपान्तर माना जा सकता है। इसीलिये जहाँ 'आपो हि पयः'⁵⁶ की उक्ति प्रचलित हुई वहीं 'मधुश्च्युतः आपः'⁵⁷ की कल्पना भी की गई। हिरण्यवर्ण आपः में इन्द्र और अग्नि का भी आविर्भाव माना जाता है।⁵⁸ आपः को सौम्याः⁵⁹ कहा जाता है और आपः को ही सोम का लोक।⁶⁰ अतः मनुष्य-व्यक्तित्व के जिस स्तर को वेद में हिरण्यकोश कहा गया है उसका सम्बन्ध आपः के ही उस रूपान्तर से माना जा सकता है जिसको हिरण्यसोम⁶¹ के रूप में कल्पित किया गया है। हिरण्यकोश को मनुष्य-व्यक्तित्व का वह स्तर माना गया है जिसमें आत्मा से युक्त ब्रह्म विराजमान है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्रयरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वतद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ शौ.10.2.32

हिरण्ययकोश में तीन अरों और तीन प्रतिष्ठाओं की जो कल्पना की गई है उसके अनुसार इस कोश का जो चित्र हमारे मानस-पटल पर उमरता है उसको ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द को तीन अरों के रूप में और उसकी शक्ति (प्रकृति) के सत्त्व, रजस्, तमस् को तीन प्रतिष्ठाओं के रूप में अंकित किया जा सकता है, क्योंकि शक्तिमान् के उक्त तीनों पक्ष उसकी शक्ति के तीनों गुणों का आश्रय लेकर ही इस स्तर पर स्थित होते हैं। यह हिरण्ययकोश एक ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग माना गया है जो मनुष्य देहरूपी अयोध्यापुरी में निहित है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययःकोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ शौ.10.2.31

इस मन्त्र में अयोध्यापुरी के लिये अष्टाचक्रा विशेषण प्राण के उस स्वरूप का स्मरण करवाता है जिसका 'अष्टाचक्रं एकनेमि सहस्राक्षरम्'⁶² कहा गया है। प्राण के इन आठ चक्रों से मनुष्य शरीर के वे केन्द्र अभिप्रेत हो सकते हैं जहाँ से प्राण सम्पूर्ण शरीर में विविध रूपों में सक्रिय हो रहा है। वेद में वर्णित इन अष्टचक्रों को भिन्न भिन्न न समझा जाय, इसी दृष्टि से वहाँ एकनेमि विशेषण का भी प्रयोग हुआ है। योग की दृष्टि से इन केन्द्रों को मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, ललना, आज्ञा और सहस्रार नामक चक्र कहा गया है। इनसे प्रसृत होने वाले विविध प्रकार के प्राण ही चक्षु श्रोत्रादि अंगों में वे देव हो सकते हैं जिनके सन्दर्भ से अयोध्यापुरी को 'देवानां पूः' कहा गया है। इसी पुरी के ज्योतिर्मण्डित हिरण्ययकोश का सूक्ष्मतर स्तर वहाँ अपराजिता हिरण्ययी पुरी के रूप में वर्णित है, जो तेज से जाज्वल्यमान (प्रभाजमाना) है और जहाँ ब्रह्म सर्वत्रव्याप्त है।⁶³

प्रभाजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्!
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् !! शौ. 10.2.33

हरिणी अथवा अपराजितापुरी
(ज्योति और आनन्द की स्थिति)

ब्रह्म की अपराजितापुरी के लिये सोम वाचक हरि शब्द से निष्पन्न उक्त 'हरिणी' विशेषण का प्रयोग विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। वेद में जहाँ हरि शब्द सोम⁶⁴ के लिये प्रयुक्त हुआ है वहीं इन्द्र के हरियों की भी चर्चा है। प्रायः वे द्विवचनान्त (हरी) रूप में अभिहित हुए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में उनका समीकरण मनुष्यव्यक्तित्व के पूर्व और अपरपक्ष,⁶⁵ ऋक् और साम,⁶⁶ द्यौ और पृथिवी,⁶⁷ अहोरात्र⁶⁸ अथवा दर्श और पूर्णमास⁶⁹ नामक युग्मों के साथ किया जाता है। कहीं कहीं इन्द्र के दो से अधिक हरयः का उल्लेख भी हुआ है। इन्द्र सैकड़ों और सहस्रों 'हरयः' से युक्त कहा⁷⁰ गया है। इन्हीं हरयः का केन्द्रीभूत रूप हरिः (एक वचन) है, जबकि इन सबकी समष्टि का लक्ष्यार्थी तथा अयोध्यापुरी में निहित हिरण्ययकोश 'हरी' नामक अश्वद्वय के रूप में कल्पित हुआ है।

हरि शब्द पर आश्रित इसी प्रकार के वैविध्य का विचित्र वर्णन उस 'हरिस्तुति' में प्राप्त है, जो ऋ.10.96 में सर्वत्र अनेक रूपों में वर्णित है। सूक्त का प्रारम्भ हरियों द्वारा सेवित एक 'चारु घृतम्' से होता है जिसे द्वितीय मन्त्र में 'हरि योनिम्' कहा गया है। इसे हरियों द्वारा पूरित किया जाता है और इस प्रकार उपलब्ध 'हरिवन्तं शूषम्' की अर्चना इन्द्र के निमित्त होती है। इस हरि के कारण ही इन्द्र का वज्र 'हरित' और 'हरिर्निकामः' है जिसका निर्माण हरित अश्व 'हरिमन्युसायक' इन्द्र के भीतर करते हैं (मं 3)। इन्द्र 'हरिशिप्र' है जो अहि का वध करता है और सहस्रतेजधारी होकर 'हरि' का भरण करने वाला कहलाता है (मं.4)। इन्द्र के रथ से युक्त होने वाले हरिद्वय के साथ ही उन 'सोमाः हरयः' का भी उल्लेख है जो इन्द्र के लिये 'पुरुणि सवनानि' का विधान करते हैं (मं 6)। इस हरि के सम्बन्ध से ही सूक्त में हरिश्मशारुः, हरिकेशः, हरिवः, हर्यश्वः, हरिशिप्रः तथा हरिपा आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग इन्द्र के लिये हुआ है जिसके हरिद्वय आन्तरिक दुरितों (विश्वा दुरिता) से पार ले जाने वाले कहे गये हैं (मं. 8)।

'हरी' शब्द द्वारा संकेतित आनन्दसोम के प्रवाह-युग्म को उन दो हरिणियों के रूप में कल्पित किया गया है जो सुवा के समान इतस्ततः गति करती हैं और बल के लिये (वाजाय) दोलन करती हैं (मं. 9)। इस द्विविध हरिणी⁷¹ का अद्वैत रूप ही वह 'हरिणी' पुरी हो सकती है जिसे पहले प्रभ्राजमाना हिरण्ययी तथा अपराजिता विशेषणों से मण्डित किया गया है। यही वह 'सवनं केवलम्' है जो 'हरिवः' इन्द्र के लिये तैयार किया जाता है और जिनमें इन्द्र 'मधुमान् सोम' को पीकर मस्त हो जाता है (मं. 13)। दूसरे शब्दों में, 'हरिणी' (हरिः नीयते यत्र) पुरी उस हिरण्ययोकीशीय ब्रह्मात्म-सायुज्य का बोधक हो सकती है जहाँ ऊर्ध्वगामी और अधोगामी चेतनाप्रवाह समाप्त होकर उस अद्वैत चेतना-सिन्धु को जन्म देते हैं जिसे ऊपर 'हरिं योनिम्' कहा गया है और जहाँ निम्नस्तरीय हरयः या सोमाः का नानात्व समाप्त होकर 'पुरुणि सवनानि' के नानात्व को, इन्द्र के लिये होने वाले 'सवनं केवलम्' में परिणत कर देते हैं।

इस प्रकार हरिस्तुति सूक्त⁷² में हरि शब्द को आधार बनाकर जिन अनेक शब्दों का निर्माण किया गया है उन्हीं के साथ 'हर्य' धातु भी है जिसे धातुपाठ⁷³ में गति और कान्ति (इच्छा) का द्योतक माना गया है। सूक्त में इसी धातु से निष्पन्न हर्यत, हर्यतम्, हर्यतः, हर्यते, हर्यता (हर्यतौ) आदि कई रूप प्रयुक्त हुए हैं। यह 'हर्य' धातु हरिशब्द से निष्पन्न नामधातु मानी जा सकती है जिसका मूलार्थ हरि के योग्य होने की कामना हो सकता है। इस प्रकार जब सोम को 'हर्यतं मदम्' कहा जाता है तो उससे हमारा वह काम (प्रेम) अभिप्रेत हो सकता है, जो हरि नामक आनन्दतत्त्व की प्राप्ति के लिये समर्थ माना जा सके। ऐसे ही काम को गीता में "धर्माविरुद्धकाम"⁷⁴ कहकर और भगवत्स्वरूप मानकर हरिभक्ति का समानार्थक बना दिया है। इस दृष्टि से "पुरुणि अस्मै सवनानि हर्यते" कहकर इन्द्र को जिन अनेक सवनों का प्रेमी बताया गया है उन्हें भगवत् प्रेम की भक्तिरसधाराएँ मानना अधिक उपयुक्त होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि 'हरिस्तुति' के अन्तर्गत स्तुत सोम को ऊपर से बरसने वाली आनन्दरूप 'सोम' नहीं, अपितु भक्त द्वारा भगवान् को अर्पित भक्तिरस मानना चाहिये। अतः जब हरिणी को द्विविध माना जाता है, तो वह

अपने एक रूप में भक्ति-रस को समाधिस्तरीय 'हरि' तक पहुँचाने वाली हरिणी कही जा सकती है तो दूसरे रूप में वह उस 'हरि' से आनन्दरस को नीचे लाने वाली मानी जा सकती है। इसलिये अपने अद्वैत रूप में उक्त हरिणी नामक अपराजितापुरी मनुष्य-व्यक्तित्व का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसमें भक्ति तथा आनन्दरस दोनों सम्मिश्रित होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं तभी हिरण्यकोश को स्वर्ग कहना सार्थक हो जाता है।

षाट्कौशिक व्यक्तित्व

हरिणी, हिरण्ययी अपराजितापुरी अथवा हिरण्यकोश मनुष्यव्यक्तित्व के उन अन्य सभी कोशों के लिये आधारभूत शक्तिस्त्रोत है जिन्हें प्रस्तुत अथर्ववेदीय सूक्त में पवमान, देवकोश, मन, प्राण, तथा अन्न नामों से निर्दिष्ट किया है।⁷⁵ इन पाँचों कोशों की तुलना क्रमशः आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय नामक उन कोशों से की जा सकती है जिनका नामकरण तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित इन्हीं संज्ञाओं वाले पाँच पुरुषों के सन्दर्भ में किया जाता है।

आनन्दमय-कोश

आनन्दमयकोश को जिस आनन्दमय पुरुष का आवास कहा जा सकता है उसका वर्णन तै.उ. में इस प्रकार किया गया⁷⁶ है — "तस्मात् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरात्मा आनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणपक्षः। प्रमोदो उत्तरपक्षः आनन्दात्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।" आनन्दमय पुरुष के इस औपनिषदिक वर्णन में हम उपयुक्त अथर्ववेदीय 'पवमान' को देख सकते हैं जिसका सुविस्तृत वर्णन ऋग्वेद के नवम⁷⁷ मण्डल में सोम-पवमान के रूप में हुआ है। यह वेद में वस्तुतः ब्रह्मसायुज्य से प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द की धारा है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि पवमान सहस्रशाखाओं वाले हरित और जाज्वल्यमान हिरण्यय वनस्पति को मधुमयी धारा से युक्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि पवमान हिरण्यकोश के हिरण्यय तत्त्व को ही आनन्दरूप मधु से सम्पृक्त कर उसका ही सहस्रशाखाओं में वर्षण करता है। इसीलिये अन्यत्र⁷⁸ पवमान सोम को हिरण्ययरूप रत्नधा उत्स से प्रवाहित होने वाला माना गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के उपर्युक्त वर्णन में प्रियम् को आनन्दमयपुरुष का शिर, मोद और प्रमोद को क्रमशः दक्षिण तथा उत्तर पक्ष कहने का अभिप्राय यह है कि इस स्तर पर जहाँ एक ओर शुद्ध-प्रेममय चेतना आचरण की दक्षता में मोद को उत्पन्न कर उसके क्रियात्मक-पक्ष को मोदमय बनाती है वही उस पुरुष के भावात्मक तथा ज्ञानात्मक पक्ष को प्रमोद (उत्कृष्ट मोद) रूप देकर उत्तर-पक्ष की सृष्टि करती है। इस प्रकार बहिर्मुखी मोद और अन्तर्मुखी प्रमोद के रूप में निवास करने वाला शुद्ध द्वन्द्वातीत 'आनन्द' ही इस पुरुष का आत्मा कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि आनन्दमय पुरुष जहाँ साधक के मनोमय से लेकर अन्नमय पक्ष तक के बहिर्मुखी मोद का जन्मदाता है, वहीं मनोमय से लेकर विज्ञानमयकोश के अन्तर्मुखी प्रमोद का भी प्रदाता

है। इन सबकी पृष्ठभूमि में विद्यमान है हिरण्यकोश का ब्रह्म जिसे यहाँ आनन्दमय-कोश का आधार (पुच्छ-प्रतिष्ठा) बताया गया है।

दूसरे शब्दों में, हिरण्यकोश का ब्रह्म ही आनन्दमयकोश का अन्तरात्मा है। यही वह वृत्रहन्तमदेव है जिसकी सहायता से 'ऋतावधः मरुतः' आत्मा रूपी इन्द्रदेव के लिये जागृवि ज्योति को उत्पन्न करते हैं।⁷⁹ यही वह ब्रह्म है जिसकी अर्चना मरुतों द्वारा जब वृहत् इन्द्र के लिये की जाती है, तो वह इन्द्र भी वृत्रहा और शतक्रतु होकर शतपर्वा वज्र से वृत्र का वध करता है। इसके फलस्वरूप 'आपः मातरः' वेग से गतिशील हो जाती हैं और स्वर्ज्योति जीत ली जाती है।⁸⁰ वृत्रहत्या के लिये जब यह 'अपूर्व्य इन्द्र' (ब्रह्म) जन्म लेता है तो पृथिवी का विस्तार हो जाता है और द्यौ का स्तम्भन हो जाता है।⁸¹ 'वृह' धातु से निष्पन्न ब्रह्म का अर्थ है वर्धनशील। अतः ब्रह्मानन्दरूप सोम भी इन्द्र रूप आत्मा के वर्धन का कारण होता है।⁸² स्वयं ब्रह्म के समान ब्रह्मानन्द रस रूप सोम भी आत्मा रूप इन्द्र के लिये वृत्रहन्तमः और ओजोदातमः मद बन जाता है। सोम ही आत्मा रूप वृत्रहन् इन्द्र के लिये जब 'अरं' बनता है तो वह क्रमशः 'स्थिर', 'वीरयु' और 'राध्यमनः' से युक्त हो जाता है।⁸³ यहाँ स्थिर से सत्, वीरयु से चित् और राध्यं मनः से आनन्द संकेतित प्रतीत होता है; क्योंकि ब्रह्म की इस त्रिविध 'राति' से युक्त हो आत्मारूपी इन्द्र भी ब्रह्म के समान तन्द्रयु (शान्ति का इच्छुक) हो जाता है।⁸⁴ इसका कारण यह है कि ब्रह्मसायुज्य प्राप्त कर आत्मा रूप इन्द्र ही ब्रह्म रूप इन्द्र हो जाता है। इसीलिये इन्द्र से युक्त होने, उसको अपना बनाने और स्वयं को उसमें लीन करने की प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है—

त्वया इत् इन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः।

त्वमस्माकं तव स्मसि।।

त्वामिद्धि त्वायवो नुनोनुवतश्चरान्।

सखाय इन्द्र कारवः।। ऋ. 8.92.32—33

यहाँ पर ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त इन्द्ररूप आत्मा को अपना मानने वाले और स्वयं को उसमें मानने वाले जिन त्वायवः (इन्द्रभक्त) कारवः का उल्लेख है वे सम्भवतः आनन्दमयकोश से लेकर अन्नमय कोश तक के विभिन्न पुरुष हैं। इस प्रकार हिरण्यकोश में ब्रह्मसायुज्य प्राप्त आत्मा रूप इन्द्र न केवल आनन्दमय पुरुष का, अपितु उसके अतिरिक्त अन्य सभी पुरुषों का अन्तरात्मा बन जाता है। दूसरे रूप में यह भी कहा जा सकता है कि हिरण्यकोश के ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करने वाला आत्मारूपी इन्द्र ही आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय-कोशों में से प्रत्येक का पुरुष हो रहा है, यद्यपि वे सभी परस्पर भिन्न भी कहे जा सकते हैं, जैसा कि आगे वर्णित है।

विज्ञानमय-कोश

आनन्दमयकोश (पवमान) के पश्चात् अथर्ववेद में जिसे देवकोश अथवा अथर्वा का शिर कहा गया है उसकी तुलना तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित विज्ञानमयपुरुष के परिप्रेक्ष्य में कल्पित कोश से की जा सकती है। तैत्तिरीयोपनिषद् विज्ञानमयपुरुष का वर्णन करते हुए कहता है —

“तस्माद्वा एतस्मात् मनोमयात् अन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धेव शिरः। ऋतं दक्षिणपक्षः। सत्यं उत्तरपक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।”

उपनिषद् में वर्णित विज्ञानमय-पुरुष मनुष्य का वह अतिमानसिक स्तर है जिसके शिर को श्रद्धा कहा गया है। शांखायन⁸⁶-आरण्यक के अनुसार कर्म-संहिता में सत्य का सन्धान करने के लिये प्रज्ञा पूर्व रूप है और श्रद्धा उत्तर रूप। इसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धा एक उत्कृष्टतर प्रज्ञा का नाम है। मनोमयस्तर पर प्रज्ञा तर्क-प्रधान होती है, तो विज्ञानमय स्तर की अतिमानसिक प्रज्ञा मनन-प्रधान होती है। इसीलिये इस स्तर पर आत्मा को 'मनु'-संज्ञा प्राप्त होती है। शतपथब्राह्मण में जिसे 'श्राद्धदेवो वै मनु'⁸⁷ कहकर स्मृत किया जाता है उसी को भागवतपुराण⁸⁸ ने श्रद्धा से दशपुत्र उत्पन्न करने वाला बताया है। दूसरे शब्दों में मनु नामक विज्ञानमयपुरुष की शक्ति ही श्रद्धा है। श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्तित्व का यह स्तर ही वह मनु है जिसे ऋग्वेद⁸⁹ दैव्यजन (आनन्दमय पुरुष) को आविर्भूत करने के योग्य पाता है। अतः विज्ञानमयपुरुष के शिर को श्रद्धा कहने का अभिप्राय यही है कि सभी अतिमानसिक शक्तियों के मूल में श्रद्धा ही है। श्रद्धा के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ऋ. 10.151 की ऋषिका श्रद्धाकामायनी कहती है-

“श्रद्धा से हवि जब हुत होती है, साधक की मूर्धा में श्रद्धा भी तब होती है।
जब उसके अन्तस्तल में, भग-ज्योति व्यक्त हो पाती है।।

दानशील देने के इच्छुक जन को श्रद्धे! प्रियता दो।
यज्ञशील दाताओं में यह कथन हमारा प्रिय कर दो।।

जिस तरह उग्र असुरों में भी देवों ने श्रद्धा उपजाई।
यज्ञशील दाताओं में भी उसी तरह यह सत्य करो।।

प्राणों से रक्षित होकर जो यज्ञशील हो देव बनें।
वे भी श्रद्धा की उपासना सदा हृदय से करते हैं।।

हार्दिक संकल्पयुक्त होकर जो श्रद्धा को अपनाते हैं।
श्रद्धा से आध्यात्मिक धन को वे ही केवल पाते हैं।।

श्रद्धा का आह्वान नित्य प्रति प्रातः हम सब करते हैं।
माध्यन्दिन आह्वान, पुनः सूर्यास्त समय भी करते हैं।।

यही विनय श्रद्धे ! तुमसे,
श्रत् का हम में आधान करो।।”

सूक्त के हिन्दी भाषा-संस्करण से स्पष्ट है कि श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय और मूर्धा दोनों से ही है। इसकी तुलना अथर्ववेद के उस पूर्वोक्त⁸⁹ मन्त्र से

की जा सकती है जिसमें ऊर्ध्व-अथर्वा मूर्धा और हृदय का संसीवन कर मस्तिष्क से दोनों को प्रेरित करता है। यहाँ अभिप्रेत यह है कि श्रद्धा उस अतिमानसिक चेतनतत्त्व की शक्ति है जिसे अथर्ववेद में अथर्वा कहा गया है और जो मनुष्य के मूर्धा तथा हृदय पक्ष का प्रेरक है। इसी श्रद्धाशक्ति द्वारा साधक को ब्रह्मात्म सायुज्य में प्राप्त होने वाले 'महान् (आध्यात्मिक) धन' की उपलब्धि हो सकती है जो कि 'श्रुत्'⁹⁰ है। इससे युक्त करने के लिये सूक्त के उपसंहार में प्रार्थना करते हुए ऋषिका कहती है, "श्रद्धे! श्रद्धापय इह नः।" इसी श्रुत् को ऋ. 2.12.5 में इन्द्र के लिये धारण करने की कामना की गई है।

विज्ञानमयपुरुष का श्रद्धारूपी शिर उसके क्रमशः दक्षिण तथा उत्तरपक्ष पर आधारित रहता है। इनमें से प्रथम को ऋत और द्वितीय को सत्य कहा गया है। जिस श्रुत् के आधार पर श्रद्धा का नामकरण होता है वही विज्ञानमयस्तर पर ऋतम् और सत्यम् के युग्म रूप में सक्रिय होता है। इसी दृष्टि से 'वैदिकदर्शन'¹⁰⁰ में ऋतम् और सत्यम् को क्रमशः भाव और सत्व माना है। 'ऋतम्' मनुष्यव्यक्तित्व में उचित समय पर, उचित प्रकार से, उचित कार्य करने की दक्षता प्रदान करता है। अतः इसे विज्ञानमयपुरुष का दक्षिण पक्ष कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार दक्षता का लक्ष्य है कि साधक न तो स्वयं भ्रष्ट हो और न ही अपने मन को क्षीण होने दे, अपितु अपने आचरण को यज्ञ बनाकर उसे परमेश्वर इन्द्र को समर्पित करता रहे। तभी वह ऋतपा और ऋतेजा होकर आध्यात्मिक परम-धन (रायः) को प्राप्त करने योग्य बन सकेगा।⁹¹ यह परम धन ही वह सत्य है जिसमें ऋत की परिणति को श्रेयस्कर माना जाता है।⁹² परन्तु जब तैत्तिरीयोपनिषद् सत्य को दक्षिण के विपरीत अर्थात् 'उत्तर पक्ष' कहता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वह परम-धन रूप सत्य ऋतम् की पृष्ठभूमि में सदैव विद्यमान रहता है और वह ऋतम् का ही श्रेयस्कर रूप होने के कारण 'उत्तर पक्ष' कहा जा सकता है।

विज्ञानमयपुरुष के आत्मा को 'योग' कहने में अभिप्राय यह है कि अन्नमय से लेकर मनोमय पर्यन्त समस्त नानात्व यहाँ एकीभूत हो जाता है। इसी ओर संकेत करते हुए ऋ. 6.28.1 में इस स्तर की एक गोष्ठ के रूप में कल्पना की है। इसमें मनोवृत्तियों रूपी गायों को एकत्र होने और 'भद्र' सम्पादित करने के लिये आमन्त्रित किया जाता है और साथ ही यह आशा की जाती है कि इस प्रकार भूयोभूयः करने से परमेश्वर इन्द्र अपने भक्त को 'अभिन्न खिल्य' (योग) में स्थान दे देगा।⁹³ ऋत और सत्य से समन्वित इस योग आत्मा की स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है जब हमारा शरीरकेन्द्रित 'अहम्' उलटकर 'महः' हो जाय, ताकि हम शरीर के स्थान पर आनन्दमय आत्मा को ही 'अहम्' समझने लगे। यही 'महः' विज्ञानमयपुरुष का आधार (पुच्छं प्रतिष्ठा) है। इसी परिवर्तन को वेद में अहं रूपी वृत्र का वध अथवा इन्द्रविजय नाम दिया गया है।

मनोमय-कोश

अथर्ववेद में अथर्वा के शिर (देवकोश) की रक्षा करने वाले मन, प्राण और अन्न हैं। इनमें से मन की तुलना तै.उ. के मनोमयपुरुष के परिप्रेक्ष्य में कल्पित कोश से की जा सकती है। यह मनोमयकोश है जिसका वर्णन उपनिषद्⁹⁴ में प्राणमयकोश के अन्तरात्मा के रूप में हुआ है - "तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्

अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋक् दक्षिणपक्षः। सामोत्तरपक्षः। आदेशात्मा। अथर्वाङ्गिरस पुच्छं प्रतिष्ठा।”

उपर्युक्त विवरण में मनोमयपुरुष का शिर ‘यजु’ दक्षिणपक्ष ‘ऋक्’ और उत्तरपक्ष ‘साम’ को बताया है। इसकी पुच्छप्रतिष्ठा अथर्वाङ्गिरस है। निश्चय ही, यहाँ ऋगादि से कोई ग्रन्थ विशेष अथवा ऋषि विशेष अभिप्रेत नहीं हो सकते। वस्तुतः यह मनोमयपुरुष की चतुर्विध चेतनाशक्ति का वर्णन है। शतपथब्राह्मण में सबको जोड़ने वाली शक्ति को यजुः कहा⁹⁵ गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में यही मनोमयपुरुष का शिर है। इस दृष्टि से यहाँ यजु मानसिक क्रिया को सम्पन्न करने वाली उस शक्ति का नाम है जो अपने भीतर मन की अन्य समस्त शक्तियों को समाविष्ट कर कार्यरत होती है। मनोमयपुरुष की सर्वाधिक दक्षता उसके ज्ञानपक्ष में निहित है; अतः जब ऋक् को दक्षिण पक्ष कहा जाता है तो उससे ज्ञानशक्ति ही अभिप्रेत प्रतीत होती है। ज्ञानशक्ति से सूक्ष्मतर एवं महत्त्वपूर्ण इच्छाशक्ति है, जिसके अन्तर्गत भावना शक्ति आती है, क्योंकि यदि यह शक्ति न हो तो ज्ञान और क्रियाशक्ति भी अपना कार्य प्रारम्भ नहीं कर सकती। इसीलिये भावात्मक साम को मनोमयपुरुष का उत्तर (उच्चतर पक्ष) कहा गया है। मनोमयपुरुष के आत्मा को ‘आदेश’ कहने का अभिप्राय यह है कि इसके अन्तरात्मा विज्ञानमय का संकेत उसके लिये आदेश रूप में मान्य होता है। इस पुरुष की पुच्छ प्रतिष्ठा (आधार) अथर्वाङ्गिरस कहा गया है। यह पूर्वोक्त अथर्वा-शिर से किञ्चिद् भिन्न है। अथर्वा-शिर विज्ञानमयपुरुष का वह ‘उत्तर’ भाग है जो अपनी उन्नती शक्ति द्वारा आनन्दमय के ‘महः’ पर प्रतिष्ठित है जबकि अथर्वाङ्गिरस विज्ञानमय का ही वह ‘अवर’ पक्ष है जो अपनी समनी शक्ति से मनोमय के ‘अहं’ का आधार (पुच्छ प्रतिष्ठा) बनता है।

प्राणमय तथा अन्नमय-कोश

उक्त मनोमयकोश को प्राणमय-कोश आवेष्टित किये हुए है। अतः प्राणमय-कोश का अन्तरात्मा मनोमयपुरुष है। तैत्तिरीयोपनिषद् में प्राणमयकोश को अन्नमयकोश के अन्तरात्मा के रूप में वर्णित करते हुए कहा⁹⁶ गया है—“तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविध। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणपक्षः। अपानः उत्तरपक्षः। आकाशात्मा। पृथिवीपुच्छं प्रतिष्ठा।”

इस पुरुष का सर्वश्रेष्ठ अंग प्राण है, जो सामान्यतः पञ्चविध माना गया है। प्राण की पञ्चविधाओं में से इसका जो रूप सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है उसको व्यान कहते हैं। यही अन्नरसमय शरीर के समस्त क्रियाकलाप को दक्षता प्रदान करता है। इसी कारण व्यान को प्राणमयपुरुष का दक्षिण पक्ष माना गया है, लेकिन इसकी दक्षता में निखार लाने के लिये आवश्यक है कि शरीरस्थ प्राणों में जो कलुष या विकार आ गये हैं उनको बहिर्निस्तृत किया जाय अन्यथा दक्षिण पक्ष की दक्षता संकटग्रस्त हो जायेगी। प्राणों के विकार को दूर करने का कार्य जो प्राण करता है उसे अपान कहते हैं। इसका महत्त्व व्यान-प्राण की अपेक्षा अधिक है, अतः उसे प्राणमयपुरुष का उत्तर-पक्ष कहा गया है। इन सभी प्राणों के लिये शरीर

के भीतर जो अवकाश है वही प्राणमयपुरुष का 'आकाश' नामक आत्मा है। पृथिवी को इस पुरुष की पुच्छ-प्रतिष्ठा कहने का अभिप्राय मनोमयकोश के उस प्रथमशील पक्ष से है जो प्राण और अन्नमय कोश की ओर विस्तृत होने लगता है।

प्राणमयकोश के चारों ओर स्थित अन्नरसमयपुरुष के परिप्रेक्ष्य में कल्पित अन्नमयकोश है जिसका वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—
 "अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयं उत्तर पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।"

इस वर्णन के द्वारा अन्न के रस से परिवर्धित यह स्थूल शरीर ही अभिप्रेत है। इसका सर्वश्रेष्ठ स्थान शिर है जिसमें मनुष्य का मस्तिष्क निवास करता है। इसके भी दो पक्ष हैं जिन्हें दक्षिण तथा उत्तर पक्ष कहा गया है। दक्षिण पक्ष वह है जो मनुष्य के आचरण को व्यावहारिक और भौतिकदृष्टि से दक्षता प्रदान करता है, परन्तु इसके समान व्यवहार में दक्ष न होने पर भी इससे उच्चतर शक्ति वाला एक दूसरा पक्ष है। प्रथम को कर्मपक्ष और द्वितीय को ज्ञानपक्ष कह सकते हैं। इन दोनों का प्रेरक भावपक्ष है। यही आत्मा है। इन तीनों का केन्द्र मस्तिष्क है। अतः वही सम्पूर्ण अन्नमयकोश का मूलाधार होने से 'पुच्छ प्रतिष्ठा' है।

इस प्रकार अथर्ववेद और उपनिषद् के आधार पर मानव-व्यक्तित्व का जो सामान्य वर्णन हुआ है उसकी अन्तस्तम गहराई (हिरण्यकोश) में स्थित ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग में हमने आत्मा से युक्त ब्रह्म को प्राप्त किया। आत्मा और ब्रह्म ये दोनों ही पुरुष कहलाते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक अयोध्या अथवा अपराजितापुरी में विद्यमान रहता है। उक्त स्वर्ग में तो ये सायुज्य-अवस्था में रहते हैं लेकिन जब अन्य कोशों में जैसे ही आत्मा का अवतरण होने लगता है तो शनैः शनैः वह उस ब्रह्मात्म-सायुज्य को विस्मृत करने लगता है जिसके कारण उसे "अहं ब्रह्मास्मि" कहना चाहिये था। यह आत्मविस्मृति मनोमयकोश में पहुँचकर चरमसीमा को प्राप्त कर लेती है। तभी जीवात्मा स्वयं को मन, प्राण अथवा अन्नमय स्थूलशरीर समझने लगता है। स्थूल-स्तर की इस स्थिति को समझाने के लिये ऋग्वेद में शरीर को एक वृक्ष के रूप में कल्पित किया गया है और आत्मा तथा ब्रह्म को उस वृक्ष से संयुक्त दो सयुज पक्षी⁹⁷ कहा गया है। इनमें से प्रथम को शरीर के माध्यम से सम्पादित होने वाले कर्मों के भोक्ता एक ऐसे पक्षी के रूप में वर्णित किया गया है, जो शरीर रूपी वृक्ष के स्वादु फल को खाता है, जबकि द्वितीय (ब्रह्म) केवल साक्षी है। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम तो देहाभिमानी होता हुआ वस्तुतः शारीरिक भोगों में निमग्न होकर शोक एवं मोह से ग्रस्त होता है तथा उनसे मुक्त होने में स्वयं को असमर्थ पाकर 'अनीश' कहलाता है, जबकि द्वितीय (ब्रह्म) सर्वसमर्थ होने के कारण 'ईश' कहलाता है। आत्मा को शोक एवं मोह से तभी मुक्ति प्राप्त होती है जब उसे इस ईश की महिमा का ज्ञान होता है।⁹⁸

संहितान्त चतुष्टय अथवा कबन्ध

स्व-महिमा की दृष्टि से वह ईश (ब्रह्म) अनिर्वचनीय होने के कारण 'कः' नामक प्रजापति कहलाता है। अथर्ववेद में कः से युक्त एक 'संहितान्त चतुष्टय कबन्ध'⁹⁹ का उल्लेख प्राप्त होता है जिसकी तुलना ऋग्वेद 9.74.7 में वर्णित 'दिवस्कबन्धम्' से की जा सकती है। एक अन्य¹⁰⁰ स्थल पर वरुण के 'नीचीनवार' (अधोमुखी) कबन्धम् का वर्णन प्राप्त होता है। इन मन्त्रों में वर्णित 'कबन्ध' वस्तुतः मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय और हिरण्यकोश का 'चतुष्टय' है, जिसे हिरण्यकोश में सम्पादित होने वाली महासंहिता के सम्पादक परम द्यौ (कः) से सम्बद्ध होने के कारण 'द्यौ का कबन्ध' कहा गया¹⁰¹ है। यह चतुष्टय सामान्यतः उस अनिर्वचनीय 'कः' पुरुष के प्राणमय और अन्नमयकोश रूपी दो जानुओं पर स्थित एक शिथिल कबन्ध ही होता है। इसमें उस समय दृढ़ता आती है जब वह अन्तर्यामी कः पुरुष पयस्वान् (आनन्दरूप पयस् को धारण करने वाला) तथा अपने पयस् (आनन्द) को गतिशीलता प्रदान करने वाला ऋषभ होकर कबन्ध का भरण — पोषण करता है और साथ ही जातवेदा अग्नि आत्मा रूप इन्द्र के हितार्थ देवयान पथों द्वारा सत्कर्म संस्कार के रूप में यज्ञाहुति को पहुँचाता है।¹⁰² यहाँ, यह स्पष्ट है कि जब आत्मा रूप इन्द्र अपने इस यजनकर्म द्वारा 'कः' पुरुष की उपासना करता है तभी वह कबन्ध चतुष्टय को धारण करके 'संहितान्त चतुष्टय' का निर्माण करता है, अन्यथा वह शिथिल कबन्ध रहता¹⁰³ है। संहितान्त की स्थिति में, हिरण्य उत्स को परिपूर्ण करने वाले 'कबन्धी' मरुत अब अन्नमयकोश तक प्रथन करने वाली चेतनारूपा सम्पूर्ण पृथिवी को आनन्दसिंचित करने लगते हैं।¹⁰⁴

ब्रह्मात्म सायुज्य अथवा सहस्रम्

इस प्रकार, ब्रह्मात्मसायुज्य का बोध होने पर उक्त कोश — चतुष्टय की संहिता हिरण्यकोश के साथ हो जाती है। ब्रह्मात्मसायुज्य का एक अन्य नाम 'सहस्र'¹⁰⁵ भी है। वस्तुतः आत्मा और ब्रह्म की शक्ति का सहस्रवण होने पर ही वह पुरुष-संहिता बनती है जिससे सभी कोशों के पुरुष स्वयं को ब्रह्म से युक्त अनुभव करते हैं। इसी आधार पर प्रजापति को 'सहस्र ऋषभ'¹⁰⁶ और एक ऐसा पुरुष कहा जाता है जो अपने अन्तर में उक्त कबन्ध को धारण करता है। 'कः' प्रजापति की शक्ति के प्रभाव से मनुष्य-व्यक्तित्व को एक पुरुषसंहिता की अनुभूति होती है इस पुरुषसंहिता में उक्त कबन्ध की स्थिति का अर्थ है कुलाय (घोंसला) के भीतर कुलाय अथवा कोश में कोश का प्रवेश।¹⁰⁷ इसीलिये अथर्ववेद¹⁰⁸ में देवकोश (विज्ञानमय) को क्रमशः मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमयकोश से आवृत बताया गया है, जबकि देवकोश स्वयं वह कोश है जिसमें मनुष्य का मूर्धातत्त्व एवं हृदयतत्त्व परस्पर संस्यूत होकर मस्तिष्क से परे किसी शीर्ष-स्थान में स्थित पवमान¹⁰⁹ द्वारा प्रेरित होता है। यह शीर्ष-स्थान (मस्तिष्क से भिन्न) पूर्वोक्त आनन्दमयकोश है जहाँ ब्रह्मात्म-सायुज्य से प्रादुर्भूत आनन्दरस ही पवमान है। इस प्रकार आनन्दमयकोश का पवमान-पुरुष मूर्धा तत्त्व और हृदयतत्त्व को प्रेरित कर मनुष्य के अन्दर, ऊपर, नीचे, सर्वत्र व्याप्त¹¹⁰ है। पवमान¹¹¹ ही आनन्दमयकोश है जिसका विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

- शब्द भी प्रयुक्त है। चरित शब्द (कु. 1.110.2) सदाचार क लिय

- 22 शौ. 10. 2. 16-17
- 23 श्रेष्ठतमाय कर्मणे (वा. 1.1.1), यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (तै. 3.2.1.4; काठ. 30.10) यज्ञ की अवधारणा के लिये देखिये— 'वेद, ब्रह्मवीर्य और यज्ञ' । 40-43
- 24 पर्वतों को प्रजापति की ज्येष्ठ सन्तान के रूप में निरूपित किया है जो आकाश में उड़ते थे, परन्तु इन्द्र ने उनके पंख काटकर, पृथिवी पर स्थापित कर उसे दृढ़ता प्रदान की। (काठ. 36.7; मैसं 1.10.13)। यहाँ पृथिवी को दृढ़ता प्रदान करने का अर्थ है स्थूल आचरण के स्तर को दृढ़ बनाना जो अतिमानसिक शक्तियों से ही सम्भव होता है।
- 25 द्यावाभूमी नामक युग्म एक ऐसा चेतना युग्म है जिसे वरणीय (ऋ. 4.55.1) माना जाता है जिसका सम्बन्ध अदिती नामक अखण्डशक्ति (ऋ. 7.62.4) तथा अन्तरिक्ष रोचनाओं एवं पृथिवी और स्वः नामक ज्योति से (ऋ. 10.65.4) है। इस युग्म का जन्म एक अद्वैत देव (ऋ. 10.81.3) से हुआ माना जाता है। द्यावापृथिवी 'घृतसू' कहे जाते हैं, तो आपः के साथ उनका अर्चन वर्धन हेतु किया जाता है (ऋ. 10.12.4) द्यावाभूमी का स्कम्भन मनुष्य के लिये (ऋ. 10. 65.4) होता है।
- 26 भाव शब्द के इस अर्थ के लिये देखें— श्रीभगवद्गीता (10.17; 10.5; तु. नि.1.1)
- 27 सर्वे वा अतीति तददितेरदितित्त्वम्। माश. 10.6.5.5
- 28 इयं वा अदितिः। इयं हीदं सर्वे ददते। माश. 7.4.2.7; तै.सं. 2.2.6.1; 3.1.2; 5.1. 7.1; मैसं 1.10.20; 11. 6; कौ 7.6; गो 1.1.25
- 29 अदितिरसि उभयतः शीर्ष्णी वाक् (तै. 6.1.7.5; मैसं 1.2.4; काठ. 2.5. माश. 3.2.4. 16-17)
- 30 पिपर्तु नो अदिती राजपुत्रा (ऋ. 2.27.7)। तु. द्यावापृथिवी के लिये प्रयुक्त 'देवपुत्रे' विशेषण (ऋ. 1.106.3; 159.1)
- 31 तु. —समुद्रज्येष्ठा सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमानाः। इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु।। ऋ. 7.49.1
- 32 आपो वै देवानां पत्न्यः आसन् (जै. 1.140); आपो वै देवानां प्रियं धाम। तै. 3.2.5. 2; मैसं 4.1.4; काठ. 31.3; क. 47.1
- 33 आपो वा इदमग्रे सलिलमेवासीत् अकामयन्त प्रजायेमहीति। माश. 11.1.6.1
- 34 विस्तार हेतु द्रष्टव्य —डा. फतहसिंह कृत वैदिक दर्शन, पृ. 85-90
- 35 वेद में सांख्य के महत् शब्द का प्रयोग भी आपः के लिये। जैउ. 1.18.1.1
- 36 देखो, टिप्पणी 34 के अनुसार।
- 37 तु. स आपोऽभवत् परमाद्वा एतत्स्थानाद्वर्षति यद्विस्तस्मात् परमेष्ठी नाम। माश. 11.1.6.16
- 38 तु. मन्त्रश्रुत्यं चरामसि। ऋ. 10.134.7
- 39 ऋ. 10.47.3
- 40 काठ. 23.4; तु. कपि. 36.1
- 41 ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मोऽयं परमेष्ठिनम्। शौ. 10.2.21

- 42 अस् 'सत्तायाम्' और अत् 'सातत्यगमने' से निष्पन्न 'असत्' शब्द की ओर शौ. 10. 2. 23 में सत् शब्द से भिन्नता सूचित करने के लिये 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया गया है जो सत् की विपरीतावस्था असत् की ओर संकेत करता है।
- 43 ब्रह्मण भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यङ् वान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ शौ. 10.2.25
- 44 तद् (ब्रह्म) इदमन्तरिक्षम्। जैउ. 2.3.3.6
- 45 अन्तरिक्षं स्तनावभितोऽनेन वा एष देवेभ्यो दुग्धेऽमुना प्रजाम्यः। तां 24.1.6
- 46 वही
- 47 मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥ शौ. 10.2.26 तद्वा आथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ वही 10.2.27 ऊर्ध्वो नु सृष्टा तिर्यङ् नु सृष्टा सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवौ। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ वही 10.2.28
- 48 स होवाच गार्ग्यः यश्चायमात्मनि पुरुषः एतमेवाहं ब्रह्म मन्ये।
- 49 तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः। शौ. 10.2.32
- 50 अथर्वणं चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छंदासि आपः स्थानम्। गो. 1.1.29
- 51 तद् यद् अब्रवीत् अथार्वाङ् एनम् एतासु अप्सु अन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् तदथर्वणोऽथर्वत्वम्। गो. 1.1.4
- 52 तैसं. 5.6.6.3; मै. 3.1.5; काठ 19.4
- 53 ऋ. 9.11.2
- 54 सौम्यं मधु (काठ. 11.2) सर्वे वै कामः मधुः। ऐआ. 1.1.3
- 55 तैसं. 5.1.7.4; 7.5.21.1
- 56 कौ. 5.4; गो. 2.1.22 — तु. प्राणाः पयः। कौ. 10.6; माश. 6.5.4.15
- 57 ऋ. 7.49.3
- 58 मैसं 2.13.1
- 59 ऐ. 1.7; 12
- 60 माश. 4.4.5.21
- 61 ऋ 9.107.4
- 62 शौ. 11.4.22
- 63 ब्रह्म ब्रह्मा अभवत् स्वयम्। तै. 3.12.9.3
- 64 ऋ. 9.2.6; 9.3.3; 59
- 65 षविं ब्रा. 1.1
- 66 माश. 7.9.4.2
- 67 तै. 7.9.4.2
- 68 जै. 2.79
- 69 तै. 2.5.6.2—3
- 70 जैउ. 1.14.3.5
- 71 हरिणी इति

- 72 ऋ. 10.96
 73 धातुपा. 1.344
 74 श्रीमद्गी. 7.11
 75 शौ. 10. 2 .25-26
 76 तैउ. 2.5
 77 वनस्पति पवमान मध्वा समङ्गविध धारया। सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं
 हिरण्ययम्॥ ऋ. 9.5.10
 78 ऋ. 9.10.74
 79 बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्। येन ज्योतिरजनयन् ऋतावृधो देवं देवाय
 जागृविः॥ ऋ. 8.89.1
 80 ऋ. 8.89.3-4
 81 ऋ. 8.92.5
 82 ऋ. 8.92.17
 83 ऋ. 8.92.28
 84 ऋ. 8.92.29-30
 85 तैउ. 2.4
 86 शां. आ. 7.18
 87 तु. काठ 30.1
 88 मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् (ऋ. 10.6.3); मनु का विशेष अध्ययन तृतीय अध्याय
 में द्रष्टव्य।
 89 'वैदिक-दर्शन' -ले. डॉ. फतहसिंह, पृ. 45
 90 ऋ. 1.104.7
 91 ऋ. 7.20.6
 92 युवोः ऋतं रोदसी सत्यमस्तु॥ ऋ. 3.54.3
 93 ऋ. 6.28.2
 94 तैउ. 2.3
 95 माश. 10.5.2.20
 96 तैउ. 2.2
 97 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते। तयोरन्यः पिप्पलं
 स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ ऋ. 1.164.20
 98 समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा
 पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ -श्वे. 4.7
 99 शौ. 10 .2. 3
 100 ऋ. 5. 85 .3
 101 वही, 9.74.7
 102 पुमान् अन्तर्वान् स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति। तमिन्द्राय
 पथिभिर्देवयानैर्हन्तमग्निर्वहन् जातवेदाः॥ शौ. 9.4.3

103 शौ. 10 .2. 3

104 नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरोऽर्यमणो न मरुतः कबन्धिनः। पिन्वन्ति उत्सं
यदिनासो अस्वरन् व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसा ॥ ऋ. 5.54.8

105 यत् प्रजापतिःसह इति अब्रवीत् तत् सहस्रस्य सहस्रत्वम्। जै. 2.254

106 शौ. 9.4.1

107 कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशःसमुब्जितः। शौ. 9.3.20

108 शौ. 10 2 .26-27

109 पवमान सूक्तों में प्रायःपवमान को मूर्धातत्त्व (मति आदि) तथा हृदयतत्त्व
(माधुर्यादि) को प्रेरित करने वाला कहा जाता है। तु.ऋ.9.10.6

110 शौ. 10.2.28

111 पवमान सोम उस ब्रह्मानन्द का नाम है जो ब्रह्मात्मसायुज्य के साक्षात्कार होने
पर मानव-व्यक्तित्व में सहस्रधार होकर प्रवाहित होता हुआ कहा जाता है।
यह हिरण्यकोश से सर्वप्रथम जिस स्तर पर प्रवाहित होता है वही आनन्दमय
कोश है।

द्वितीय अध्याय

पुरुष-संहिता और ब्रह्म-प्रकाशन

पुरुष-संहिता का सांगोपांग विवरण शांखायन आरण्यक के सप्तम और अष्टम अध्यायों में संहितोपनिषद् के नाम से प्राप्त होता है। एक अति-संक्षिप्त संहितोपनिषद्¹ तैत्तिरीयोपनिषद् में भी है। वैदिक-संहिताओं² में भी 'संहिता' पद अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। विद्वानों ने संहिता को संग्रह का पर्यायवाची मानकर प्रायः उसके वास्तविक अर्थ की उपेक्षा कर दी है। उपर्युक्त संहिता-दृष्टि के अनुसार मनुष्यशरीर पिण्डीय, द्रवीय और वैद्युत पदार्थों का संघात मात्र नहीं है। उसे केवल इच्छाओं, भावनाओं, विचारों, क्रियाओं अथवा सहजवृत्तियों का कोश कहना भी पर्याप्त नहीं होगा। समाजशास्त्री मनुष्य को एक सामाजिक पशु मानते हैं। मनुष्य के विषय में ये सभी धारणाएँ उसके अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय कोश तक का ही स्पर्श करती हैं। वस्तुतः अन्नमय और प्राणमयकोश रूपी जानुओं पर स्थित मनोमयकोश, जब विज्ञानमय, आनन्दमय और हिरण्यकोश से युक्त हो जाता है, तभी साधक को मनुष्य-व्यक्तित्व की एक अखण्ड संहिता का बोध होता है।

यह तो स्पष्ट है कि पुरुष संहिता का अर्थ कल-पुर्जों का कोई निष्प्राण संग्रह या समुच्चय नहीं है, अपितु यह एक ऐसी पूर्ण इकाई का नाम है जिसका प्रत्येक अंग अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। वे सब अंग सबके निमित्त हैं; पूरी संहिता के हित सम्पादन के लिये हैं।³ उसका अस्तित्व उसी समय तक है जब तक वे संहिता के अंगभूत हैं। इस पुरुष-संहिता में अनेक लघु संहिताएँ भी हैं जो एक महासंहिता में समाविष्ट हैं। वैदिक दृष्टि के अनुसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूपी देह में इसी प्रकार एक महासंहिता है जिसके विभिन्न अंग अपने अंगी के पूरक हैं और उसी के कार्य में परस्पर सहयोगपूर्वक संलग्न रहते हैं। इसी महासंहिता का एक लघु संस्करण यह मनुष्यव्यक्तित्व है। इसके प्रत्येक कोश की अपनी एक संहिता है, परन्तु ये सब मिलकर एक पुरुष-संहिता बनाते हैं। इस सम्पूर्ण संहित व्यवस्था में प्रत्येक अंग अपना न्यायोचित भाग अयाचित ही प्राप्त करता है। संहिता का मूलमन्त्र है संज्ञान और संवनन⁴ जो मनुष्यशरीर के अन्नमयकोश में भी स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसके समस्त अंग सहयोगपूर्वक सम्पूर्ण शरीर के लिये निरन्तर कार्यरत रहते हैं। श्वासोच्छ्वास, रक्तसंचार, भोजन-ग्रहण, पाचन, उत्सर्जन आदि क्रियाएँ अंगों की इसी समरसता का परिणाम हैं।

अदिति-माता और आदित्य-बोध

निश्चय ही पुरुष-संहिता का समरसत्व मनुष्यव्यक्तित्व के आन्तरिक कोशों में अत्यधिक गरिमामय है। यहाँ पर संहिता की अखण्डता का बोध कराने वाले तत्त्व की 'अदिति' संज्ञा है और उसके ज्ञान को 'आदित्य बोध'⁵ कहा गया है। यह उत्कृष्टतम संहिता उस ब्रह्मात्म-सायुज्य में केन्द्रित है जिसकी अनुभूति हिरण्यकोश में उस समय होती है जब जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय आदि कोशों का क्रमशः उपसंक्रमण करके साम गायन सा करता है। तब वह अन्न और अन्नाद दोनों ही स्वयं हो जाता⁶ है। इससे पूर्व

प्रत्येक कोश अपने अनुवर्ती का अन्तरात्मा कहलाता है।⁷ इन कोशों के पुरुषों में अभेद स्थापित होने का निमित्त पूर्वोक्तलिखित आदित्य-बोध है जिसके कारण यह कहा जाता है— “स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।” दोनों की यह समरसता ही साम या समत्व कहलाती है। संहिता की इस अपरिहार्य विशेषता के कारण संहिता को साम भी कहा जाता है।⁸

सम्यक् सायुज्य की अनुभूति के परिणाम को गीता⁹ में जय-अजय, लाम-अलाम आदि द्वन्द्व के स्थान पर समरसता उत्पन्न करने वाला ‘समत्वयोग’ कहा गया है। यह संहिता, साम अथवा समत्व योग मनुष्य-व्यक्तित्व और समाज दोनों के लिये वांछनीय है। अतः मनुष्य के ज्ञात स्तर का अज्ञात स्तर से सम्बद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य-व्यक्तित्व में अन्नमय से मनोमय कोश तक न्यूनाधिक ज्ञात अथवा व्यक्त स्तर है। आनन्दमय तथा हिरण्यकोश अज्ञात अथवा अव्यक्त स्तर हैं, किन्तु विज्ञानमयकोश ज्ञात और अज्ञात के मध्य की कड़ी होने से ‘व्यक्ताव्यक्त’ है।

पुरुष और अपुरुष

एक अन्य दृष्टि से मनुष्यव्यक्तित्व के उक्त षट् कोशों में पाँच के समूह को ‘पांक्त-पुरुष’¹⁰ अथवा ‘ब्रह्मपांक्त’¹¹ कहा गया है, जबकि छठे के आत्मा या ब्रह्म को ‘अपुरुष’ कहा जाता है। यही पांक्त-पुरुष हिरण्यकोश के अपांक्त ब्रह्म अथवा अपुरुष का छादन करने के कारण ‘छन्दस्’ कहलाता है। इस पांक्त-छन्दस् द्वारा अदिति बिल (मध्य की दूरी) का ग्रहण कर लेती है।¹² तैत्तिरीयसंहिता में पांक्त-पुरुष को जब पञ्चविध चेतनाओं वाला कहा जाता है, तो अन्नमय से लेकर आनन्दमय की पुरुष चेतनाएँ ही अभिप्रेत प्रतीत होती हैं। हिरण्यकोश में निवास करने वाला ब्रह्म अखण्डात्मक दृष्टि से सर्वोपरि प्लवन करने वाली ‘अपुरुष दारु’¹³ कहलाता है। यही पुरुष अन्य पञ्च-पुरुषों में विभक्त-सा प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता¹⁴ उसे ‘अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव स्थितम्’ कहकर वर्णित करती है, तो ऋग्वेद में इसे ‘अभिन्न खिल्य’ कहा गया है।

सुधन्वा और हिरण्यनाम

पांक्त पुरुष के इस पञ्चविध वर्णन से यह तो स्पष्ट है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुषों में वस्तुतः हिरण्यकोश की चेतना ही है जिसे स्तर-भेद से भिन्न-भिन्न संज्ञायें प्राप्त हैं। अतः तैत्तिरीयोपनिषद् पाँचों पुरुषों में से प्रत्येक का वर्णन करते हुए पुनः पुनः दोहराता है, “इसका भी वही शरीर आत्मा है, जो इससे पूर्व का था।”¹⁵ जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आकाश में यदा कदा दृष्टिगोचर होने वाले इन्द्रधनुष के विभिन्न रंगों में मूलतः एक ही प्रकाश है, जो रंगभेद से पृथक् पृथक् प्रकार का प्रतीत होता है, उसी प्रकार मनुष्यगत ज्योतिर्मयी चेतना एक है, किन्तु विभिन्न-स्तरों पर उसका नाम और रूप पृथक्-पृथक् ही जाता है। अतः वैदिक साहित्य में पुरुष धनुष की चेतना को इन्द्रधनुष के समान और उसके धारक आत्मा या ब्रह्म को सुधन्वा कहा गया है।

इस सुधन्वा की ऋभवः नामक दिव्यशक्तियों को 'सौधन्वासः'¹⁶ कहा जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्¹⁷ के अनुसार आत्मा स्वयं अवर्ण है, परन्तु वह अपनी शक्ति के योग से नाना वर्णों को धारण करता है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि केन वित्त्वर¹⁸ नामक एक अमेरिकन मनोवैज्ञानिक ने भी सूर्यप्रकाश के इन्द्रधनुषी नानात्व के समान चेतना का नानात्व (Sepectrum of conciousness) माना है। इसी सन्दर्भ में डॉ. प्रतिभा शुक्ला के शोध-प्रबन्ध¹⁹ का उल्लेख भी प्रासंगिक होगा जिसमें शोधकर्त्री ने 'ज्योतिर्वै हिरण्ययम्' को आधार मानकर निघण्टु के हिरण्यनामों को विभिन्न प्रकार के प्रकाश का बोधक माना है। साथ ही, सर्वोत्कृष्ट ज्योति को इन सबसे परे हिरण्यकोश का 'हिरण्यय' सिद्ध किया है।

वेद, ब्रह्मवीर्य और यज्ञ

वैदिक साहित्य में यही चेतना हृदय, मन, संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, धृति, दृष्टि, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम आदि नामों से अभिहित हुई है; वस्तुतः ये सब उस एक चेतना के रूपान्तरों के बोधक हैं। अभिव्यक्ति के माध्यम-भेद के कारण मूलचेतना ही भिन्न-भिन्न रूप एवं नाम ग्रहण करती है। इस चेतना के मूल और सर्वश्रेष्ठ रूप का नाम 'वेद' है। मूलचेतना का द्योतक होने पर वेद शब्द संहितासाहित्य में आद्युदात्त रूप में प्रयुक्त होता है। वेद नामक इस मूल चेतना का स्रोत पूर्वोक्त 'अपुरुष' ब्रह्म है। इसीलिये वेद को अपौरुषेय कहने की परम्परा प्रारम्भ हुई और तदनुसार वेद नामक इस अपौरुषेय चेतना के विविध पक्षों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ भी वेद कहे गये।

यह आदि चेतना (वेद) मनुष्यव्यक्तित्व के अन्तस्तमकोश (हिरण्यय) में निहित रहती है। इसी को ब्रह्मवीर्य कहा गया है²⁰ जिसकी सहायता से मनुष्य इष्टकर्म का सम्पादन कर सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव है जब वेद को उस कोश में से बाहर निकालने और पुनः उसमें रखने की प्रक्रिया मनुष्य को आती हो। इस प्रक्रिया को समाधि और व्युत्थानपरक क्रियायोग भी कह सकते हैं। समाधि द्वारा अन्तस्तमकोश में वेद का अन्तर्धान होता है और व्युत्थानावस्था में पुनः उसी कोश से उसका उद्भरण किया जाता है। इस द्विविध प्रक्रिया के फलस्वरूप वेद का जो सक्रिय रचनात्मक रूपान्तर आनन्दमय आदि कोशों में व्यक्त होता है उसी का नाम ब्रह्मवीर्य है जिसके माध्यम से मनुष्य 'इष्टकर्म' करता है। इसी प्रक्रिया का संकेत अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में प्राप्त होता है—

यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदं तस्मिन्नन्तरावद्धैनम् ।

कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवाः तपसा अवतेह ॥ शौ.19.72.1

प्रस्तुत मन्त्र में सक्रिय रचनात्मक अर्थ में प्रयुक्त वीर्य पद अन्तोदात्त²¹ है, जबकि उक्त वेद शब्द आद्युदात्त। वेद शब्द भी जब इस सक्रिय रचनात्मक अर्थ को व्यक्त करता है, तब ही अपौरुषेय है। निघण्टु के हिरण्यनामों में जिस वेद का समावेश है, वह यही है। भाष्यकारों ने यजुर्वेद में प्रयुक्त अन्तोदात्त 'वेद' शब्द

को प्रायः दर्भमुष्टि के विघ्नविदारक प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। 'दर्भ' शब्द 'दभी' ग्रन्थे (पा.धा. 6.4) एवं 'दृभी' भये (पा.धा. 10.246) से निष्पन्न होने से इष्ट कर्म के बाधकों को नष्ट करने वाली रचना का प्रतीक है। दर्भमुष्टि का जो प्रयोग श्रौत यज्ञों में प्राप्त होता है, वह मूलतः श्रेष्ठ कर्म, इष्टकर्म अथवा इष्टि नाम से प्रसिद्ध आध्यात्मिक यज्ञ के विघ्ननाशक एवं शान्तिदायक प्रतीक के रूप में ही था। मूलतः श्रौतयज्ञ स्वयं भी आध्यात्मिक यज्ञ का प्रतीक ही है जिसे ब्रह्मवीर्यस्वरूप²³ अथवा त्रिवेदस्वरूप²⁴ कहा जाता है।

इस निष्कर्ष की पुष्टि अनेक यज्ञसूक्तों से होती है। अथर्ववेद 19.58 में जिस यज्ञ का वर्णन है वह विश्वकर्मा द्वारा 'वितत' यज्ञ है जिसके चक्षु, श्रोत्र आदि का आह्वान व्यक्ति अपने वाक्, श्रोत्र एवं मन द्वारा करता है।²⁵ इस यज्ञ द्वारा प्राण हमारा आह्वान और हम प्राण का आह्वान करते हैं, फलस्वरूप हमारी अन्नमयकोश रूपी पृथिवी एवं प्राणमयकोश रूपी अन्तरिक्ष वर्चस् को ग्रहण करते हैं—

उपास्मान्प्राणो हयतामुप वयं प्राणं हवामहे।

वर्चो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्ष वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधता॥ शौ.19.58.2

समाधि में चित्तवृत्तियाँ रूपिणी गायें जिस गोपति की सेवा में उपस्थित होती हैं वह यशरूप आत्मा है²⁶ उससे वे यश²⁷ नामक आध्यात्मिक धन लेकर जब व्युत्थानावस्था में पुनः आती हैं तो उनके प्रभाव से मनुष्य-व्यक्तित्व में एक दृढ़ता आती है जिसका वर्णन शौ. 19.58.4 में, आयस पुरों की सृष्टि और चमस के दृढीकरण जैसे प्रतीकों के माध्यम से किया गया है। इस यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला घृत वही घृङ्²⁸ नामक आत्मा है, जिसकी 'जूति' (बल) 'समना सदेवा' होती हुई वर्धनशील होती है। इसके परिणामस्वरूप हमारे चक्षु, श्रोत्र एवं प्राण अच्छिन्न होते हैं तथा हम स्वयं आयु एवं वर्चस् द्वारा अच्छिन्न हो जाते हैं।²⁹

अतः जिस यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा जाता है उसको प्रतीक यज्ञ (द्रव्य-यज्ञ) समझना भूल होगी। श्रेष्ठतम कर्म रूप यज्ञ निश्चय ही उपर्युक्त आध्यात्मिक यज्ञ है, जो मनुष्य-व्यक्तित्व को सर्वथा सुदृढ़ रखने की सामर्थ्य रखता है। ऐसी स्थिति में ही 'परोक्षयज्ञ'³⁰ अथवा 'पुरुषो वै यज्ञः'³¹ जैसी उक्तियाँ सार्थक सिद्ध हो सकती हैं। यही मन अथवा प्राणों द्वारा विस्तारित यज्ञ³² कहा जा सकता है। इसमें संशय नहीं कि इस यज्ञ का विस्तार करने वाली मन और प्राण की यह चेतना उस पूर्वोक्त मूल एवं अखिल वेद (आद्युदात्त) नामक चेतना से भिन्न है, जिसके उद्भरण और अन्तर्धान की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। आध्यात्मिक यज्ञ का विस्तार करने वाली वेद नामक इस चेतना को संहिता में अन्तोदात्त वेद,³³ वेदत्रय³⁴ और वेदसहस्र³⁵ पदों से अभिव्यक्त किया गया है।

ब्रह्म, ब्रह्मा और ब्राह्मा:

वेद का यही सक्रिय रचनात्मक अन्तोदात्त रूप उक्त मनोमय-पुरुष की चतुर्वेद की कल्पना में प्रकट होता है। यज्ञ-पुरुष के वर्णन में, तत्त्व को दक्षिण पक्ष, साम को उसका उत्तर पक्ष, यजुः को शिर और अथर्वङ्गिरस को पुच्छ

प्रतिष्ठा कहने का भी यही अभिप्राय है। इन चारों से युक्त मनोमयपुरुष³⁶ ही वह ब्रह्मा प्रतीत होता है जिसे पुराण चतुर्मुख कहते हैं और जिसके प्रत्येक मुख से एक, एक वेद का सम्बन्ध माना जाता है। इसकी पुष्टि शतपथब्राह्मण के उस कथन³⁷ से भी होती है जिसमें मन को आध्यात्मिक यज्ञ का ब्रह्मा माना गया है। उक्त वेद पद के समान ब्रह्मा पद भी अन्तोदात्त³⁸ प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मारूप में ब्रह्म स्रष्टा है और उसके द्वारा सम्पादित सृजन तथा यज्ञ-विस्तार के साधन वेदत्रय ही माने जाते हैं। चतुर्थ वेद ब्रह्मवेद ही सम्भवतः प्रकारान्तर से ब्रह्मवीर्य माना गया है। उसी के द्वारा ब्रह्म मनुष्य देह में अनेक देवों (ब्राह्मों) को उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है और वही अव्याकृत अथर्वाङ्गिरस होकर ऋक्, यजु तथा साम चेतना के रूप में त्रयी अथवा त्रिवेद रूप में व्याकृत होता है। अव्याकृत वेद और त्रयी का सम्मेलन ही वेद चतुष्टय है। ब्रह्मवीर्य रूप वेद के व्याकृत तथा अव्याकृत रूप को विषय बनाने वाले मन्त्रों का संग्रह वेद नामक ग्रन्थों में हुआ है। देवों को ही 'ब्राह्माः' कह सकते हैं। ब्रह्मा और ब्राह्मों से आत्मपुरुष को दिव्य ज्ञानशक्ति (चक्षु), प्राणशक्ति (प्राण) तथा श्रेष्ठ उत्पादनशक्ति (प्रजा) प्राप्त होती है।³⁹ देवों का सम्बन्ध मनुष्य के विभिन्न अंगों से है।⁴⁰ इन देवों के सन्दर्भ में ही शरीर को 'अष्टाचक्रानवद्वारा देवानां पूरयोध्या' कहा गया है।

अयोध्यापुरी के देव

मैत्रायणी-संहिता⁴¹ के अनुसार, प्राण ही देव हैं। अयोध्यापुरी के ये देव वेद में विश्वेदेवाः⁴² और सर्वेदेवाः⁴³ के अभिधान से भी उल्लिखित हुए हैं। सामान्यतः भाष्यकारों ने इन दोनों को एक ही माना है। उनकी दृष्टि में विश्व और सर्व शब्द परस्पर पर्याय हैं, किन्तु निम्नलिखित मन्त्रों में दोनों शब्दों का एक साथ प्रयुक्त होना इनके अर्थभेद को स्पष्ट कर रहा है—

सर्वतो नः शकुने भद्रमा वंद विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥

ऋ.2.43..2

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः । विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते मुंचत्वहंसः ॥

सर्वान् देवान् इदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः । सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुंचन्त्वहंसः ॥

शौ.11.6.19—20

या पुरस्तात् युज्यते या च पश्चात् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।

शौ.10 .8.10

इन सभी मन्त्रों में विश्व और सर्व के दो भिन्न रूपों को एक ही स्थान पर समान अर्थ में प्रयुक्त मानना निश्चय ही ऋषि-प्रज्ञा का अपमान होगा। दोनों पदों के मूल पर विचार करने से ही इनका अर्थपार्थक्य तथा अर्थगाम्भीर्य उद्घाटित हो जाता है। डॉ. फतहसिंह ने विश्व शब्द को प्रवेशार्थक 'विश' धातु से और सर्व पद को 'सृ' धातु से निष्पन्न मानकर विश्व को अन्तर्मुखी चेतना स्तर का और सर्व को बहिर्मुखी चेतना क्षेत्र का प्रदर्शक स्वीकार किया है। अतः वेद में अन्तर्जगत् की ओर गति करने वाली चेतना विश्वा और बाह्य जगत् की ओर सरणशील चेतना को सर्व या स्रष्टा कहा गया है। यही कारण है कि मनुष्यव्यक्तित्व की अन्तर्मुखी चेतनाक्षेत्र के अधिष्ठाता प्राण को

अथर्ववेद में विश्वेश्वर अथवा विश्वजन्मा और बहिर्मुखी चेतनाक्षेत्र के स्वामी प्राण को सर्वेश्वर अथवा सर्वजन्मा कहा जाता है:—

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः ।

अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ शौ. 11.4.23

यो अस्य सर्वजन्मनः ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।

अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ वही 11.4.24

इन मन्त्रों में वर्णित विश्वजन्मा और सर्वजन्मा प्राण के ही रूपान्तरों को पूर्वोक्त विश्वदेवा और सर्वदेवा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और इन्हीं द्विविध प्राणों के संचरण क्षेत्रों को वेद में विश्वम् और सर्वम् माना जा सकता है।

पुरः एवं पश्च स्तर

उपर्युक्त दो स्तरों के अतिरिक्त वेद में दो अन्य स्तरों की कल्पना भी प्राप्त होती है जिन्हें क्रमशः पुरः और पश्च स्तर⁴⁴ कहा गया है। 'पुरः' स्तर के अन्तर्गत ऋग्वेदीय अयोध्यापुरी के आठ चक्रों का उल्लेख माना जा सकता है, तो पश्च की परिधि में सहस्राक्षर स्तर का। सहस्राक्षर को योग के सहस्रार चक्र से परे की वह स्थिति मान सकते हैं जिसे ऋग्वेद में अचक्र⁴⁵ अथवा अक्षर⁴⁶ कहा गया है। इसी स्तर पर हमारी वाक् नामक चेतना सहस्राक्षरा कही जाती है। यही निम्न-चक्रों में अवतरित होकर अचक्रपद के साथ 'नवपदी वाक्'⁴⁷ कहलाती है।

प्राणदृष्टि से मनुष्यव्यक्तित्व के द्विविध आयाम

मनुष्यव्यक्तित्व को प्राणदृष्टि से जिन दो स्तरों में विभाजित किया गया है इनमें से निम्न-स्तर को प्राणन और अपानन नामक द्विविध क्रिया का क्षेत्र मान सकते हैं और ऊपरी स्तर को पराचीन और प्रतीचीन क्रिया का क्षेत्र। द्वितीय स्तर के प्राणों को ही प्राण और उदान का युग्म कहा जाता है। इन दोनों स्तरों की तुलना क्रमशः मानुषी और दैवी त्रिलोकी से की जा सकती है। दोनों त्रिलोकियों के प्राणों का स्रोत वस्तुतः वह चेतना है, जो हमारे व्यक्तित्व की अतिशय गहराई तक प्रवेश करने के कारण 'विश्' कहलाती है; यही विश क्रमशः वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, विश्वेदेवों और मरुतों में रूपान्तरित होती है जिन्हें 'विशः'⁴⁸ कहा जाता है। इन्हीं प्राणों के लिये वेद में 'सजाताः'⁴⁹ शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि इनके साथ ही व्यक्ति का जन्म होता है।⁵⁰

सजाताः पूर्वे देवाः

विश से उद्भूत मरुतः⁵¹ और विश्वेदेवाः⁵² भी सजाताः कहे गये हैं। इन सजात प्राणों को वेद में पूर्वे देवाः⁵³ नाम से भी अभिहित किया जाता है। वस्तुतः ये मनुष्य के उस पूर्ण व्यक्तित्व के स्वामी हैं जो माता के गर्भ से नितान्त असहायावस्था में जन्म लेता है। 'पूर्वे देवाः' अथवा सजाता नामक प्राण उसको गर्भ में धारण करते हैं और नवजात शिशु को स्तनपानादिक पोषण-क्रिया में समर्थ

बनाते हैं। ये ही ऋग्वेद 3.55.2 के पूर्व पितर हैं जो आहुति प्रदान करने वाले कहे गये हैं। ये ही ऋग्वेदीय प्रथममण्डल के द्वितीय मन्त्र में उल्लिखित 'पूर्वे ऋषयः' हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, मन और अहं बुद्धि के माध्यम से कार्यरत होने के कारण ये ही सप्तविप्रासः के नाम से सम्बोधित हुए हैं जो जीवात्मा इन्द्र को सम्पूर्ण प्रकार के बल (वाज) को प्रदान करते हुए मतियों द्वारा उसे 'शविष्ठ' 'ऊँ' में परिणत पाते हैं—

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्तविप्रासो अभिवाजयन्तः ।

नक्षददामं ततुरिं पर्वतेष्ठांमद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ।। ऋ. 6.22.2

प्रस्तुत मन्त्र में 'सप्तविप्रासः पूर्वे पितरः' को नवग्वाः कहने का कारण यह है कि शारीरिक क्रियाओं के साधनभूत अहंकार, मन तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त महद् और प्रकृति का भी इनको सहयोग प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ शक्तियों से सम्पन्न (नवग्वा) होकर वे उस बलशाली पर्वतस्थ अद्रोघवाक् 'ऊँ' को सर्वत्र गतिशील करने में समर्थ होते हैं। पूर्वदेवाः का यह कार्य वस्तुतः पूर्वव्यक्तित्व (जो कि असुर्य क्षेत्र है) के लिये सहस्र नामक शक्ति का निर्माण करता⁵⁴ है। इन्हें वह कर्म-शक्ति सोम द्वारा प्राप्त होती है।⁵⁵ सोमपीति का सेवन करने वाले ये पूर्व-पितर सोम्यासः और वसिष्ठाः कहलाते हैं; पूर्वस्तर के प्राण जो कि अंगिरस भी हैं स्वर्त्ता, पदज्ञा तथा गोतत्त्वान्वेषक हैं।⁵⁶ स्वः के वेदन और गोतत्त्व के अन्वेषण में इन पूर्वदेवों ने मानसिक चाक्षुष यज्ञ का यजन किया।⁵⁷ यह यज्ञ कोई साधारण यज्ञ नहीं, अपितु विश्वस्तरीय आन्तरिक तन्तुओं द्वारा वितत तथा सौ देवकर्मों द्वारा सर्वत्र नियमित किया गया है। इन तन्तुओं का ताना बाना पितृशक्तियों ने बुना है। शतपथब्राह्मण इसे श्रेष्ठतमकर्म रूप यज्ञ कहता है। इसके द्वारा ही मनुष्य की पितृ-शक्तियाँ (प्राण) पूर्वदेवों से साध्यदेव⁵⁸ बन जाती हैं।

साध्यदेव एवं ब्रह्मौदन

अभीष्ट देवत्व के लिये इन सभी प्राणों को साध्यदेवों में परिणत करने की आवश्यकता है। उपर्युक्त पञ्चविध प्राण और अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी दृष्टि से क्रमशः विश्वदेवा और सर्वदेवा के नाम से ज्ञात 'विशः' ही इन दोनों स्थितियों के पार पहुँचकर साध्यदेवों का रूप धारण करते हैं। इन साध्यदेवों के निमित्त अदिति ब्रह्मौदन पकाती⁵⁹ है। मनुष्यव्यक्तित्व के निम्नस्तर पर आवागमन करने वाले प्राणों को क्रमशः प्राण और अपान का युग्म कहा जाता है, तो व्याप्त होने वाले और आसीन प्राणों की क्रमशः व्यान और समान संज्ञा है। अथर्ववेद में इन चारों के लिये 'नमः' का विधान करते हुए कहा गया है—

नमस्तेऽस्तु आयते प्राण नमो अस्तु परायते ।

नमस्ते प्राण तिष्ठते आसीनायोत ते नमः ।।

शौ.11.4.8

उपर्युक्त प्राणचतुष्टय के अतिरिक्त पञ्चम प्राण भी है जिसकी उदान संज्ञा है। यही वह प्राण है, जो अन्य प्राणों के सुप्त हो जाने पर भी तिर्यक् गति करने वाला और निरन्तर जारात रहने वाला उद्योत⁶⁰ प्राण है। 'उद्योत' से निष्पन्न उदान नाम भी प्राण के इसी ऊर्ध्वत्व का द्योतक है। मनः के वर्ण विपर्यय से

निष्पन्न नमः शब्द भी उदान की उसी अति मानसिक ऊर्ध्वत्व सूचक आन्तरिक गति की ओर संकेत करता है। अतः उक्त चतुर्विध प्राणों के नमः का अर्थ है उन सबका ऊर्ध्वगामी उदान रूप प्राप्त करना। इसी उदान प्राण से उस ओदन नामक तत्त्व का जन्म माना जा सकता है।⁶¹ वह तपोमय श्रम द्वारा प्राप्य कहा जाता है। इस ओदन को पूर्व में ब्रह्म ने ब्रह्म के लिये पकाया।⁶² ब्रह्म से सम्बद्ध होने के कारण ही इस ओदन का नाम ब्रह्मोदन है। इस पक्व-ओदन से उस अमृत की प्रतीति होती है, जो मनुष्य को मृत्यु के भी पार ले जाता है और जिसमें सभी वेद निहित माने जाते हैं—

यस्मात् पक्वादमृतं संवभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्वभूव।

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ शौ. 4.35.6

यही वह विश्वजित् ब्रह्मोदन है जिसे कोई भी साधक अपने भीतर पकाकर आन्तरिक शत्रुओं का निवारण कर सकता है।⁶³ मनुष्य द्वारा इस ब्रह्मोदन को पकाये जाने का तात्पर्य है कि वह उस ओदन से अपने समस्त व्यक्तित्व को ओत-प्रोत कर लेता है। इसीलिये अथर्ववेद में उसे 'ओदनः सर्वाङ्गः, सर्व-परुः सर्व-तनुः' कहा⁶⁴ गया है।

ओदन के इस वर्णन से स्पष्ट है कि वेद में ओदन कोई भौतिक खाद्य-पदार्थ नहीं, अपितु एक तत्त्व विशेष है, जो मूलतः ब्रह्माण्डीय जगत् से सम्बन्धित है। इसी को ब्रह्म द्वारा ब्रह्म के लिये पकाया हुआ कहा जा सकता है। मनुष्य जब इसे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व में आत्मसात् करता है, तो कवि-कल्पना में माना जाता है कि साधक उसे पका रहा है। एक अन्य दृष्टि से, ब्रह्माण्डीय तत्त्व के रूप में ओदन एक मेघ माना जाता है, इसीलिये ओदन को निघण्टु के मेघ नामानि में स्थान मिला है। इसी को लक्ष्य करके ऋ. 8. 69.14 में कहा गया है जब शुक्र इन्द्र (व्यष्टिगत-आत्मा) अतिक्रमण करके 'ॐ' तक पहुँचता है, तो वह आन्तरिक शत्रुओं को भी अतिक्रान्त कर जाता है और इस प्रकार वह व्यष्टिगत जीव के रूप में लघु (कनीनः) होते हुए भी 'परः' (महान्) होकर 'पच्यमान ओदन' (मेघ) का विज्ञानगिरा द्वारा भेदन करने में समर्थ होता है। एक अन्य⁶⁵ मन्त्र के अनुसार इन्द्र ने विज्ञान-गिराओं द्वारा 'पक्व ओदन' का भेदन किया और उससे प्राप्त 'बुन्द' को धारण किया। सूक्त के उपसंहार में 'बुन्दः हिरण्ययः' कहकर इंगित कर दिया गया कि ब्रह्माण्डीय ओदन से हिरण्यकोशीय तेज या बल ही वह पक्व ओदन है जिसे व्यष्टिगत आत्मा 'ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः' बनाता है।

इसी भाव को दूसरे प्रकार से व्यक्त करते हुए ऋषि कहता है कि "मैंने ऋतस्पर्शिनी⁶⁶ नवस्रक्ति वाक् को अपने शरीर में सर्वत्र 'अष्टापदी'⁶⁷ रूप दे दिया।" इसका तात्पर्य है कि हिरण्यकोश के ब्रह्मसायुज्य में स्थित व्यष्टिगत आत्मा ब्रह्मरूप इन्द्र से जो हिरण्ययी वाक् प्राप्त करता है उसे वह अपने महत्, अहंकार, मन सहित पञ्चज्ञानेन्द्रियों में अष्ट आयाम देकर उक्त 'बुन्द हिरण्यय' को सम्पूर्ण व्यक्तित्व में आत्मसात् कर लेता है। दूसरे शब्दों में, जो ब्रह्मरूप इन्द्र की अष्टापदी वाक् है वही व्यष्टिगत इन्द्र की अष्टापदी वाक् होकर खण्डशः कार्यरत होती है। इसी दृष्टि से जैसा कि

पहले बताया गया है, 'उभयतः शीर्ष्णी अदितिवाक्' की कल्पना की गई है। अदितिवाक् के इन्हीं दो रूपों को अथर्ववेद में क्रमशः 'अदिति शूर्पग्राही' तथा 'दितिः शूर्पः' के रूप⁶⁸ में कल्पित किया गया। भाव यह है कि सामान्यतः जो दिति नामक खण्डशः कार्य करने वाली शक्ति काम, क्रोधादि असुरों की जननी होती है, वही ब्रह्मात्म सायुज्य प्राप्त व्यक्तित्व में हिरण्यकोशीय अदिति वाक् से नियन्त्रित होकर समस्त दुरित् को उसी प्रकार दूर फेंक देती है जिस प्रकार शूर्पग्राही व्यक्ति के द्वारा संचालित शूर्प धान के अतिरिक्त अवाञ्छित डंठल आदि को बाहर निकाल देता है।

साध्यदेव एवं राष्ट्र और द्विविध इन्द्र

अतः जब अदिति को साध्यदेवों के निमित्त ओदन पकाने वाला कहा जाता है, तो उसका तात्पर्य यही होता है कि व्यक्तित्व के अवर स्तर की उक्त अष्ट-आयामों में विभाजित वाक् उसके पर स्तर की अखण्ड वाक् के अधीन रहकर समस्त दुरित्, अनृत अथवा कल्मष को निकाल कर मनुष्य की सभी शक्तियों को वह देवत्व प्रदान कर देती है जिसे 'साध्य' कहा जाता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि तैत्तिरीयब्राह्मण के निम्नलिखित अवतरण में उल्लिखित उन साध्यदेवों की व्याख्या से भी होती है जिन्हें उत्पन्न करने के लिये पुत्रकामा अदिति ओदन पकाती है:- अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत् — तत्प्राश्नात् सा रेतोऽधत्त। तस्यै धाताः अर्यमा च अजायेताम् — मित्रश्च वरुणश्च अजायेताम् — अंशश्च भगश्चाजायेताम् — इन्द्रश्च विवस्वाश्चाजायेताम् (तै.1.1.9.1-2)। अपने मित्रवरुणादि पुत्रों के सहित यही 'शूरपुत्रा अदिति' अथर्ववेद⁶⁹ में 'बृहदराष्ट्रं संवेश्यम्' को प्रदान करने के निमित्त आहूत की गई है। ये अदिति पुत्र ही वे साध्यदेव हैं जिनको तैत्तिरीयब्राह्मण के पूर्वोक्त उद्धरण में, चार युगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इनमें से मित्र-वरुण युग का मित्र प्राण⁷⁰ पूर्णतया सत्य,⁷¹ शान्ति,⁷² स्विष्ट⁷³ तथा मैत्रीभाव⁷⁴ से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है कि वह देवों के प्रमुख शत्रु वृत्र का वध भी नहीं करना चाहता⁷⁵। इसके विपरीत, वरुण प्राण सत्यानृत विवेकी होने से समस्त दुरिष्ट को स्वयं ग्रहण कर लेता है और प्रजा को धारण करता है⁷⁶। वरुण को शत्रुवध करने में भी कोई आपत्ति नहीं इसीलिये इन्द्र वरुण से वृत्रों का वध करने को कहता है⁷⁷। इस युग का उक्त स्विष्ट द्विष्टपरक कार्य राष्ट्र की शान्ति और सुरक्षा के लिये एक दूसरे का पूरक बनता है।

इसी प्रकार धाता⁷⁸-अर्यमा युग में से प्रथम को विधायक तथा प्रतिष्ठापक होने से समाजापेक्षित रचनात्मक और उत्पादक क्रियाकलाप करने वाला कहा जा सकता है, जबकि अर्यमा को धाता द्वारा उत्पादित सेवाओं और सामग्रियों का वितरक⁷⁹ माना गया है। इसीलिये अर्यमा को दान करने या देने वाला⁸⁰ भी कहा जाता है। अर्यमा का दान या वितरण वही अहंकार तथा ममतारहित त्याग है जिसे यज्ञ के प्रसंग में 'इदं न मम' कहकर संकेतित किया जाता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये 'यज्ञो वा अर्यमा' कहकर उसका समीकरण यज्ञ के साथ किया जाता है।⁸¹ अर्यमा शब्द का अर्थ है 'अर्य' का निर्माण करने वाला, अतः अर्यमा प्राण समाज रूपी चक्र के अर बनने के योग्य जो जन हो सकता है उसके

निर्माण की प्रक्रिया का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में, सामूहिक उत्तरदायित्व वहन करने का स्वभाव व्यक्ति को अर्यमा प्राण द्वारा प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व के भार को उसी प्रकार वहन करने लगता है जिस प्रकार चक्र पर आने वाले समस्त भार को सभी 'अर' मिलकर वहन करते हैं।

इस प्रकार मित्र-वरुण, धाता-अर्यमा की परिकल्पना व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में जिस मैत्रीभाव, विवेक और निरहंकार, त्याग का सहज समावेश करती है उसका सुन्दर परिणाम साध्यदेवों की दो अन्य युग्मों की अवधारणा में स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'अंश-भग' युग्म के अंश⁸² को, सर्वव्यापक ब्रह्माग्नि का वह अंश कह सकते हैं जो उक्त सामाजिक व्यवहार के कारण व्यक्ति में शनैः शनैः वर्धमान होता हुआ उस (अंश) के भागधेय जन को ब्रह्म की भगज्योति से युक्त कर देता⁸³ है। इस भगज्योति को पाकर ही व्यक्ति भगवान्⁸⁴ कहलाता है। इस कार्य में जो बाधक तत्त्व हैं उनका निवारण करने वाला 'इन्द्र-विवस्वान्' युग्म है। इन्द्र प्राण जहाँ व्यक्ति के समस्त दुरित का प्रतिनिधित्व करने वाले वृत्र का वध कर उसे सबल एवं सशक्त बना देता है, वहीं विवस्वान् के उदय से व्यक्ति में वासना रहित होकर निःश्रेयस् की चरम-सीमा पर पहुँचने का सामर्थ्य आ जाता है, क्योंकि वासनारहित व्यक्तित्व के भीतर ही नियम, संयम का उन्नायक वैवस्वत यम आविर्भूत होता है और तत्पश्चात् मननशील वैवस्वत मनु के जन्म की सम्भावना होती है। इसी यम के कारण साधक को, कठोपनिषद् के नचिकेता के समान योग तथा दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है और इसी मनु के कारण वह मानव यज्ञकर्म उपलब्ध होता है जिसे वैदिक ग्रन्थों में 'श्रेष्ठतमकर्म'⁸⁵ कहकर स्मृत किया गया है।

इस प्रकार साध्यदेवों के सन्दर्भ में जिस 'बृहदराष्ट्र संवेश्य' की वैदिक परिकल्पना प्रस्तुत की गई है वह व्यक्ति के एक ऐसे सुसम्पन्न सामाजिक पक्ष को उजागर करती है जिसको अपनाकर मनुष्य निष्काम कर्मयोग का निरन्तर अभ्यास करता हुआ तथा सम्पूर्ण फलासक्ति को त्याग कर केवल यज्ञार्थ कर्म करता है। यही वह नीति है जिसे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' कहकर भगवद्गीता ने प्रतिपादित किया है। इसके द्वारा एक ऐसे राष्ट्रीय समाज की स्थापना हो सकती है जहाँ दूसरे के अधिकारों की रक्षा को व्यक्ति अपना सर्वोपरि कर्तव्य अथवा यज्ञ मानने लगता है। इसी कारण वह राष्ट्र सबके लिये 'संवेश्यम्' बन जाता है। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत अदिति वाक् सामूहिक रूप से विकसित होकर वह 'राष्ट्री' चेतना बन जाती है जिसे वेद में 'संगमनी वसूनाम्'⁸⁶ कहा गया है। यजुर्वेद में इसी चेतना को वह राष्ट्रदा ऊर्मि कहा गया है, जो व्यष्टि और समष्टि दोनों को राष्ट्र प्रदान कर सकती⁸⁷ है। यह चेतना ही पूर्वोक्त वह भूमि-पृथिवी है जिसका सत्यावृत अमृत हृदय परमव्योम में है और जो स्वयं उत्तम राष्ट्र में तेज और बल का आधान करने में समर्थ है।

उत्तम राष्ट्र और द्विविध इन्द्र

उत्तम राष्ट्र मूलतः व्यक्तिगत संरचना है। व्यक्तिगत राष्ट्र उत्तम तभी होगा जब वह ध्रुव⁸⁸ और आत्मा⁸⁹ के द्वारा ध्रुव सप्त को ध्रुव हवि (सोम)⁸⁹ द्वारा धारण करे तथा सोम ऊँ ब्रह्मणस्पति होकर उसे परामर्श देता रहे। आत्मा

ब्रह्मवाहस्तमं 'कहकर आहुत होता'¹⁰⁴ है, क्योंकि इन मन्त्रों में वर्णित वही सोम है, जो निम्न (अर्वाक) आन्तरिक विरोधी 'वनानि' की निन्दा तो करता है, परन्तु इन्द्र (आत्मा) की नहीं¹⁰⁵। यह सोम ही ब्रह्मरूप इन्द्र का वह अधिनीयमान मन्यु है, जो स्थिर बाधाओं का भी दृढ़तापूर्वक भेदन कर देता है :-

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः ।

यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि ॥ ऋ.10.89.6

मन्यु और ब्रह्म-प्रकाशन

अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त मन्त्र में जिस सोम को अधिनीयमान-मन्यु कहा गया है, वही हिरण्यकोश के ब्रह्मानन्दरस का वह पवमान रूप है, जो निम्नस्तरों पर अवतीर्ण होकर रक्षोहन्¹⁰⁶, अघशंसहा¹⁰⁷ तथा आन्तरिक रक्षक¹⁰⁸ कहा जाता है। वह योद्धाओं का अग्रणी, भीमों में सर्वाधिक भीष्म और अजस्रविजेता है।¹⁰⁹ इसी सोम को इन्द्रवज्र की संज्ञा भी प्राप्त है, परन्तु जिस सोम को 'हिरण्ययउत्स' कहा गया है, वह ब्रह्मानन्द का ऐसा रूप है जिसे 'आपान्त-मन्यु' तथा 'ऋजीषी सोम' कहा जाता¹¹⁰ है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मात्मसायुज्य स्तर पर जो सोम है वह मन्यु को 'आपान्त' (अपीत) कर लेता है। अतः उसके लिये उच्छिष्टार्थक 'ऋजीषी' शब्द का प्रयोग भी किया गया है; परन्तु हिरण्यकोश से नीचे की ओर पवमान होने वाला सोम मानों परब्रह्म का सात्त्विक क्रोध होकर राक्षसी शक्तियों का विनाशक बनता है।

अतः, यद्यपि मन्यु शब्द निघण्टु के क्रोधनामानि में परिगणित है, फिर भी यह उस तामसिक क्रोध का वांचक नहीं हो सकता जिसको हमारे धार्मिक ग्रन्थों में निन्दनीय माना गया है। यह वस्तुतः उस सत्य अथवा सत्यसत्त्वन् इन्द्र (ब्रह्म) का सात्त्विक क्रोध है, जो मनुष्य के तामसिक क्रोध की भाँति आसुरी मोहादि का जनक नहीं, अपितु उनका विनाशक सिद्ध होता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि ऋग्वेद के दो मन्यु सूक्तों (10.83-84) में पूर्णरूपेण हो जाती है। इन सूक्तों का ऋषि मन्युः तापसः है और साथ ही उनका देवता (वर्णविषय) भी तप से युक्त मन्यु, शत्रु विनाशक, अमित्रहा, वृत्रहा तथा दस्युहा कहा¹¹¹ गया है। उसका समीकरण¹¹² इन्द्र, वरुण एवं जातवेदस् अग्नि से किया गया है और तपोयुक्त मानुषी विशः को उसका पुजारी बताया गया है। यह पवमान रूप मन्यु देवता जब तापस (साधक) के दक्षिण भाग में होता है, तो वे दोनों मिलकर अनेक वृत्रों का वध करते हैं और इस मन्यु के लिये जो उक्त सर्वोच्च धारक मधु की आहुति प्राप्त होती है वे दोनों उसे मौन होकर पीते हैं।¹¹³ यह मन्यु न केवल साधारण वसुओं (धनों) का, अपितु "महाधन" का भी प्रदाता¹¹⁴ है। निस्संदेह, यह कोई आसुरी तत्त्व नहीं हो सकता, इसीलिये इसे 'देवो मन्युः'¹¹⁵ कहा गया है। इसकी तुलना उस 'देव मनः'¹¹⁶ से कर सकते हैं जिसका स्रोत वैसा ही रहस्यमय है जैसा कि वह अज्ञात उत्स जिससे मन्यु आविर्भूत¹¹⁷ हुआ है।

मन्यु और ब्रह्मजाया

इस मन्यु की एकजोड़ी का देवता जिस प्रकार ब्रह्मजायन लेता है वह ब्रह्मात्म सायुज्य की अवस्था मानी जा सकती है जिसके परिणाम-स्वरूप उक्त

देवं मनः को न केवल आविर्भूत होता हुआ माना जा सकता है, अपितु उसे अशिव संकल्पों से ऊपर उठकर उस शिव-संकल्प के स्तर तक पहुँचने वाला भी कह सकते हैं, जहाँ मन को शिव-संकल्प होकर 'ज्योतिषां ज्योतिः'¹¹⁹ कहा जाता है। अतः हिरण्यकोश ही उस 'संकल्प' का घर है जहाँ से मन्यु 'ऊँ'¹²⁰ अथवा 'ज्येष्ठ'¹²¹ ब्रह्म के लिये जाया को वहन करता है। यह जाया वस्तुतः हिरण्यकोश की वह शक्ति है, जो नीचे के पञ्चकोशों में अवतरित होकर विभिन्न प्रकार की सृष्टि करने वाली ब्रह्मजाया कहलाती है। ऋग्वेद¹²² और अथर्ववेद¹²³ दोनों में इस ब्रह्मजाया का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इन दोनों वेदों के सूक्तों में विभिन्न स्तरों की शक्तियों को वह पुनः पुनः प्रदान की जाती है:-

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।

राजानः सत्यं कृपवाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ ऋ.10.109.6

इस मन्त्र में जिस प्रकार ब्रह्मजाया को सत्य बनाकर पुनः देने की बात कही गई है उसी प्रकार उसे एक अन्य मन्त्र में निकिल्विष करके पृथिवी की ऊर्जा के रूप में (उरुगायं ऊर्जम्) प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख है:-

पुनर्दाय ब्रह्मजाया कृत्वी देवैर्निकिल्विषम्।

ऊर्जं पृथिव्या भक्त्यायोरुगायमुपासते॥ ऋ.10.109.7

इसको किल्विषरहित करने के लिये 'पूर्वसप्तऋषयः' तप करना प्रारम्भ कर देते हैं तभी वह परम व्योम में पहुँचाई जाती है,¹²⁴ जहाँ वह किल्विष रहित होकर सोम राजा के द्वारा पुनः वरुण, मित्र और अग्नि को प्रदान की जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यव्यक्तित्व में कार्यरत होने पर जब यह ब्रह्मजाया नामक ब्राह्मी शक्ति शनैः शनैः किल्विष धारण कर लेती है, तो उसके शुद्धीकरण की आवश्यकता होती है। यह उसी समय सम्भव है जब तप द्वारा उस जाया को पुनः परम व्योम रूप हिरण्यकोश में पहुँचाया जाय। शुद्धीकृत इस जाया का पुनर्प्रदाता सोम राजा ब्रह्मात्मसायुज्य अथवा हिरण्यकोश का वह पूर्वोक्त सोम है जिसे 'हिरण्यय उत्स' कहा जाता है, वही इसको नीचे लाने वाला पवमान सोम है जिसे अधिनीयमान मन्यु कहा गया है। मन्यु द्वारा लाई गई इसी जाया से जो नाना प्रकार की ब्रह्मसृष्टि होती है उसका वर्णन अथर्ववेद¹²⁵ के तीन बड़े सूक्तों में हुआ है। सायणाचार्य¹²⁶ ने इन सूक्तों को अर्थ-सूक्त कहा है। इनका विनियोग ब्रह्मजप यज्ञ में किया जाता है। इनमें मनुष्य के षाट्कौशिक शरीर के भीतर प्रविष्ट ब्रह्म का उपदेश होने के साथ-साथ शरीर तथा उसके साधनभूत इन्द्रिय देवों की उत्पत्ति और उसकी उपायभूता सृष्टि का वर्णन भी प्राप्त होता है।

इस सृष्टि का वर्णन सर्वप्रथम प्राणापानौ, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति और क्षिति, व्यानोदानौ, वाक् और मन के उल्लेख से होता है, जो 'आकृति' का आवहन करते¹²⁷ हैं। इन दस देवों को सायणाचार्य ने विकल्प से दस इन्द्रियों के रूप में भी स्वीकार किया है, जो मनुष्य और प्राणी दोनों के जन्म के पूर्व ही अपने अपने विषय को प्रकाशित करने वाले तथा एक साथ जन्म लेने वाले माने गये हैं। इन

देवताओं का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना कठिन माना जाता है, क्योंकि इनके प्रत्यक्ष रूप को जानने का अर्थ है महत् ब्रह्म को जानना :-

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।

यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत्॥

शौ.11.10.3

इस प्रसंग में प्रश्न किया जाता है कि उस समय तक ऋतुओं, धाता, बृहस्पति, इन्द्राग्नी तथा अश्विनौ का जन्म भी नहीं हुआ था, तो फिर उस ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना किसने की।¹²⁸ उत्तर¹²⁹ में कहा गया कि उस समय महान् 'अर्णव' में कर्म तथा उससे उत्पन्न तप था, इन्हीं दोनों ने उस ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना की। यह वर्णन उस अवस्था का है जब अशुद्ध हुई ब्रह्मजाया को शुद्ध करने के लिये तप की आवश्यकता पड़ी थी और सप्त ऋषियों ने उसे अपने तप द्वारा परमव्योम में पहुँचाया था। निस्संदेह, इस जाया रूपी 'भूमि' को जिस परम व्योम में पहुँचाया गया उसमें पहले से ही एक 'पूर्वाभूमिः' थी जिसे केवल 'अद्वातयः' ही जानते हैं और जिसे नाम से जाननेवाले पुराणवित् माने जाते¹³⁰ हैं। इस पूर्वाभूमि की तुलना पूर्वोक्त उस 'भूमि पृथिवी' से की जा सकती है, जो महत् अर्णव में सलिल होकर स्थित बताई गई है और जिसे केवल मनीषिगण ही जान सकते हैं।

यह सलिल रूपा भूमि पारमेश्वरी त्रिगुणात्मिका शक्ति की वह साम्यावस्था कही जा सकती है जिससे 'सलिलानि' होकर प्रवाहित होने वाले आपः को सत्व, रजस् और तमस् से युक्त होने के कारण बहुवचनान्त संज्ञा प्रदान की गई प्रतीत होती है। समष्टिगत ब्रह्माण्डीय इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा तथा धाता से क्रमशः इन्हीं नामों वाले व्यष्टिगत देवता भी उत्पन्न हो गए।¹³¹ इसी प्रकार पूर्वोक्त प्राणापान आदि वाले दश देवता भी व्यष्टिगत जगत् में ब्रह्माण्ड से आकर 'मर्त्य सर्वम्' के केशों, स्नायुओं अस्थियों, अंगों, पर्वों तथा मांस-मज्जा का संभरण करके स्वयं शरीर रूप पुर में निवास करने वाले पुरुष में प्रविष्ट¹³² हो गए। पुनः प्रश्न होता है कि वह कौन सा ज्ञानी ऋषि था जिसने शिर से लेकर हाथों, पैरों पसलियों आदि में सुन्दर सन्धियों का तथा मुख जिह्वा, ग्रीवा और त्वचा के आवरण का निर्माण किया?¹³³ इसके उत्तर में जब सन्धानकर्त्री 'मही' का नाम लिया गया, तो संहिता सम्पन्न उस 'महत्' की ओर भी ध्यान गया जो न केवल उस 'मही' शक्ति का शक्तिमान् है, अपितु वह 'वर्ण' भी है जिसके द्वारा शरीर प्रकाशित होता हुआ माना जाता¹³⁴ है। इस वर्ण का आभरण करने वाली शक्ति ही 'ऊँ' ब्रह्म की वह 'सती वधू' (जाया) है, जो विश्व (अन्तर्जगत) की नियन्त्रिका (ईशा) है तथा जिसे 'आकूति' भी कहा गया है।¹³⁵ आकूति शब्द, आ उपसर्ग पूर्वक अभिव्यक्त्यर्थक 'कु' धातु से निष्पन्न होने से, उस सर्वतोमुखी परावाक् का बोधक हो सकता है जिसे सायणाचार्य ने 'सिसृक्षावस्थापन्ना पारमेश्वरी माया शक्ति' अथवा 'भगवती परचिद्रूपिणी वाक्' शक्ति कहा है।¹³⁶

इसी परावाक् के क्रियाशक्तिपरक रूप को पुल्लिङ्ग त्वष्टा के रूप में उसी प्रकार कल्पित¹³⁷ किया गया है जिस प्रकार इसका स्त्रीलिंग रूप, धाता के रूप में उसी पूर्वोक्त 'मही' को ऋषि कहा गया है। यह त्वष्टा पिता और पुत्र रूप में द्विविध है।

प्रथम समष्टिगत ब्रह्माण्ड रूप में वह 'उत्तर त्वष्टा' कहलाता¹³⁸ है। इसका द्वितीय रूप व्यष्टिगत त्वष्टा है, जो प्रथम का ही अंशभूत होने के कारण उसका पुत्र कहलाता¹³⁹ है। यही जब मर्त्य देह में इन्द्रिय छिद्रों का निर्माण करता है, तो प्राणरूप इन्द्रिय देव इस शरीर को अपना गृह बनाकर स्वयं पुरुष में प्रविष्ट हो जाते¹⁴⁰ हैं। इन इन्द्रिय देवों के साथ उनसे संयुक्त सत् और असत् प्रवृत्तियाँ भी शरीर में निवास करने लगती हैं। इस श्रेणी में एक ओर तो यज्ञ, सत्य, बृहत्-यज्ञ, बल, ओज, क्षत्र और श्रद्धा जैसी सुप्रवृत्तियों का उल्लेख होता है, तो दूसरी ओर निद्रा, तन्द्रा, निऋति, स्तेय, दुष्कृत, अश्रद्धा आदि 'पाप्मानः देवताः परिगणित'¹⁴¹ हैं।

इस प्रकार, परस्पर विरोधी भूति और अभूति, राति और अराति अथवा विद्या और अविद्या की उपस्थिति के कारण विवेकबुद्धि के जागरण की आवश्यकता होती है। अतः यह भी कहा जाता है कि समाधिगम्य ब्रह्म (अव्याकृत वेद) एवं उसके व्याकृत स्वरूप को प्रस्तुत करने वाली ऋक्, यजु तथा साम नामक त्रयी विद्या भी मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट हो गई।¹⁴² इसी त्रयी से उक्त व्यष्टिगत यज्ञ का विस्तार होना वर्णित¹⁴³ है। यही त्रयी स्वयं यज्ञ स्वरूप भी कही¹⁴⁴ गई है। इसका अर्थ है कि जिस कर्म में इस व्याकृत ब्रह्मवेद (त्रयी विद्या) का प्रकटीकरण होता है उसी का पारिभाषिक नाम यज्ञ माना गया¹⁴⁵ है। यह व्याकृत वेद अथवा उसका अव्याकृत रूप (ब्रह्मवेद) वस्तुतः उस परम शक्तिमान् की प्रज्ञान शक्ति है जिसको ब्रह्म अथवा प्रज्ञान-ब्रह्म कहा जाता¹⁴⁶ है। शक्ति का उसके शक्तिमान् से अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतः मनुष्य शरीर में उक्त शक्ति के प्रवेश का अर्थ है उसके शक्तिमान् का भी प्रवेश। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि ब्रह्मवेद (अव्याकृत त्रयी) तथा ऋक्, यजु, साम के उल्लेख के साथ ही ब्रह्म प्रजापति कहकर उसके शक्तिमान् देव तथा उसके अंशभूत आपः (प्राणाः) के प्रवेश की भी चर्चा की गई है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि व्यष्टिगत पुरुष में सूर्य, वात आदि जो ब्राह्मीशक्तियाँ प्रविष्ट हुई उनके कारण उस पुरुष को भी 'ब्रह्म' मान लिया जाता है। इसके भीतर रहने वाली वे देवताएँ (ब्राह्मी शक्तियाँ) उसी प्रकार स्थित बताई जाती हैं जिस प्रकार गोष्ठ में गायें—

तस्मात् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।

सर्वा ह्यस्मिन् देवताः गावो गोष्ठं इवासते ॥ शौ. 11.8.32

गायें (ब्राह्मीशक्तियाँ) और गोष्ठ

उपर्युक्त मन्त्र में जिन देवताओं को गायों के समान गोष्ठ में स्थित बताया गया है वे निस्संदेह मनुष्यव्यक्तित्व की वे शक्तियाँ कही जा सकती हैं जो पूर्वोक्त ब्रह्मजाया अथवा परावाक् से उत्पन्न बताई गई हैं, क्योंकि ब्रह्मजाया मूलतः उभयतः शीर्ष्णी अदिति है जिसको धी, दक्षिणा, क्षत्रिया, यज्ञिया, सुप्राची, सुप्रतीची आदि कहा गया है।¹⁴⁷ अनेक बार उसे गौ के रूप में भी कल्पित¹⁴⁸ किया गया है। इसलिये जब देवताओं पञ्चजनों आदि को 'गोजाताः'¹⁴⁹ कहा जाता है, तो गवेषणा का अर्थ इस महाशक्ति से उत्पन्न सभी शक्तियों का अवेषण होता है। इसी दृष्टि से सप्त को विकरणों का गायों के रूप में प्रस्तुत किया जाना अथवा पणियों द्वारा अपहृत गायों की खोज को भी

समझा जा सकता है। इन गायों का गोष्ठ ऋ. 6. 28 में तो स्पष्टतः मनुष्यव्यक्तित्व ही है जहाँ सभी दिशाओं से आने वाली गायों को गोष्ठ में एकत्र होने के लिये आमन्त्रित करते हुए ऋषि इस प्रकार कहता है—

सभी दिशा से आई गायें कल्याण हमारे लिये किया,
अब वे बैठें गोष्ठ मध्य में, हम सबके हित रमण करें।
प्रजावती बहुरूपा जो थीं यही उषायें वे पूर्वी,
इन्द्र-हेतु निज ज्योति-दुग्ध का दोहन कर वे दान करें ||1||
यज्वा को भरपूर करे जो इन्द्र और फिर शिक्षा दें,
वही अस्मिता का दाता है, नहीं कभी उसका अपहर्ता।
देवभक्ति के रयि का वर्धन, पुनः पुनः कर देता है,
जो विभाज्य अविभक्त उसी में, वह उसको रख देता है ||2||
नहीं नष्ट वे होतीं गायें उन्हें न चोर चुराता है,
शत्रु व्यथा-कारक भी उनको नहीं कष्ट दे पाता है।
जिनके द्वारा देवों का वह यजन-हवन करता रहता,
उन गायों के द्वारा गोपति, सेवा सम्पादन है करता ||3||
उन्हें न अर्वा¹⁵⁰ कभी छेड़ता, रेणुककाट¹⁵¹ न खाता उनको,
संस्कार हेतु वे कहीं न जातीं, बहुगेय अभय मिलता उनको।
यज्वा मनुष्य की गायें वे उसकी अनुचर हो जाती हैं,
जिस प्रभु से अभयदान पाकर वे चिर-निर्भय हो जाती है ||4||
ये गायें भग ज्योति यही है, प्रथम सोम का भक्षण भी,
जो गायें हैं वही इन्द्र, उसका वांछित अन्तर्दर्शन ||5||
कृश को पुष्ट करो हे गायों! करो असुन्दर को तुम सुन्दर।
भद्र हमारा देह गेह हो, सभा प्रशंसित भद्रवाक् गति ||6||
चोर और पापी से शासित, कभी नहीं ये गायें होवें
दूर रहे इन्द्रायुध इनसे कभी न गायें आहत होवें ||7||
इन गायों को मेरा अर्चन, इन्द्र ! हमारा यह पहुँचे
ऋषभ ! तुम्हारे वीरकर्म का, अर्चन भी स्वीकृत हो पहुँचे ||8||

यहाँ सम्पूर्ण सूक्त में जिन गायों का वर्णन है वे कोई देहधारी पशु नहीं हो सकतीं। उनका समीकरण उषाओं के साथ किया गया है, क्योंकि वे उस भग ज्योति से तादात्म्य (मं. 5) रखती हैं जिनसे युक्त होकर हम भगवान् हो सकते¹⁵² हैं। भग शब्द उसी 'भज्' धातु से निष्पन्न है, जो विवेचन¹⁵³ और भजन के अर्थ में प्रयुक्त होती है; इससे व्युत्पन्न 'भक्ति' शब्द को विवेकमयी अर्चना के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। प्रस्तुत सूक्त में प्रकाशस्वरूपिणी इन गायों के लिये जो अर्चना की गई है वहाँ इसी प्रकार की भक्ति है। साथ ही, यही 'अर्चना'¹⁵⁴ इन्द्र को भी समर्पित है, क्योंकि जो गायें हैं वही भग है और वही भगवान् (इन्द्र) भी माना गया¹⁵⁵ है। इससे ध्वनित होता है कि उक्त ज्योति स्वरूपिणी गायें वस्तुतः प्रकाशशक्ति धाराएँ हैं, जो अपने शक्तिमान् (इन्द्र) से अविनाभाव सम्बन्ध रखती हैं। इन शक्ति रश्मियों से साधक अपने आचरण के स्तर पर देव-यजन भी कर सकता¹⁵⁶ है और वही केन्द्रीभूत होकर विज्ञानमयकोश रूपा गोष्ठ में भी एकत्र हो सकती हैं।¹⁵¹

यह गोष्ठ ही वह अविमाज्य (अभिन्न) पद है जहाँ मनुष्य का विश्व (आन्तरिक जगत) एकनीड¹⁵⁸ होकर साधक को समाधि की राह पर ला देता है। व्युत्थान की अवस्था में, वही एकीभूत और अविमाज्य पद विमाज्य (खिल्य) होकर अनेकता की ओर उन्मुख होता है। इसीलिये यहाँ (मन्त्र 2) साधक (देवयु) को जिस 'अभिन्न खिल्य' में स्थापित करने की बात कही गई है उसे ऐसा व्यक्तित्व कह सकते हैं जो 'अविभक्तं विभक्तेषु' का स्मरण कराता है।

दूसरे शब्दों में, वेद की ये गायें ही मनुष्यव्यक्तित्व की उस चरम स्थिति पर पहुँचने का साधन है जिसे वेद में 'परमपद' कहा गया है और जहाँ एकत्रित गायों का 'भूरिशृंगा गावः अयास' कहकर स्मरण किया जाता¹⁵⁹ है। इसी परम पद में स्थित 'मध्वःउत्सः'¹⁶⁰ वह 'प्रथम सोम' है जिसके 'भक्षण' का समीकरण उक्त गायों के साथ किया गया¹⁶¹ है। अभिप्राय यह है कि उक्त गायों के एकीभूत रूप की अनुभूति आनन्द-सोम का प्रथम आस्वादन है, जो हिरण्यकोश में ब्रह्मात्म सायुज्य होने पर प्रथम सोम के रूप में उपलब्ध होती है। सोम और उक्त गायों के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही इन्दु (सोम) को 'गवाम् पतिः' भी कहा¹⁶² गया है। ज्योतिष्मती चेतनाधाराओं के रूप में कल्पित ये गायें, इस दृष्टि से, अपने समाधिस्थ रूप में जहाँ आनन्दधारा की समष्टि में परिणत होकर प्रथम सोम का भक्षण कही जा सकती हैं वहीं उस सोम को उन गायों (धाराओं) का पति (स्वामी या पालक) भी कहा जा सकता है। यहाँ प्रथम सोम जब हिरण्यकोश से अवतीर्ण होता हुआ नानात्व ग्रहण करता है, तो उसे 'गायों' का एक ऐसा 'पोष' माना जाता है, जो सैकड़ों गायों से युक्त होने के साथ ही सुब्रह्म रूप अश्व से युक्त होने के कारण 'सु-अश्वम्' तथा पूर्वोक्त भग से समीकृत होने से 'भगत्तिम्'¹⁶³ भी है।

इस प्रकार, ब्रह्मानन्द रूप सोम के जो भगत्ति, शतग्विन तथा स्वश्व भेद से तीन रूप यहाँ वर्णित हुए हैं उनके संदर्भ में ऊँ, तत् तथा सत् नाम से गीता¹⁶⁴ में उल्लिखित ब्रह्मवादियों का वह त्रिविध ब्रह्म-निर्देश स्मरणीय है जिसकी तुलना वेद¹⁶⁵ के ऊँ, ऊँ तत् और ऊँ सु से ग्रन्थ के प्रथम¹⁶⁶ अध्याय में गई है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वेद का 'ऊँ सु' ही गीता का 'ऊँ सत्' है। सोम को उक्त गायों से उद्भूत 'पोष' कहने का अर्थ है कि वे गायें ब्राह्मी चेतना-धारायें हैं जो ब्रह्मानन्दरूप पोषक सोम में परिणत हो जाती हैं। त्रिविध ब्रह्म-निर्देश के प्रसंग में, जहाँ 'सु अश्व' सोम को वेद के 'ऊँ सु' अथवा गीता के 'सत् ब्रह्म' से समीकृत कर सकते हैं वहीं उसके 'शतग्विन्' रूप को 'ऊँ तत्' के साथ ले सकते हैं। इस स्तर पर भग ज्योति की अनेक सूक्ष्म रश्मियाँ रूप गायों के कारण ही उसे 'शतग्विन्' कहा जा सकता है। ये रश्मियाँ स्थूल स्तर पर जिस इन्द्रिय ग्राह्य आनन्द-सोम में परिणत होकर 'गवां पोष' कहलाती हैं वही स्थूल शरीर के कण कण में व्यापनशील होने के कारण 'अश्व व्याप्तौ' से निष्पन्न 'अश्व तथा 'ऊँ सु' (सुब्रह्म) के सन्दर्भ से 'सु अश्व' नाम ग्रहण करता है। 'ऊँ ब्रह्म' के स्तर पर वही आत्यन्तिक रूप में भजनीय होने के कारण 'भगत्ति' कहलाता है। यही अन्यत्र 'सविता भगः'¹⁶⁷ अथवा 'सवितुर्वरेण्यम् भर्गः'¹⁶⁸ भी कहा गया है। इसी के सन्दर्भ में साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' शिरोधार्य अनुभूति करता है जिससे पुरुषकोशिक मनुष्य शरीर के अन्तस्तम कोश (हिरण्यकोश) का वेद¹⁶⁹ या हिरण्यकोश सोम¹⁷⁰ कहा जा सकता

है। विज्ञानमयकोश में चेतना-धाराओं रूप गायों के गोष्ठ के निर्माण होने के उपरान्त ही अन्तस्तम कोश की ओर साधक अग्रसर होता है।

अस्तु, यहाँ हमने मनुष्यव्यक्तित्व में स्थित जिस गोष्ठ की गायों को ब्रह्मानन्दरस रूप 'भगति' अथवा हिरण्यय सोम में परिणत होते हुए पाया, वह प्रस्तुत गवेषणा का एक प्रमुख लक्ष्य है। इसी गवेषणा का विषय वे गायें हैं जो पूर्व अनूदित सूक्त (ऋ. 6.28) में षाट्कौशिक शरीर की विविध दिव्य शक्तियों के रूप में वर्णित हैं। साथ ही, इन्हीं गायों का समीकरण इन्द्र, भग तथा प्रथम सोम के भक्षण के साथ करके गायों के एकीभूत स्वरूप की ओर इंगित कर दिया गया है। यही चेतना का वह अखण्डित रूप है जिसे पहले अदिति, परावाक् अथवा पूर्वा भूमि भी कहा गया है। यही अपनी बहिर्मुखी गति ग्रहण करके नानात्वमयी सृष्टि करने के कारण ब्रह्मजाया कही जाती है। सत् और असत् दोनों की जननी यही होने से उसमें किल्बिष की भी कल्पना की गई और उसे किल्बिष रहित करने की भी चर्चा हुई। किल्बिष-रहित होने पर ब्राह्मण ही उसका एकमात्र पति होता है, सूर्य यह रहस्य पञ्च मानवों को उद्घाटित करता है:-

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।

तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ शौ. 5.17.9

ब्राह्मण से अभिप्राय वस्तुतः ब्रह्मा से है, जैसा कि उक्त मन्त्र से पूर्व स्पष्ट कहा गया है-

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।

ब्रह्मा चेद्वस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा शौ. 5.17. 8

पञ्चमानवों से क्या अभिप्राय है? इन से उक्त बात कहने वाला सूर्य क्या है ? दश अब्राह्मण स्त्रियाँ कौन हैं और कौन हैं दश अब्राह्मण पति ? इन प्रश्नों का उत्तर आगामी अध्याय में है।

सन्दर्भ

- 1 अथातः संहितायाः उपनिषदं व्याख्यास्यामः । तैउ. 1.3
- 2 ऋ. 8.96.2; शौ. 7.79.2; वा 18.39;25.58; 3 .22.
- 3 वेद सविता (दयानन्द स्वप्नाङ्क), पृ. 14 : प्रकाशक- वेदसंस्थान, राजौरी गार्डन नई दिल्ली (1983)
- 4 ऋ. 10.191
- 5 असौ वा आदित्यो बोधः। काठ. 37.1
- 6 तैउ. 3.24-25
- 7 तैउ. 2.1-5
- 8 साम एवं अहं संहिताम् मन्ये। शांआ. 7.14
- 9 समत्वं योग उच्यते । श्रीमद्गी. 2.48
- 10 पांक्तोऽयं पुरुषः पञ्चधा विहितः। ऐ. 2.14-6.29,
- 11 ब्रह्म पांक्तम् *CC-0. In Public Domain.*
- 12 अदितिस्ते बिलं ग्रहणातु पांक्तेन छन्दसा। तैसं. 5.6.10.3

- 13 ऋ. 10. 155. 3
- 14 श्रीमद्गी. 13.16; ऋ. 6.28
- 15 तैउ. 2.1.6
- 16 ऋ. 3.60.3-5
- 17 एकोऽवर्णः बहुधाशक्तियोगात् । श्वे.4.1
- 18 Spectrum of conciousness by Ken Silver
- 19 'वेद में हिरण्य का प्रतीकवाद' जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध (1987) (अप्रकाशित)
- 20 शौ. 19. 72.1
- 21 इस प्रसंग में 'वीर्य' पद को विभक्तिरहित रूप में ही अन्तोदात्त माना है।
- 22 शौ. 19 .9.12; 7.28.1
- 23 जै. 2.226; माश. 7. 3 .2. 9
- 24 माश. 1.1.4.3
- 25 शौ. 19.58.5
- 26 शौ. 19.58.3
- 27 तु. माश. 4.5. 2.5
- 28 स घृङ्ङ.करोत् तद्घृतस्य घृतत्वम् । काठ. 24.7; क. 37.8
- 29 घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती । श्रोत्रं चक्षुः प्राणोच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ।। शौ. 19.58.1
- 30 माश. 3.1.3.25
- 31 माश. 10. 2 .1 .2
- 32 येन (मनसा) यज्ञस्तायते सप्तहोता (काठ. संक 34.2); प्राणैः यज्ञस्तायते । जै. 2.431; काठ संक 34.2
- 33 वेदः स्वस्तिर्दुधेनः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नःस्वस्ति । हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ।। शौ. 7.29.1
- 34 स देवान् अब्रवीत् एतेन यूयं त्रयेण वेदेन यज्ञं तनुध्वमिति । जै. 1. 358
- 35 तदाहुः किं तत् सहस्रम् । इतीमे लोका इमे वेदा अथो वागिति ब्रूयात् । ऐ 6.15
- 36 मनो ब्रह्मा । गो. 1.2.11; तैआ. 10.64.1
- 37 मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा माश. 14.6.1.7
- 38 ऋ. 2.1. 2-3; सा. 1. 94
- 39 तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः । शौ. 10.2.8
- 40 कति देवाः कतमे आसन् । शौ. 10. 2 .4
- 41 मैसं 3 .6. 9
- 42 शौ. 19 .9. 12
- 43 वही 19 .9. 13
- 44 अष्टाचक्रं वर्तते एकनेमिः सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा । शौ. 11. 4 .22
- 45 यं कुमार नव रथमचक्रं मनसाकृणोः । एकेष विश्वतः प्रांचमपश्चन्नधि तिष्ठसि ।। ऋ. 10.135.3
- 46 उषसः पूर्वा अध यद्वयुषुर्महद्विजज्ञे अक्षरं पदे गोः । वही, 3.55.1
- 47 गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी । अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।। ऋ.1.164.41; तु. तै.आ. 1.9.4
- 48 माश. 14. 4. 22-24 Shri Vipin Kumar Col. Deoband. In Public Domain.

- 49 प्राणा वै सजाताः। तैसं. 2.6.9.7
 50 प्राणैः हि सह जायते माशः। 1.9.1.15
 51 मारुताः सजाताः तैसं. 2.2.11.4; काठ. 10.11
 52 विश्वेदेवा वै सजाताः तैसं. 2.1.6.4; काठ. 12.7
 53 स हि सत्यो यं पूर्वे चिददेवासश्चिदयमीधिरे। होतारं मन्द्रजिहमित्सु-
 दीतिभिर्विभावसुम्॥ ऋ. 5.25.2
 54 देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वमुक्षत्राय ममिरे सहांसि। ऋ. 7.21.7
 55 ऋ. 9.96.11
 56 मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। ऋ. 3.55.2;
 ऋ. 1.62.2; तु. ऋ. 9.97.39
 57 ऋ. 10.130.6
 58 ऋ. 1.164.50; 10.90.7; 16
 59 तै. 1.1.9; 1.3
 60 ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते। न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु
 शुश्राव कश्चन॥ शौ. 11.4.25
 61 ताम्यो वर्षत। तत ओदनो जायत। तमशित्वा उदानन् स उदनोऽभवत्।
 तदुदनस्य उदनत्वम्। उदनो ह वै नामैष तमोदन इति परोक्षमाचक्षते। जै. 3.
 346
 62 येनातरन् भूतकृतोति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण। यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं
 तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ शौ. 4.35.2
 63 अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु। ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि
 शृण्वन्तु मे श्रद्धाधानस्य देवाः॥ शौ. 4.35.7
 64 शौ. 11.3.32-49; (11.4.1-18)
 65 निराविध्यदिगरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्॥ ऋ. 8.77.6
 66 वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे। ऋ. 8.76.12
 67 ऋ. 1.164.41
 68 शौ. 11.3.4
 69 शौ. 3.8.1-2
 70 प्राणो मित्रः। जैउ. 3.1.3.6
 71 मित्रः सत्यानाम्। तैसं. 1.8.10.2; 3.4.5.1; सत्यं वै मित्रः मै.सं. 4.3.9
 72 मित्रौ वै यज्ञस्य शान्तिः। काठ 35.19, क. 48.17
 73 मित्रेणैव यज्ञस्य स्विष्टं शमयति। तै. 1.2.5.3; मित्रौ वै यज्ञस्य स्विष्टं ग्रहणाति
 काठ 29.4 जै. 2.230
 74 सर्वस्येव मित्रो मित्रम्। माश. 5.3.2.7
 75 मित्रोऽब्रवीन् मित्रोऽहं अस्मि नाहं (वृत्र) हनिष्यामि। मै.सं 4.5.8
 76 काठ 25.10; 27.4; क. 40.34
 77 ऋ. 4.41.2
 78 माश. 9.5.1.35
 79 तैसं. 2.3.4.1; मैसं 2.3.6
 80 यो ददाति सो अर्यमा। तै.सं. 2.3.4.1; मैसं. 2.3.6
 81 मैसं. 4.3.10; तै. 2.3.5.4
 82 त्वमंशो विदथे देव भाजयु। ऋ. 2.1.4

- 83 एतौ (अंशञ्च भगं च) यज्ञेन अंशप्राप्तौ अंशस्य भागधेयं जनं भगोऽगच्छत्।
मैसं. 1.6.12
- 84 भग एव भगवानस्तु तेन वयम् भगवन्तः स्याम। ऋ. 7.41.5
- 85 वासं. 1.1.1; काठ. 30.10; क. 46.8; तै 3.2.1.4; माश. 1.7.1.5; तु. 4.1.1
- 86 ऋ. 10.125.1
- 87 वृष्णः ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि (वासं. 10.2) इस मन्त्र में 'मे' पद द्वारा व्यष्टि और 'अमुष्मै' से समष्टि अभिप्रेत है।
- 88 इममिन्द्रो अदधिरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। तस्मै सोमो अधि ब्रवत्तस्मा उ ब्रह्मणस्पति॥ ऋ. 10.173. 3
- 89 एतत् खलु हविर्यत् सोमः(मैसं. 4.5.3) एष वा उत्तमः हविर्यत्सोमः (माशः 3.9.45)
- 90 इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणै संविदानेः। स त्वायमहत् स्वे सधस्थे, स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥ शौ. 3.4.6
- 91 आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचलाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ ऋ.10.173.1
- 92 इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलिः। इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ राष्ट्रमु धारय॥ ऋ. 10.173. 2
- 93 ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्॥ ऋ. 10.173.4
- 94 ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः। ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥ ऋ. 10.173.5
- 95 'केवलीः विशः' निःसंदेह परब्रह्मरूप इन्द्र की शक्तियों के लिये प्रयुक्त है, क्योंकि 'केवलः' विशेषण ऋग्वेद में इन्द्र का ही विशेषण (ऋ. 1.7.10; 13.10; 4.25.7; 7.98.5) है और वही 'उक्था केवला' को धारण करने वाला (ऋ. 8.5.2. 37) है तथा वही 'सुधे पक्तिम्', को 'केवला' (ऋ. 4.25.6) करने वाला है। 'एकम् अयज्ञम्' का अकेले वध करने से संबंधित जो 'एता त्या श्रुत्यानि' है वह भी 'केवल' इन्द्र की हैं (ऋ. 10.138.6)। ब्रह्मरूप केवल इन्द्र के संदर्भ में 'केवल्य पद' की कल्पना प्रचलित हुई जिसे 'परम धाम' का पर्याय माना जाता है।
- 96 ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि। अथो त इन्द्र केवर्त्तीविशो बलिहृतस्करत्। ऋ. 10.173.6
- 97 अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय॥ ऋ. 10.174.1
- 98 येनेन्द्रो हविषा कृत्यभवद् द्युम्युत्तमः॥ ऋ. 10.174.4
- 99 ऋ. 10.174
- 100 अभीवृत्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यो पराभुवे॥ शौ. 1.29.4
- 101 ऋ. 9.107.4 तुलनीय-विष्णोः पदे परमे मध्य उत्सः। ऋ. 1.154.5
- 102 अभि ब्रह्मीरनूषत यस्त्रहर्तस्य मातरः। मर्मज्यन्ते दिवः शिशुम्॥ ऋ. 9.33.5
- 103 ऋ. 6.45.9-10; 24
- 104 ऋ. 6.45.19
- 105 ऋ. 10. 89. 5
- 106 वही, 9. 1. 2; 37. 3; 67.20

- 107 वही, 9.28.6
 108 वही, 10.25. 7
 109 वही, 9.66.16-17
 110 वही, 10.89 .5
 111 अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून्। अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भर त्वं च मे॥ ऋ. 10. 83. 3
 112 मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो, मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः। मन्युं विशः ईळते मानुषीर्या पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः॥ ऋ. 10.83.2
 113 अभिप्रेहि दक्षिणतो भवा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि। जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभा उपांशु प्रथमा पिबाव॥ ऋ. 10 .83. 7
 114 ऋ. 10.83.1; 84.6
 115 ऋ. 10.83.2
 116 देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्। शौ. 9.14.18
 117 विदमा तमुत्सं यत आबभूव। ऋ. 10.84.5
 118 शौ. 9.14.10; 16
 119 य. 34.1
 120 यन्मन्युर्जायाभावहत्संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ शौ. 11.8.1
 121 ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्। शौ. 11.8.2
 122 ऋ. 10.109
 123 शौ. 5.17
 124 देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः। भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धा दधाति परमे व्योमन्॥ ऋ. 10.109.4
 125 शौ. 11. 8-10
 126 अनेन च सूक्तत्रयेण षाट्कौशिकस्य तस्य शरीरस्य मध्ये प्रविष्टं ब्रह्मुपदेश्यन् तस्य शरीरस्य तत् साधनभूता इन्द्रियाणाञ्च - उत्पत्तिं - तदुपायभूतासृष्टिमुपोदधातयति। साभा. शौ. 11.8.1
 127 प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। व्यानौदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ शौ.11.10(8).4
 128 अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः। इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत॥ वही 5.
 129 तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत्॥ वही 6.
 130 येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्वातयः इद् विदुः। यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ वही 7.
 131 कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत। कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाता जायत॥ शौ. 11.10(8).8. इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत। त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत॥ वही 9.
 132 शौ. 11.10(8).11-13.
 133 वही, 14.15
 134 वही 16
 135 द्र. सा. भा. 11.8.1; 17

- 136 द्र. सा. भा. 11.8.1;17
 137 वाग्वै त्वष्टा वाक् हि इदं सर्वं त्वाष्टीव । ऐ. 2.4
 138 शौ. 11.10.(8).8
 139 वही
 140 वही
 141 शौ. 11.10.(8).19-22
 142 शौ. 11.10.21-23 तु. त्रयी वै विद्या ऋचो यजूषि सामानि । माश. 4.6.7.1
 143 एतावान् वै यज्ञो यावत्येषा त्रयी विद्या । तया त्र्यया विद्यया यज्ञं तन्वते ।
 माश. 7.5.3.8
 144 सैषा त्रयी विद्या यज्ञः । माश. 1.1.4.3
 145 तुलनीय शौ. 19.68.1; 72.1 जहाँ अन्तस्तम कोश से वेदोद्धार करके इष्टकर्म
 (इष्टि-यज्ञ) करने की चर्चा है ।
 146 शौ. 11.8.30 या 11.10.30
 147 चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियादितिरस्युभयतः शीर्ष्णी । सा
 नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा यदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥
 वा. 4.19
 148 अदितिर्गोः । माश. 2.3.4.3-4; 14.2.1.7; तु. वशा गौ जिससे विविध सृष्टि होती
 है । शौ. 10.4;12.4 इत्यादि
 149 ऋ. 6.50.11; 7.35.14; 10.53.5
 150 असुरों को वहन करने वाला घोड़ा -अर्वा असुरान् अवहत् । तै. सं. 7.5.25.
 3;माश. 10.6.4.1
 151 धूल उड़ाता हुआ चीता
 152 भग एव भगवान् अस्तु तेन वयं भगवन्तः स्याम । ऋ. 7.41. 5
 153 विश्राणनं विवेचनमित्येके । क्षीरतरंगिणी 10.179; सं. धातुकोश, पृ. 83
 154 द्र. प्रस्तुत सूक्त का मन्त्र 8
 155 मन्त्र 5
 156 मन्त्र 3
 157 मन्त्र 1
 158 वा. 32. 8
 159 ऋ. 1.154.6
 160 वही 5; स्मरणीय है कि वेद में सोम के लिये प्रायः मधु शब्द का प्रयोग हुआ
 है ।
 161 ऋ. 6.28.5
 162 ऋ. 9.72.4
 163 ऋ. 9.65.17
 164 श्रीमद्गी. 17.23
 165 ऋ. 3.62.10
 166 ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में टिप्पणी संख्या 12
 167 ऋ. 7.38.1 तु. भग एव भगवान् । ऋ. 7.41.5
 168 ऋ. 3.62.10 तु. सर्वं देवस्य सवितुः । ऋ. 7.38.4
 169 शौ. 19.72.1
 170 ऋ. 9.107.4.

तृतीय अध्याय

आत्मा, मनु, मानव और मानुषी प्रजायें

प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में मनुष्यव्यक्तित्व के षट्कोशों के वर्णन में यह स्पष्ट हो चुका है कि अपुरुष परब्रह्म जन-जन के हिरण्यकोश में आत्मा के साथ सायुज्य स्थापित करके ब्रह्मरूप में विराजमान है। वस्तुतः ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त आत्मा ही आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय कोशों का अन्तरात्मा कहलाता है। मन, प्राण तथा अन्नमय कोश के स्तर पर तो इच्छाओं, क्रियाओं आदि के नानात्व के कारण आत्मा की बहुविधता रहती है, किन्तु विज्ञानमयकोश में वह अनेकता एकता में परिवर्तित होने लगती है। अतः वेद में इस कोश को बिखराव समेटने वाले गोष्ठ के रूप में कल्पित किया जाता है। इसके अतिरिक्त आत्मा का एक भिन्न चित्र भी प्राप्त होता है जिसमें उसे जातवेदस् अग्नि भी कहा जाता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र विशेषतया उल्लेखनीय है इसका ऋषि और देवता भी आत्मा ही माना गया है:-

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ऋ.3.26.7

जन्मना जातवेदा

उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार, आत्मा त्रिधातु अर्क (प्राण¹) है। मन्त्र में उसकी तीन धातुओं की ओर संकेत करने के लिये तीन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। आत्मा के ज्ञान पक्ष की ओर चक्षु शब्द इंगित करता है, तो आस्यगत अमृत शब्द उसके भावना-पक्ष का प्रतीक है। रजस् को विविध रूप देने वाला (विमानः) बताकर उसके क्रिया पक्ष को प्रस्तुत किया गया है और आत्मा इन तीनों पक्षों को धारण करने वाली इकाई के रूप में एक 'अजस्र घर्म हवि' है। जातवेदस् अग्नि अथवा आत्मा की इसी त्रिविधता को एक अन्य रूप से ऋ. 3. 22 में प्रदर्शित करते हुए कहा है:-

अयं सोऽग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रःसुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रिणं वाजमत्यं न सप्तिं ससवान् सन् स्तूयते जातवेदः ॥ ऋ.3.22.1

यहाँ पर उसको (अग्नि अथवा आत्मा) एक ऐसे इन्द्र के रूप में चित्रित किया गया है, जो स्वयं सोम को उदरस्थ किये हुए अग्नि के भीतर विराजमान है। इसमें सोम आत्मा का भावपक्ष, तो अग्नि ज्ञानपक्ष माना जा सकता है और इन्द्र को क्रियापक्ष कह सकते हैं। इस प्रकार, प्रस्तुत मन्त्र में आत्मा को सोम, अग्नि और इन्द्र की एक संयुक्त इकाई के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरे शब्दों में, यह जातवेदस् अग्नि पूर्वोक्त 'त्रिधातु अर्क प्राण' का ही एक अन्य रूप है। पूर्वोक्त मन्त्र में इस अर्क प्राण को 'जन्मना जातवेदा' कहा गया है। यहाँ प्रयुक्त जातवेदा शब्द अर्थतः वेद के जन्म की ओर संकेत करता है। वेद वेद मन्त्रों के द्वारा प्रकट होता है जिसका उद्भरण अथवा जन्म आनन्दमयकोश में होता है। इसी स्तर पर प्रथमतः

प्रकट होने से हिरण्यकोशस्थ 'वेद' को 'वेदस्' के नाम से एक आध्यात्मिक³ धन के रूप में कल्पित किया गया है। यही वेदस् प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् में विद्यमान 'अर्य वेदस्'⁴ है जिसकी याचना इन्द्र से की जाती है। क्रियापक्ष की दृष्टि से इसी को इन्द्र प्राण के रूप में उत्पन्न माना जा सकता है।⁵ यही भावपक्ष की दृष्टि से सोम⁶ और ज्ञानपक्ष की दृष्टि से अग्नि⁷ भी कहा जा सकता है, क्योंकि पूर्वोल्लेख के अनुसार, यह प्राण अथवा आत्मा इन्द्र, सोम और अग्नि का एक त्रिधातु अर्क है। इसी दृष्टि से, ऋग्वेद में सोम को अग्नि नाम से सम्बोधित किया गया है और साथ ही उसे 'अग्निर्ऋषिः पवमान'⁸ अथवा 'पवमान इन्द्र'⁹ भी कहा गया है।

आनन्दमयकोश में जायमान होने से पूर्व वही संयुक्त तत्त्व हिरण्यकोश में गर्भस्थ माना जाता है जिसका वर्णन ऋग्वेद के दो सूक्तों¹⁰ में किंचिद् विस्तार के साथ दिया गया है। गर्भ में स्थित, उत्तम पुरुष में बोलता हुआ, वही श्येन रूप धारण कर सोम को लेकर नीचे की ओर आता है। वही मनु, सूर्य और कक्षीवान् ऋषि हो जाता है और वही मनु के लिये सोम लाता है। आत्मतत्त्व के त्रिधातुस्वरूप को न समझने के कारण विद्वानों में उक्त दोनों सूक्तों के विषय में पर्याप्त वादविवाद¹¹ हुआ है। कुछ विद्वान् प्रथम पुरुष में बोलने वाले गर्भस्थ वक्ता को इन्द्र मानते हैं, तो अन्य सोम और कोई उसे श्येन कहता है। वस्तुतः हिरण्यकोश में जो गर्भस्थ तत्त्व अद्वैत रूप में स्थित था, वह आनन्दमय कोश में त्रिधातु मद¹² या मधु होकर आता है और वही 'त्रिधातुः अर्कः जातवेदाः' कहलाता है। वही तत्त्व विज्ञानमयकोश से मनोमयकोश¹³ में अवतरित होकर नाना रूपों में अभिव्यक्त हो जाता है। इस बहुविध अभिव्यक्त रूप के कारण ही जातवेदस् अग्नि को 'बहुधा प्रविष्टम्'¹⁴ कहा गया है। मनोमय, प्राणमयादि निम्नकोशों में इच्छाओं, क्रियाओं आदि की अनेकता में आसक्तिजन्य अन्धकार का साम्राज्य रहता है; अतः जातवेदस् से कहा जाता है कि तुम जिस अन्धकार में निवास कर रहे हो उससे निकलकर बाहर आओ; देवकाम और यज्ञकाम मनु होकर देवयानों को सुगम पथ में परिणत करो।¹⁵ इसी आह्वान को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हुए अग्नि से मनु होकर दैव्य जन को उत्पन्न करने की प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है:—मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् (ऋ.10.53.6)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त देवयु और यज्ञकाम होना और दैव्यजन को जन्म देना, एक ही आध्यात्मिक प्रक्रिया की ओर संकेत कर रहे हैं, क्योंकि दैव्यजन आनन्दमयकोश का वही आनन्द है जिसे 'त्रिधातु मधु' या अर्क भी कहा गया है और जिसकी प्राप्ति में व्यक्ति वासना रहित होकर 'इदं न मम' कहते हुए अपने कर्म को श्रेष्ठता प्रदान करके उसे यज्ञ में परिणत करने का अभ्यास करता है।

विवस्वत् मनु से वैवस्वत की ओर

इस प्रकार के विवस्वत् (वासनारहित) व्यक्तित्व में 'शम्भू अश्विनौ' मनुष्यत् सोमपान के लिये आते¹⁶ हैं। यही विवस्वत् व्यक्तित्व वह मनु है जिसमें इन्द्र सोम पीता है। वासनारहित व्यक्तित्व का वह सोम वस्तुतः भगवत्प्रेम है, जो वासनारहित्य होते ही उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसी सोम को विवस्वत् की बुद्धियाँ (धियः) देवता-कर्मकी¹⁷ हैं, जो वासनारहित्य के द्वारा विवस्वत् की नप्तियों के रूप में कल्पित करके उनके द्वारा उक्त सोम का मार्जन होता हुआ

कहा जाता है।¹⁸ मन सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ ऋ. 9.66.8 की 'सप्तजामयः' हैं जो अपनी धियों द्वारा (धीभिः) विप्र को 'ऊँ विवस्वत्' के मार्ग पर अग्रसर करती¹⁹ हैं। इस मार्ग का गन्तव्य ब्रह्मानन्द सायुज्य वाला हिरण्यकोश है। यही वह विवस्वत् नाभि है जहाँ कवि की क्रान्तदर्शिनी नव्यसी वाक् निबद्ध होती है²⁰। हिरण्यकोश ही एक ऐसा विवस्वत् सदन है जिसमें सभी देव मादन करते हैं और धारण किये जाते हैं।²¹ इसी विवस्वत् सदन से 'कारु' आपः की उत्तम महिमा का वर्णन करता है।²² इसी स्थान से जातवेदस् अग्नि उषा का विवस्वत् राधस ला सकता है²³ और यही विवस्वती उषा नामक ब्राह्मी ज्योति का वह स्रोत भी है जिसकी प्राप्ति के लिये साधक संयम मार्ग (यामन्) को अपनाता है।²⁴ दूसरे शब्दों में, हिरण्यकोश में जाकर विवस्वत् मनु अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर 'वैवस्वत् मनु' के रूप में परिणत हो जाता है। यही उसके संयममार्ग (याम) की परिणति होने से वह वैवस्वत यम भी होता है।

विवस्वत् का वैवस्वत् में परिणत होने का अभिप्राय है समाधि अवस्था में आना। व्युत्थान अवस्था में वही मनु जब निम्न कोशों की ओर अवतरित होता है, तो मनुस् नाम ग्रहण करता है। अपने प्रथम रूप में वह जिस अग्नि को प्रदीप्त करता है उसी में मनुष्वत् यज्ञ किया जाता है।²⁵ अपने ऊर्ध्व मन से मनु जिस अग्नि को प्रदीप्त करके समिद्धाग्नि होता है उसमें सम्पादित होने वाले यज्ञ को 'प्रथमा होत्रा' कहा²⁶ जाता है और उसमें आहुति प्रदान करने वाले सप्तहोता अहंबुद्धि, मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। यह यज्ञ उकारान्त मनु के द्वारा सकारान्त (मनुस्) रूप ग्रहण कर उसकी अवतरण यात्रा का प्रारम्भ है। इसी यात्रा में वह उस दैव्य जन को अवतरित करता है जिसे उत्पन्न करने के लिये जातवेदस् (आत्मा) से मनु होने की प्रार्थना की गई थी। मनुस् द्वारा आनीत दैव्यजन वस्तुतः हिरण्यकोश का वह प्रज्ञान ब्रह्म है जिसको 'जोहुत्रो अग्निः प्रथमः' तथा 'अमृतो विचेता' कहा जाता²⁷ है। यह मनुस् कोई अन्य नहीं अपितु उकारान्त मनु ही है, जो हिरण्यकोश के प्रज्ञान-ब्रह्मरूप अग्नि को लेकर अपनी अवतरण यात्रा प्रारम्भ कर रहा है, इसीलिये अग्नि को 'मन्विद्ध' कहकर उत्तर मनु द्वारा देवों के लिये प्रदीप्त हुआ बताया²⁸ गया है। इस प्रकार 'उपर मनु' (उकारान्त) को ही इस ब्रह्माग्नि को समिद्ध करने का श्रेय प्राप्त होता है, परन्तु इस अग्नि में जिस प्रकार यज्ञ करने का दायित्व सकारान्त मनु (अवर) वहन करता है उसी प्रकार वह अब अपनी ऊर्ध्वमुखी यात्रा में उस अग्नि को पुनः अधिकाधिक प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील भी होता है। इसी दृष्टि से अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि:- 'हे अग्नि! हम लोग अपनी ऊर्ध्वमुखी यात्रा में तुम्हें धारण करें और अवतरण यात्रा में भी उसी प्रकार समिद्ध करें।' ²⁹

उस अग्नि को पूर्ण (अनून) रूप में प्राप्त करने का अर्थ है ब्रह्मसायुज्य की उपलब्धि और 'उपर मनु' के सदृश (मनुवत्)³⁰ बोलना अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा करना। इस उपलब्धि के उपरान्त होने वाली अवतरण यात्रा में उसकी साधना को भृगुवत्, मनुष्वत् और अंगिरस्वत् कहा³¹ जाता है। इसी साधना को हम वह आध्यात्मिक सृष्टि कह सकते हैं जिसके फलस्वरूप हिरण्यकोश से अवतरित होने वाला प्रज्ञान-ब्रह्म हेतु, मन, संज्ञान, आकाश, मिश्रण, लोघ, बुद्धि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु तथा काम आदि रूपों में आविर्भूत³² होकर

मनुष्य का उपास्य चैतन्य बनता है। दूसरे शब्दों में, यह प्रज्ञान ब्रह्म रूप अग्नि वह ज्ञानाग्नि है जिसके व्रत में मरुत् प्राण 'विदमनाऽपसः कवयः' हो जाते हैं और जो स्वयं 'प्रथम अंगिरा' ऋषि कहलाता है।³³ यही वह प्रथम अंगिरस्तम है, जो मनुष्य के लिये अनेक रूप धारण करने वाला 'मेधिर' कहा जाता³⁴ है। इसी प्रज्ञानाग्नि को प्राप्त करके समस्त लोक 'प्रज्ञाननेत्र' हो सकता है³⁵।

यह प्रज्ञानाग्नि द्विमाता है, जो अपनी एक माता के परिप्रेक्ष्य में ऊपर से नीचे (परस्तादधः) की ओर गतिशील होता³⁶ है। दूसरी माता के सन्दर्भ में उसे बुध्न से अग्र की ओर गति करने वाला कहा जाता है।³⁷ अपनी इस द्वितीया गति से जब वह निम्नस्तरीय तमसु से निकलकर ऊर्ध्व गति करता है तभी पूर्वोक्त मनु संज्ञा ग्रहण करके प्रज्ञान रूप दैव्य-जन को उत्पन्न करता है; फलस्वरूप मनुष्यत् साधना प्रारम्भ होती है। इस प्रकार मनुवत् और मनुष्यत् नामक दो पक्षों के आधार पर ही क्रमशः मानव और मानुष स्तरों की कल्पना की गई है, तदनुसार दैवी विशः एवं मानुषी विशः नाम से द्विविध प्राण प्रजाओं की अवधारणा उत्पन्न हुई। इन्हीं दो चेतना धाराओं को द्यौ तथा पृथिवी अभिधान से युक्त कर द्यावापृथिवी युग्म के सन्दर्भ से अग्नि को पूर्वोक्त द्विमाता विशेषण दिया गया। इसी प्रसंग में मनुष्य आत्मा को उभयजन्म के लिये तृषित बताया गया है और अग्नि को क्रमशः 'मयः' (आनन्द) तथा 'प्रयः' (प्रयास, कर्म) दोनों का कर्त्ता माना गया।³⁸ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त जातवेदस् से उद्भूत मन तत्त्व अपने द्विविध रूप में एक ओर तो आनन्दमय चेतना रूप 'मधुपृचम् अग्निम्' को अवतरित करता है, तो दूसरी ओर निम्नतर कोशों की प्राणशक्ति को हिरण्यकोशगत ब्रह्म के साथ योगस्थ होने के लिये प्रेरित करता है।

इस प्रकार, वेद ने योग और यज्ञ (कर्म) को सम्मिलित कर मनुष्यव्यक्तित्व के लिये जिस समन्वित साधना को प्रस्तुत किया, वह भारतीय जीवन-दर्शन की आधारशिला बन गई। इसी को भगवद्गीता में योग-यज्ञ, अनासक्ति-योग तथा निष्काम कर्म-योग आदि के नामों से अभिव्यक्त किया है। इस आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक मनु कोई शरीरधारी ऐतिहासिक पुरुष नहीं हो सकता, अपितु वह तो मनुष्यव्यक्तित्व का वह चेतन तत्त्व है जिसका आविर्भाव मन पर अंकुश रखने वाले मनस्वी साधक के अन्तस् में ही सम्भव है और उसी में वह स्थायित्व ग्रहण कर सकता है।³⁹ ऐसा साधक संयम मार्ग (यामनि) पर अग्रसर होता हुआ 'पूर्वचित्' (ब्रह्मात्म-सायुज्य बोध) और इष्टि कर्म (यज्ञ कर्म) दोनों के लिये द्यावापृथिवी युग्म से प्रार्थना करता है कि वह उसे 'सुरुचं घर्म' प्रदान करे।⁴⁰ इसके साथ ही अश्विनौ से भी प्रार्थना है कि वे उन 'ऊँ सु' ऊतियों के साथ आवें जिनके द्वारा वे साधक को अंश (सुब्रह्म चेतना का अंश) के लिये प्रेरित करते हैं। द्यावापृथिवी युग्म और अश्विनौ युग्म का एक ही सन्दर्भ में उल्लेख होना ब्राह्मण-ग्रन्थों की इस धारणा को पुष्ट करता है कि वे दोनों एक ही हैं।⁴¹ दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि द्यावापृथिवी रूप में जो युग्म प्रत्यक्ष है परोक्ष में वही हिरण्यकोश का अश्विनौ युग्म है जिसे दैव्यजन (प्रज्ञानाग्नि) का मन्थन करने वाली दो हिरण्ययी अरणी भी कहा जा सकता है।⁴²

दैव्यजन की अवतरण यात्रा

उक्त प्रज्ञानब्रह्म रूप दैव्यजन की प्रत्यक्ष अवतरण यात्रा का विवरण पूर्वोक्त ऋ. 1.112 में प्राप्त होता है। सूक्त का प्रारम्भ अश्विनौ का प्रत्यक्ष रूप माने गये द्यावापृथिवी के ईडन से होता है। अतः सम्पूर्ण सूक्त में समस्त क्रिया-कलापों के कर्ता अश्विनौ ही वर्णित हुए हैं। सूक्त के पच्चीस में से तेईस मन्त्रों के अन्तिम चरण में 'ताभिरु षु ऊतिभि अश्विनागतम्' की पुनरावृत्ति हुई है। 'ऊँ सु' की ऊतियों के साथ अश्विनौ जिन विविध कार्यों को करते हैं उनमें 'कुत्स आर्जुनेय' की रक्षा करना (मं.23) सुदाः के निमित्त 'सुदेव्यं' को लाना (मं.19) मधुमान् सिन्धु को सक्रिय करना (मं.9), स्वः दर्शन के लिये वन्दन को (मन्त्र 5) प्रेरित करना आदि मुख्य हैं। यदि इन सभी कार्यों को एक समन्वित घटना के रूप में प्रस्तुत किया जाय, तो उसको 'कर्मक्षेत्रीय इष्टि के निमित्त धियः की रक्षा करना' कहा जा सकता⁴³ है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह है कि हिरण्यकोश की 'ऊँ सु' नामक ऊतियों का अवतरण करके कर्म को इष्टि (यज्ञ) रूप देने में संलग्न 'धियः' को सुरक्षित रखना है। ऐसा होने पर ही जहाँ मनु को एक ओर गातु (योगमार्ग) प्राप्त होता रहेगा वहीं दूसरी ओर उसकी मनुष्यत् कर्म-साधना भी चलती रहेगी।

इसी कर्म-साधना का एक नाम 'जीवयाज' है, जो तभी सम्भव है जब व्यक्ति उक्त ब्रह्माग्नि अथवा प्रज्ञानाग्नि के द्वारा भीतर से (विश्वतः) ही 'वर्षेव स्यूत' होकर प्रकृष्ट संयम जनित दक्षता (दक्षिणा) से युक्त हो।⁴⁴ इस जीवयाज को सम्पन्न करने वाले उक्त अग्नि को 'मर्त्यानाम् ऋषिकृत्' कहा गया है। यही वह अनून अग्नि है जिसकी मनुवत्⁴⁵ अभिव्यक्ति वांछनीय है। इसी मनुवत् अभिव्यक्ति को उन मानवों के रूप में देखा जा सकता है जिनके लिये सविता श्रेष्ठ द्रविण⁴⁶ का सवन करता है और साथ ही मानुषों के लिये वही सविता अव्यक्त जीवनो को व्यक्त करने वाला कहा जाता है।⁴⁷ इस प्रकार जिन मानवों के लिये सविता द्वारा श्रेष्ठ द्रविण के सवन का उल्लेख है उन्हीं को वेद में पञ्च मानवों,⁴⁸ पञ्चमानवी प्रदिशः⁴⁹ अथवा पञ्चकृष्टियों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इन पञ्च-मानवी आयामों को पञ्च मनु-पुत्रों में देख सकते हैं, जो ऋग्वेदीय सूक्तों के नामानेदिष्ट⁵⁰, नामाक, नहुष, चक्षु और शार्यात नामक ऋषि कहे गये हैं। मानव व्यक्तित्व को समझने के लिये इनका पृथक्-पृथक् विवेचन सहायक होगा।

नामानेदिष्ट और नामाक मानव

पञ्चमानवों में, प्रथम दो के नामों का सम्बन्ध 'नाभि' शब्द से है। नाभिः सन्नहनात्,⁵¹ के अनुसार यह पद 'णह बन्धने' से निष्पन्न है। उदर में स्थित स्थूल नाभि से मनुष्य-शरीर का कण-कण जुड़ा हुआ है। गर्भस्थ शिशु अपने समस्त पोषण को नाभि द्वारा ही माता से प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में नाभि का सम्बन्ध प्राण से है, काठक संहिता के अनुसार ऊर्ध्व तथा अधोगामी द्विविध प्राण नाभि से ही सम्बद्ध है — नाभिः वै प्राणान् दाधार ये चोर्ध्वा ये च अर्वाञ्चः।⁵³ एक अन्य⁵⁴ व्युत्पत्ति के अनुसार नाभि शब्द को 'भीड़, भये'⁵⁵ से भी निष्पन्न किया जाता है और तदनुसार उन्ने प्राण से सम्बद्ध किया जाता है। न+भी से निष्पन्न यह पद प्राण की भेदरहित अवस्था का द्योतक है। तांड्य ब्राह्मण में

इस नाभि को प्राणों की दशम अवस्था मानते हुए कहा⁵⁶ गया है—“तस्मात् नाभिः अनवतृण्णा दशमी प्राणानाम्”। शतपथब्राह्मण में प्राण के अमृत एवं मर्त्य नाम से दो पक्ष माने गए हैं। इनमें से अमृत पक्ष को नाभि के ऊर्ध्वगामी प्राण धारण करते हैं तो मर्त्य को अधोगामी प्राण। वस्तुतः प्राण एक शक्ति है जिसका शक्तिमान् पुरुष (आत्मा) है। वह त्वचा की स्पर्श इन्द्रिय से प्रारम्भ करके रसना नासिका, श्रोत्र और चक्षु नामक पञ्चज्ञानेन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्बुद्धि तथा मूल प्रकृति सहित नवस्तरों पर सक्रिय रहता है, परन्तु दशमी अवस्था में वह पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर शान्त आत्मा हो जाता है, (वातः) ‘प्राणस्तदयमात्मा’ (काठ 7.14)। आत्मा रूप इन्द्र से इसी दशमी अवस्था में बसने की प्रार्थना⁵⁷ की जाती है।

परमा नाभि, तदबन्धु, सुबन्धु एवं द्विबन्धु

दशमी अवस्था को ही परमा नाभि⁵⁸ कहा गया है। यही वह भय रहित अवस्था है जिसे पहले नभः से निष्पन्न नाभि नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य नाभियाँ भी हैं जिन्हें विराज् की दैवी, यज्ञिया और मानुषी नाभि कहा जाता है। इस नाभि को आत्मा की अबन्धु और अद्वैत या अखण्ड स्थिति कह सकते हैं जिसमें वह ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करके अन्य सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मात्म सायुज्य में सम्पूर्ण नानात्व अथवा द्वैत, अद्वैत में परिणत हो जाता है। अतः अब आत्मा के किसी अन्य से बँधने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस नाभि में स्थित होने के पश्चात् आत्मा की अनिर्वचनीय स्थिति हो जाती है, अतः वह कह उठता है⁵⁹—अहं तत्पश्चाकतिथश्चिदास ? इस नाभि के नेदिष्ठ (निकटतम) होने पर ही आत्मा नाभानेदिष्ठ कहलाता है, इससे पूर्व वह तत्-ब्रह्म⁶⁰ से बँधने के कारण ‘तदबन्धु’ के नाम से अभिहित होता है, परन्तु साथ ही, वह अबन्धु अथवा परमा नाभिः को भी स्मृत करता है। तदब्रह्म ही ऋ. 10.61.24 में ‘तत् ऊँ’ के रूप में ईप्सित है—‘ईमहे तदू नु।’⁶¹ ‘तत् ऊँ’ ही विज्ञानमय में ‘ऊँ सु’ के नाम से व्याकृत होता है। इसके सन्दर्भ से ही जीवात्मा का नाभानेदिष्ठ रूप ‘सुबन्धु’⁶² कहलाता है। सुबन्धु और तदबन्धु से पूर्व वह मित्रावरुणौ⁶³ अथवा रौद्रौ⁶⁴ नासत्यौ के द्वन्द्व से सम्बद्ध होने के कारण ‘द्विबन्धुः वैतरणः’ कहलाता है। द्वैत से अद्वैत की ओर अग्रसर होने पर जीवात्मा को द्विबन्धु, सुबन्धु, तत्त्वन्धु और अबन्धु अथवा नाभानेदिष्ठ की संज्ञा प्राप्त होती है।

आत्मविकास की इस यात्रा में जीवात्मा को प्रेमानन्द रूपी सोम की साधना द्वारा स्थूल प्राण-प्रवाह (अप) के संतरण के लिये स्वयं को ही सेतु⁶⁵ बनाना होगा; फलस्वरूप अग्नि (ऊर्जा) समस्त शरीर में उसी प्रकार द्रुत गति से सक्रिय हो जायेगी जैसे रथ में संयुक्त अश्वों के गति करने से चक्र एवं नेमि गतिशील हो जाते हैं। स्वसेतु बनने की साधना द्वारा साधक क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म एवं सूक्ष्म से कारण देह के विभिन्न स्तरों को सम्बद्ध करता हुआ विविध प्रकार की नाभियों का निर्माण करता है। अभिप्राय यह है कि साधक की अनेक शक्तियाँ विभिन्न स्तरों पर केन्द्रित होकर जीवात्मा को द्विबन्धु, सुबन्धु और तदबन्धु बनाती हैं। प्रत्येक स्तर पर जीवात्मा एक नवीन नाभि (केन्द्र) का स्रष्टा कहलाता है। इसी कारण साधनारत जीवात्मा को ‘नाभाक’⁶⁶ कहा जाता है। इसी की अन्तिम परिणति ‘परमानाभि’ के निकटतम होने के कारण नाभानेदिष्ठ संज्ञा में होती है।

नामाक साधना

अतः यह सिद्ध है कि मनुष्यव्यक्तित्व की निर्माण प्रक्रिया में सर्वोच्च नाभि का निर्माता नाभानेदिष्ट नाम ग्रहण करने से पूर्व नाभाक काण्व कहलाता है। यह प्रक्रिया मानुष स्तर के 'मनुष्यत्' व्यापार से प्रारम्भ होकर मानव स्तर के मनुवत् व्यापार में परिणत हो जाती है। यह परिणति नाभाक रूप साधक की उत्तरोत्तर सफलता पर निर्भर करती है, क्योंकि साधना से पूर्व तो मनुष्य स्तर के लिये मानव स्तर सर्वथा अज्ञात होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य शक्तियाँ अनृतसंहिता कहलाती हैं— 'अनृतसंहिता वै मनुष्याः'।⁶⁷ उदात्त प्रेमरस को शुष्क करने वाले अहंकाररूप 'शुष्क' के प्रभाव से ऋत समाप्त हो जाता है, किन्तु साधना द्वारा मनुष्य के 'नवग्वाः' नामक आंगिरस प्राण पुनः ऋत का आश्रय लेते हैं और 'कनक' नामक हिरण्य-ज्योति को देने वाली 'कना' (बुद्धि) के नवीन सख्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होते हैं।⁶⁸ ये आंगिरस इन्द्र के पार्षद बनकर शुष्क द्वारा संगृहीत एवं अनेकविध गुह्य धन का अन्वेषण करते हैं।⁶⁹ इसी धन को कारण, सूक्ष्म स्थूल शरीर के स्तर पर क्रमशः भर्गः, जातवेदा और अग्नि कहा जाता है तथा यही 'ऋतस्य होता' कहलाता है।⁷⁰

नाभाक साधना में अग्नि

ऋतस्य होता का अन्वेषण ही नाभानेदिष्ट मानव से पूर्ववर्ती नाभाक की साधना है जिसे शतपथब्राह्मण 'उत्तरोत्तर उपचार यज्ञ' कहता⁷¹ है। यह सर्वप्रथम 'रुद्रौ नासत्यौ' की उपासना द्वारा 'मनुष्यत्' व्यापार⁷² रूप में प्रारम्भ होकर क्रमशः मित्रावरुणौ⁷³ तथा इन्द्राग्नी की आराधना द्वारा 'नभन्तामन्यके समे' का पुनः पुनः उच्चारण⁷⁴ करता है। यहाँ 'नभन्ताम्' शब्द में श्लेष है। इस पद को 'नभ' हिंसायाम् से निष्पन्न मानकर जहाँ आसुरी शक्तियों के विनाश के लिये आह्वान प्राप्त कर सकते हैं तो वहीं 'णह बन्धने' से व्युत्पन्न कर अनेकता को समरसता में निबद्ध करने की प्रेरणा भी ले सकते हैं। यही असुरविनाशिनी समरसता अग्नि के उस 'सप्तमानुष' एवं 'दस्युहन्ता' रूप में दृष्टिगत⁷⁵ होती है, जो तैंतीस देवों और तीन धातुओं को समाविष्ट करने वाला 'त्रिपस्त्य' है। यही समस्त यज्ञीय और दैवी प्रजाओं (देवेषु विक्षु यज्ञियासु) में स्थित 'संवसु'⁷⁶ माना जाता है।

वस्तुतः यह अग्नि मनुष्य का प्रज्ञानाग्नि है जिसके ईडन⁷⁷ का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही प्राप्त होता है। इसी को अनेक⁷⁸ मन्त्रों में 'प्रमति' भी कहा जाता है। इस ज्ञानाग्निपरक प्रमति से भिन्न क्रियापरक अथवा यज्ञपरक इन्द्र प्रमति⁷⁹ भी है। इन दोनों की संयुक्त इकाई का नाम इन्द्राग्नी है जिनकी नाभाक आराधना से एक ऐसे सप्तमूल अर्णव का उद्घाटन इन्द्र द्वारा हो जाता है जिसका द्वार पहले अवरुद्ध था : —

प्र ब्रह्माणि नाभाकवदिन्द्राग्निभ्यामिरज्यत ।

या सुप्तबुध्नमर्णवं जिह्मवारमपोर्णुत इन्द्र

ईशान ओजसा नभन्तामन्यके समे ।।

ऋ. 8.40.5

परिणामतः, वे सप्तसिन्धवः प्रवाहित होने लगती हैं जिन्हें इन्द्र वृत्र के बन्धन से मुक्त करता है।⁸⁰ वस्तुतः यह अर्णव अथवा सिन्धवः स्वर्ज्योति से युक्त आपः हैं, जो इन्द्राग्नी के ज्ञानात्मक सत्त्व एवं तेज (त्वेष्टं सत्त्वानमृगिमयम्) के प्रखर ओज के द्वारा शुष्ण के अण्डों का भेदन होते ही प्रवाहित हो जाते हैं।⁸¹

नाभाक साधना में वरुण

इस प्रकार नाभाक साधना द्वारा उद्घाटित आध्यात्मिक 'स्वर्वती: आपः' के सन्दर्भ से मनुष्यव्यक्तित्व में ब्रह्म-तेज को वरुण रूप में कल्पित किया गया है। यही मानुष स्तर के बुद्धि व्यापार की रक्षा करने वाला तथा 'ऊँ सु' कहलाने वाला वरुण है।⁸² यह सप्तसिन्धुओं के प्रादुर्भाव से 'सप्तस्वसा' कहलाता है तथा इसे समनी वाक्, सहज-वृत्तियों का (पितृणाम्) मन्म और नाभाक साधक की प्रशस्तियाँ अस्तित्व में लाती हैं।⁸³ वह उत्तरणशील तेजपुंज आन्तरिक विश्व पर अपनी माया से सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, अज्ञानान्धकार-रूपिणी रात्रि को वह आवृत कर लेता है और इच्छा-ज्ञान-क्रियामयी त्रिविध उषाओं की त्रिवेणी उसके व्रत का वर्धन करती है।⁸⁴ वह स्थूल देहरूपी पृथिवी में सभी दिशाओं को धारण करता है और बुद्धि, मन एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियों वाले 'सप्त्यं पद' की रक्षा करता है।⁸⁵ इसी प्रकार बुद्धि, मन के साथ क्रमशः पञ्च प्राणों एवं पञ्चकर्मेन्द्रियों के सन्दर्भ से दो अन्य सप्तक भी बनते हैं। इन्हीं तीन सप्तकों में विभक्त आपः रूपिणी चेतना को गुह्य नामी⁸⁶ के रूप में कल्पित किया जाता है। वस्तुतः वरुण एक अन्तर्हित समुद्र है, जो तीनों स्तरों में योजक (यजुः) तत्त्व निहित करता है और साथ ही अपने ज्योतिर्मय पद द्वारा माया का विस्तार तथा स्वर्गारोहण करता है।⁸⁷ उसका धवल तेज दैवी एवं मानुषी त्रिलोकी की क्रमशः तीन-तीन भूमियों को परिपूर्ण करता है और इस प्रकार वरुण ध्रुव-पद सप्तसिन्धुओं का स्वामी होता है :-

यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः।

त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः

ससप्तानामिरज्यति नभन्ताम् अन्यके समे॥ ऋ. 8.41. 9

बृहत्, धीर और अमृत-रक्षण सम्राट् वरुण की वन्दना द्वारा सूक्त के प्रारम्भ में नाभाक जिस धी (प्रमति) का सम्पादन करता है उसी से वह एक नाव पर आरुढ होता है।⁸⁸ यह नाव दुरितों के पार उस वरुण ध्रुव-पद पर पहुँचाती है जिसे नाभानेदिष्ट की परमा नाभि कहा जा सकता है।

चक्षु-मानव

मनुष्यव्यक्तित्व में चक्षु वस्तुतः ब्रह्म एवं ब्राह्मों द्वारा प्रदत्त एक दिव्य दृष्टि का नाम है। इस चक्षु से ब्रह्मात्म सायुज्य रूपी सूर्य का साक्षात्कार सम्भव है। पुरुष सूक्त⁸⁹ में चक्षु से सूर्य के उत्पन्न होने का यही तात्पर्य है। ऋ. 9.10.8 में भी चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति इसी ओर संकेत करती है। जब यह दिव्य चक्षु प्राप्त होता है, तो प्राण अवरुद्ध हो जाता है और इन्द्रिय भोग भी बन्द हो जाते हैं, अतः असुनीति से प्रार्थना है कि हमें पुनः-पुनः चक्षु, प्राण

और भोग दो जिससे हम चिरकाल तक आन्तरिक क्षितिज पर सूर्योदय देख सकें। यह दिव्य-चक्षु समाधि की ओर उन्मुख होने पर संश्लेषणात्मक दृष्टि प्रदान करता है, तो व्युत्थानावस्था में विश्लेषणात्मक। अतः ऋ. 10.154.4 में कहा गया है कि 'चक्षु' को चक्षु दो और विशेष दृष्टि के लिये (विद्युः) तनुओं को चक्षु प्राप्त हों जिससे संश्लिष्ट दर्शन भी हो सके और विश्लिष्ट दर्शन भी⁹¹।

नाभा नाभिं न आ ददे।

चक्षुश्चित्सूर्ये सचा। कवेरपत्यमा दुहे।। ऋ. 9.10.8

इस मन्त्र के अनुसार नाभि में नाभि का आदान, चक्षु में सूर्य का संगतिकरण और कवि के अपत्यदोहन की कामना उस समय तक 'अनर्थका हि मन्त्राः' का जाप करने वाले अनेक कौत्सों को अवसर प्रदान करती रहेगी जब तक नाभि शब्द के पूर्वोक्त दोनों अर्थ ग्रहण नहीं किये जाते। प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित एक नाभि तो प्रत्येक व्यष्टि का केन्द्र जीवात्मा है और द्वितीय नाभि समस्त व्यष्टियों का केन्द्र अभयपद ब्रह्म है। ब्रह्मात्मसायुज्य की स्थिति प्रथम (व्यष्टिगत) नाभि में द्वितीय नाभि (समष्टिगत ब्रह्म) का आदान करती है। कहने का तात्पर्य है कि चक्षु नामक व्यष्टिगत दिव्यदृष्टि ब्रह्मसूर्य से संगत हो जाती है। परिणामतः अभिव्यञ्जनशील (कवि) अपने उस अपत्य रूप (पतन के अयोग्य) का दोहन करने लगता है, जो अन्यथा मन एवं इन्द्रियों को सुलभ नहीं होता।

चक्षु के विभिन्न स्तर

ऋ. 9.106 की अनुक्रमणी से यह संकेत प्राप्त होता है कि चक्षु नामक दिव्य दृष्टि के तीन स्तर हैं। इसी सूक्त के ऋषि नामों में चक्षु की तीन अवस्थाओं का उल्लेख है। इसकी प्रथम तीन और अन्तिम पांच ऋचाओं का ऋषि अग्निश्चाक्षुष अर्थात् चक्षुपुत्र अग्नि, द्वितीय तृच (4-6) में चक्षुर्मानव अर्थात् मनुपुत्र चक्षु तथा तृतीय तृच (7-9) में मनु आप्सवः अर्थात् अप्सु का पुत्र मनु है। 'वेद में मनु' नामक शोधग्रन्थ में⁹² प्रतिपादित किया गया है कि मन पर आधिपत्य स्थापित कर जब जीवात्मा मनस्वी मनु बनता है, तो उसका उत्तरोत्तर विकास होता है। उपर्युक्त तीनों चक्षु-नाम इसी आध्यात्मिक विकास के द्योतक हैं। इस विकास प्रक्रिया का प्रारम्भ स्थूल स्तर पर होता है जहाँ कर्म के सु पक्ष (अप+सु) का अनुगमन करने से मनु अर्थात् मननशील व्यक्तित्व का जन्म होता है तभी जीवात्मा 'मनुर्आप्सव' कहलाता है। सूक्ष्म स्तर पर यह मननशीलता के कारण दिव्यदृष्टि प्राप्त करके चक्षुर्मानव बनता है और कारण स्तर पर दिव्यचक्षु से प्रज्ञानाग्नि का साक्षात्कार करके अग्निश्चाक्षुष नाम ग्रहण करता है। इस विकासक्रम से यह स्पष्ट होता है कि ये तीनों एक ही मनु-तत्त्व अथवा बोधाग्नि की क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

बोध के इस क्रमिक विकास में आनन्दबोधात्मक सोम भी संयुक्त है। मनु तत्त्व के उक्त तीन स्तरों के आदान-ले-करी सूक्त के आखिरी मन्त्र में सोम को त्रिपृष्ठ कहा गया है। वह ब्रह्मरूपी वन⁹³ में क्रीडा करने वाले बाजी (बलशाली) के

रूप में क्रियापरक बुद्धियों (धीभिः) द्वारा प्रेरित किया जाता है, क्योंकि अपनी चरमावस्था में वह मनुष्यव्यक्तित्व का रक्षण और पोषण नहीं कर सकता, अतः उसे मन्त्र में 'अत्यवि'⁹⁴ कहा गया है। उक्त धी नामक क्रियापरक बुद्धियों को प्रयुक्त करने वाली मतियाँ स्वयं समवेत स्वर करती हैं। इसी स्वर को अनाहतनाद कहा जाता है। इस प्रकार बोधात्मक ज्योति एवं नाद की प्राप्ति सोम नामक आनन्दरसानुभूति से सर्वत्र संयुक्त रूप में होती है⁹⁵। इसी अनुभूति की अभिव्यक्ति आलोच्य सूक्त के अन्य⁹⁶ मन्त्रों में भी उपलब्ध है।

नहुषः मानवः और नाहुषी विशः

वक्षुमानव के समान ही मनुतत्त्व का एक रूपान्तर 'नहुषः मानवः' है, जो वेद के कतिपय मन्त्रों का ऋषि माना गया है। वह ऐसे सोम का इच्छुक है, जो 'विश्वस्य भूमनः पतिः' तथा ओजिष्ठतम पवमान है।⁹⁷ नहुषः शब्द वस्तुतः णह् (नह) से निष्पन्न 'नहुः' का एक रूपान्तर है। अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के सन्नहन के लिये प्रयत्नशील मनु तत्त्व 'नहुः' से क्रमशः 'नहुष्टर' होता हुआ अन्त में इन सारों का परित्याग करके स्वयं को 'सप्तहा नहुषः' घोषित करता⁹⁸ हुआ कहता है :-

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम्।

अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव ब्राधतो नवतिं च वक्ष्यम्॥

यह 'नहुष' वस्तुतः 'इन्द्र वैकुण्ठ' है, जो ऋ.10.47 का देवता तथा ऋ.10.48-50 का ऋषि और देवता दोनों है। वैकुण्ठ इन्द्र विकुण्ठा नामक असुर स्त्री के गर्भ से जन्म लेने वाला है; सम्बन्धित आख्यान⁹⁹ के अनुसार विकुण्ठा ने इन्द्र सदृश पुत्र की कामना से कठोर तप किया अतः इन्द्र उसके गर्भ से उत्पन्न हुआ।

महदसुरत्वम्

वैकुण्ठ इन्द्र की माता को उस 'महत्' तत्त्व का प्रतीक माना जा सकता है। जिसे वेद में देवों की एकमात्र असुरता (असुरत्व) माना गया है।¹⁰⁰ इस असुरत्व के कारण ही अग्नि, वरुण, इन्द्र और रुद्र आदि देवताओं के लिये भी वेद में 'असुर'¹⁰¹ शब्द का प्रयोग हुआ है। इस महत् तत्त्व के 'अक्षर'¹⁰² महत् तथा 'अवर'¹⁰³ महत् ये दो रूप प्राप्त होते हैं। द्वितीय रूप में वह एक ऐसा असुरत्व है, जो देवत्व के साथ रहता है। इसी कारण रुद्र के लिये देव और असुर दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग हुआ है। इन दोनों रूपों की अभिव्यक्ति ऋ. 10.124 के कतिपय मन्त्रों में अग्नि के उन क्रिया-कलापों द्वारा होती है जिनमें वह कहता है— मैं देव हूँ और अदेव से निकल कर अमृतत्व की ओर जा रहा हूँ; अशिव मैं शिव को त्याग देता हूँ और स्वसख्य से नाभिभूत अरणी की ओर जाता हूँ¹⁰⁴ (स्वात्सख्यादरणीं नाभिमेभिः); मैं अयज्ञीय से यज्ञीय भाग को जाता हूँ, असुर पिता के लिये सुख (शेव) का शंसन करता हूँ¹⁰⁵; जिस पिता के अन्दर अनेक वर्षों तक वास किया उसे त्यागकर इन्द्र का वरण करता हूँ।¹⁰⁶ अतः स्पष्ट है कि जो महत् अक्षर है वह देवत्व और असुरत्व के द्वन्द्व से परे है, परन्तु अवर महत् में देवत्व और असुरत्व का द्वन्द्व रहता है। इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति का

संकेत हमें निरुक्त के इस कथन में प्राप्त होता है जिसमें देवों और असुरों को एक पिता की संतान बताते हुए प्रजापति के सु पक्ष से देवों की और असु पक्ष से असुरों की उत्पत्ति बताई गई है।¹⁰⁷ यही दृष्टि वैकुण्ठ इन्द्र के जन्म की कथा में प्राप्त होती है। तपश्चर्या से पूर्व की अशिवा विकुण्ठा जब तप द्वारा शिवा हो जाती है, तो उसके गर्भ से इन्द्र का जन्म होता है। वैकुण्ठ इन्द्र के विषय में प्रसिद्ध है कि प्रारम्भ में तो वह असुरों का विनाश कर उनके सिंहासन पर अधिकार करता है, किन्तु शीघ्र ही आसुरी प्रभाव से दर्पित होकर वह देवों को बाधा पहुँचाने लगता है।¹⁰⁸

इस प्रसंग के अर्थवादी आवरण को दूर करके देखें तो हमें मानव व्यक्तित्व का वह चित्र दृष्टिगत होता है जिसमें सत् और असत् अथवा देवत्व और असुरत्व के द्वन्द्व की निरन्तरता रहती है। इसी स्तर पर नहुष से नहुष्टर की साधना का प्रारम्भ होता है। इस साधना में कोई व्यक्तिक्रम उत्पन्न न हो, इसलिये पूर्वोत्लिखित नाभाक साधना अपेक्षित होती है। इसका आचरण कर मनुष्य अन्ततोगत्वा नाभानेदिष्ट बन जाता है। इसका संकेत ऋ. 10.124.2 में प्राप्त होता है जहाँ अग्नि अपने आसुरी सख्य को छोड़कर नाभि की ओर जाने की घोषणा करता है। लेकिन यह उसी समय सम्भव होता है जब मनुष्य अपनी अहंबुद्धि, मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय रूपी गायों को एकीभूत कर योगस्थ हो। इसी का प्रतीक वह 'सप्तगु' ऋषि है, जो आसुरी माया से प्रभावित वैकुण्ठ इन्द्र को पुनः देवत्व के मार्ग पर लाने में समर्थ माना जाता है।¹⁰⁹ इसी ओर संकेत करने वाला वह मन्त्र है जिसमें वैकुण्ठ इन्द्र स्वयं को नहुष (अधिक सन्नहन करने वाला) सिद्ध करता हुआ घोषणा करता है कि मैंने अपने बल से तुर्वश-यदु को आश्रय दिया तथा एक-एक को सबल करके वर्धनशील निन्यानवे (99) को वर्धित किया :-

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम्।

अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव प्राधतो नवति च वक्षयम्॥

नहुष के साथ सन्नहन (बाँधने हेतु) बोधक शर्ध¹¹⁰ (समूह) पद का प्रयोग इसी दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। वस्तुतः नहुष अपेक्षाकृत अधिक सन्नहनशील सामूहिकता से युक्त (शर्धस्तर)¹¹¹ अथवा शर्धधाम¹¹² है। अतः नहुष व्यक्तित्व का कार्य देहगत समस्त दुरितों को नियन्त्रित करके प्राण रूप विशः का निरोध करना और उन्हें 'बलिहृत'रूप में प्रस्तुत करना है।¹¹³ इन्हीं नियन्त्रित विशः को अन्यत्र मनुषः नहुषः नामक विविध रूप से उत्पन्न मानुषी विशः¹¹⁴ कहा गया है। दूसरे शब्दों में, नहुस् का सम्बन्ध प्रारम्भ में स्थूल शरीर से होता है। स्थूल शरीर के अनेकत्व को संगृहीत कर एकत्व की ओर अग्रसर होने पर ही 'नहुष इन्द्र' का जन्म होता है, जो दस्युवध करने के लिये सप्त-शीर्षण्य प्राणों के सप्त पुरों का भेदन¹¹⁵ और निन्यानवे शम्बर पुरों का वर्धन¹¹⁶ करता है।

विकास की उच्चतर स्थिति प्राप्त करने के उपरान्त भी नहुष व्यक्तित्व वह ~~वृद्ध~~ ^{वृद्ध} शरीर को शचीपति बन सके। अतः पुराणों में प्राप्त नहुषाख्या में, शची को अपनी पत्नी बनाने के लिये प्रयत्नशील नहुष का

पतन दिखाया गया है। वस्तुतः शची परब्रह्म की महाशक्ति का नाम है। इसलिये वह व्यष्टिगत नहुष (नहुषो नहुष्टरः) की सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकती। वह स्वयं तो 'सज्जया' है। अपनी श्रेष्ठता का उद्घोष करती हुई शची ऋ. 10.159.2 में कहती है :-

अहं केतुरहं मूर्धारहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्॥

शची का यह कथन सत्य है, क्योंकि शचीपति इन्द्र तो शम्बर के पुरों को भी विदीर्ण करने वाला है जिनका वर्धन नहुष इन्द्र करता है। सम्यक् जय करने के कारण ही उसका पति इन्द्र विजयी होने का उत्तम श्लोक प्राप्त करता है।¹¹⁷ जिस विजय को जन-जन की देवशक्तियाँ अपनी-अपनी विजय कहती हैं वह वस्तुतः परब्रह्मरूपी इन्द्र की विजय है। इसका मूल कारण ब्राह्मी शक्ति (शची) है, जो परमेश्वर के अनुग्रह से जन-जन को प्राप्त होती है। अतएव वीर पति (इन्द्र) की नहीं, अपितु प्रत्येक जन की भी वह¹¹⁸ विराजशक्ति है। फिर भी, वह किसी व्यष्टिगत जीवात्मा तक सीमित नहीं हो सकती। परमेश्वर रूपी इन्द्र प्रत्येक देहगत चेतना सरोवर में तो आत्मन्वी यक्ष रूप में रह सकता है-परन्तु उसकी 'शची' केवल उसके असीम और अनन्त रूप से एकाकार हो बोल उठेगी:-

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥ ऋ. 10.159.1

नहुष मानवत्व प्राप्त करके भी मनुष्य का अहंकेन्द्रित व्यक्तित्व 'इदं मम' को ही अपना सर्वस्व मानता है अतः वह ब्राह्मी-शक्ति शची पर अपना एकमात्र अधिकार चाहता है। चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा 'सन्नहन' में प्रवृत्त होकर भी जो अहंता विद्यमान रहती है उसको नियन्त्रित करने के लिये अग्नि को आयु के नहुष पक्ष का विश्पति तथा इळा को उसके, मनुष्य पक्ष की शासिका बनाना आवश्यक है, तभी मन के सन्नहन से होने वाला संयम ज्ञानाग्नि द्वारा नियन्त्रित हो सकेगा। इसके साथ ही मनुष्य द्वारा सम्पादित मनन उस इडा नामक बुद्धि से नियन्त्रित होने लगेगा जो स्वयं अग्नि के ईडन की ओर संकेत करती है। इन दोनों को अपना-अपना पद उस समय प्राप्त होता है जब 'ममक' नामक पिता का पुत्र उत्पन्न होता है।¹¹⁹ अतः ऐसे व्यक्तित्व की भावनाएँ भी 'ममसत्य'¹²⁰ कहलाती हैं। उनके सत्वगुण सम्पन्न होने पर ममक का रूपान्तर हो जाता है और तब उसकी 'मामक'¹²¹ संज्ञा होती है। अथर्ववेद में ममक के इस रूपान्तर को 'मामक वक्'¹²² अर्थात् मामक की अभिव्यक्ति और ऋग्वेद में 'मामकः भगः'¹²³ अर्थात् मामक का ऐश्वर्य कहा गया है जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मज्ञान रूपी सूर्य के उदित होने पर होती है। ऋग्वेद में 'भगः' कहलाने वाली उच्चतर सन्तति ही नहुष का पुत्र तथा शक्ति-स्वरूपा (मनुस् की पुत्री) इळा है जिन्हें ऋ.1.31.4 में क्रमशः विश्पति तथा शासनी (शासनाध्यक्ष) कहा गया है।

जिस शासन में इस पुत्र अथवा पुत्री को नियुक्त किया जाता है, वह वस्तुतः समाष्टिगत के साथ व्यष्टिगत राष्ट्र का शासन है। इसकी पुष्टि उस

अथर्ववेदीय सूक्त से होती है जहाँ उसकी सन्तान को भगः के स्थान पर वचः कहा गया है। इस 'वचः' की सूक्त में मणि (मन की उच्चतम स्थिति) के रूप में कल्पना करते हुए ब्रह्मणस्पति से प्रार्थना की गई है कि वह हम सबको उसके द्वारा राष्ट्र के लिये वर्धनशील करें :-

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय।।

शौ.1.29.1

इसी सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में कामना की गई है कि वह सपत्ननाशिनी मणि मुझे राष्ट्र के लिये संयत करे जिससे मैं अपने आन्तरिक शत्रुओं को पराभूत कर सकूँ। पूर्व मन्त्र में 'हम सबके' सन्दर्भ से समष्टिगत राष्ट्र और उत्तर मन्त्र में 'मैं' से व्यक्तिगत राष्ट्र की ओर संकेत है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर, यह निष्कर्ष प्राप्त करना समीचीन होगा कि नहुष मनुष्य के उच्चतर स्तर का द्योतक होने पर भी उच्चतम नहीं है। अहंता के अवशेष के कारण उसका ममत्व उसे पतन की ओर ले जा सकता है, अहंता और ममत्व को पूर्णतया त्यागे बिना उच्चतम स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। यदि स्वर्ग प्राप्त होता भी है, तो वहाँ रहते हुए भी अतृप्ति बनी रहती है। इसका उदाहरण रामायण के उत्तरकाण्ड में श्वेतकेतु राजा की कथा में प्राप्त होता है जिसका संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत है :-

सूर्यवंशी राजा श्वेतकेतु प्रजावत्सल एवं धर्मात्मा था। राज्य का त्याग कर घोर तपस्या द्वारा वह स्वर्ग पहुँचा। वहाँ सभी स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हुए भी वह प्रतिक्षण क्षुधा लगने से पीड़ित था। एक दिन उसने अपनी यह व्यथा ब्रह्माजी को सुनाई। ब्रह्माजी ने कहा कि जिस आश्रम में तुमने तपस्या की थी वहाँ झाड़ियों में तुम्हारा शव पड़ा है। उसे खाओगे तो दिन भर तुम्हारी क्षुधा शान्त रहेगी, जितना शव दिन में खाओगे उतना रात्रि में पूर्ण हो जायेगा। इस प्रकार प्रतिदिन निज शरीर का भक्षण करते हुए तुम सुखी रह सकते हो। राजा ने ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया कि 'मुझे इस वीभत्स कृत्य से मुक्ति कब मिलेगी?' उत्तर मिला 'जब अगस्त्य ऋषि से भेंट होगी।' पौराणिक नहुषाख्यान में भी अगस्त्य ऋषि का उल्लेख है, लेकिन वहाँ अहंकार के कारण नहुष ऋषि अगस्त्य द्वारा शापित होकर सर्प बनता है। श्वेतकेतु के प्रसंग में अगस्त्य के आशीर्वाद से वह उस शाप से मुक्त होता है जिसके कारण स्वर्ग में भी उसकी क्षुधा प्रदीप्त करती थी। इन दोनों ही प्रसंगों में अगस्त्य ऋषि निःस्वार्थ भाव से परहित सम्पादन तथा समाज सेवा के प्रतीक हैं। संकीर्ण और अहंकारी व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी समाज द्वारा शापित होता है। इस शाप से मुक्ति का एकमात्र उपाय यही है कि वह निज 'स्व' का भक्षण करे। राजा श्वेतकेतु द्वारा अपने शव का भक्षण इसी ओर संकेत करने वाला एक प्रतीक कर्म है। इस शाप से बचने हेतु उसे परहित एवं समाज-सेवा को अपनाना होगा। इसके अभाव में शारीरिक तप के होते हुए भी वह अहंता एवं ममता से आबद्ध हो, सम्पूर्ण सुखों के होते हुए भी व्यथित रहता है।

शार्यातमानव

शार्यातमानव साधनारत मनुष्यव्यक्तित्व के पञ्च आयामों में अन्तिम है। शार्यात अर्थात् शर्याति का पुत्र। शर्याति का यह पुत्र ऋ. 10.92 का ऋषि है जिसका देवता अग्नि है। सूक्त के उपसंहार में वह कहता है :—

रेभदत्र जनुषा पूर्वा अंगिरा। ग्रावाण ऊर्ध्वा अभिचक्षुरध्वरम्॥ ऋ.10.92.15

इस मन्त्र के प्रथम चरण में 'जनुषा पूर्वा अंगिरा' की उक्ति महत्त्वपूर्ण है। यह अग्नि उस पूर्वोक्त 'जन्मना जातवेदा' से तुलनीय है, जो 'हविरस्मि नाम' की घोषणा भी करता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ जब सोम को ही 'हवि' कहते हैं तो स्पष्ट हो जाता है यह ऐसा अग्नि है, जो सोम से युक्त है। हम यह भी देख चुके हैं कि इसी अग्नि को 'त्रिधातुः अर्कः' भी कहा गया है तथा अन्यत्र उसे इन्द्र, अग्नि और सोम की संयुक्त इकाई माना गया है। पुनः इस 'पूर्व अंगिरा' की तुलना उस 'प्रथम अंगिरा'¹²⁴ से भी कर सकते हैं जो 'प्रथम अंगिरस्तम' है और जो आयु के लिये न मालूम कितने रूप ग्रहण करता है।¹²⁵ यही विवस्वत् मातरिश्वा के लिये आविर्भूत होने वाला 'प्रथम' है।¹²⁶ इस विवरण से स्पष्ट है कि शार्यातसूक्त में जिस अग्नि तत्त्व का वर्णन हुआ है वह आनन्दमयकोश का वही आनन्द है जिसे इन्द्र, अग्नि और सोम की संयुक्त इकाई कहा गया है। इसके आविर्भाव से मनुष्य के अज्ञानजन्य समस्त शर्य (हिंसनीय तत्त्व) विशीर्ण हो जाते हैं; अतः इसे 'शर्यहा' भी कहा जाता है। शर्यहा अग्नि का आन्तरिक चक्षुओं से साक्षात्कार करके कोई भी व्यक्ति शार्यात हो सकता है, क्योंकि शार्यात शब्द जिस शर्याति में अपत्यवाचक प्रत्यय के प्रयोग से बना है उसका अर्थ है शर्य तत्त्वों का अतिक्रमण करने वाला। अतः शार्यात उस व्यक्तित्व को कहा जायेगा जो शर्याति का विकसित रूपान्तर हो।

अध्वर तथा ऊर्ध्वा ग्रावाणः

उपर्युक्त मन्त्र के द्वितीय चरण में 'ग्रावाणः ऊर्ध्वाः अभिचक्षुः अध्वरम्' की उक्ति भी अत्यन्त सारगर्भित है। शार्यात व्यक्तित्व अथवा अग्नि जातवेदस् स्वयं अध्वर बन जाता है।¹²⁷ जिसके लिये मनुष्य की समस्त मतिर्याँ तथा अभिव्यक्तियाँ (मतयः वाचः) एकाग्र हो जाती हैं;¹²⁸ पतंजलि प्रदत्त योग की प्रसिद्ध परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' द्वारा भी यही अभिप्रेत है। इस एकाग्रता के परिणामस्वरूप हार्दिक निःशेष स्पर्श को प्राप्त करने की कामना अत्यन्त व्यक्तिगत होती है।¹²⁹ यह वर्णन निःसन्देह हिरण्यकोश में सम्पादित होने वाले उस ब्रह्मात्मसायुज्य का है जिसमें हमारा विज्ञानमय आत्मा उसके अन्तरात्मा (आनन्दमय) द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। विज्ञानमय आत्मा यह कार्य जिन ऊर्ध्वमुखी विज्ञानचेतनाओं द्वारा करता है उसके लिये वेद में 'गृ' विज्ञान से निष्पन्न गिरा, ग्रावा आदि पदों का प्रयोग किया गया है। अतः ऊर्ध्वा-ग्रावा को जब महान् विचक्षण बनाने वाला और अध्वर का साक्षात्कार-कर्त्ता¹³⁰ कहा जाता है, तो अभिप्राय हमारी ऊर्ध्वमुखी विज्ञानधाराओं से ही होता है। इन्हीं को आगमों में उन्ननी शक्तियाँ कहा जाता है। ये ग्रावा ही समाधिपूर्वक अध्वर की करण हैं और यही व्युत्थान अवस्था में प्रज्ञान

रूप धारण कर साधक को विचक्षण बनाने के लिये 'समनी' शक्तियों का रूप ग्रहण करते हैं। अतः विज्ञानधाराओं (ऊर्ध्वाग्रावा) के 'अध्वा' से सम्पन्न होने के कारण प्राप्त समाधि को अध्वर कहा जाता है। इसके फलस्वरूप देवशक्तियों को असुरों द्वारा होने वाली हिंसा (ध्वर) से भी मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिए भी इसे अध्वर कहा जाता है।¹³¹

शतपथब्राह्मण में 'रसोऽध्वरः'¹³² कहकर जिस यज्ञ का उल्लेख किया गया है वह ब्रह्मात्मसायुज्य से प्राप्त आनन्दानुभूति देने वाली समाधि ही हो सकती है। उससे सम्बन्धित अनाहत नाद ही वह शब्द (वाच) है जिसे ग्रावाणः अथवा अद्रयः आध्यात्मिक सोमयज्ञ में (सुते अध्वरे) उत्पन्न करते हैं।¹³³ अध्वर को रस स्वरूप मानने की पृष्ठभूमि में आनन्दरस रूप सोम ही कारण है जिसे 'ऊँ' 'पीयूषम्'¹³⁴ अथवा 'तत् ऊँ श्रेष्ठं सवनम्'¹³⁵ कहा गया है। इसी प्रकार जब ग्रावा को दीप्तिमयी वाणी के साथ हमारे सोमरस का सम्पादन करने वाला अथवा घोष करते हुए काम्य मधु को दुहने वाला¹³⁶ कहा जाता है, तो भी अनाहतनाद पूर्वक आनन्दरस उत्पन्न करने वाली विज्ञानधाराओं से ही अभिप्राय है।

निष्कर्षतः, यह मानना उचित ही होगा कि इन प्रसंगों में ग्रावा को पत्थर मानकर युक्तिसंगत अर्थ नहीं किया जा सकता, पेय सोम को सवन करने के लिये मात्र दो पत्थरों की ही आवश्यकता होती है जबकि वेद में ग्रावाणः (ब.व.) का प्रयोग उनकी अनेकता की ओर संकेत करता है। वेद में वर्णित ग्रावाओं (ग्रावाणः) को सवितादेव धर्म के माध्यम से उत्पन्न करते हैं¹³⁷ और वे शत्रुभूता दुर्मति को नष्ट करने एवं ज्योतिरूपी भेषज उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं।¹³⁸ इसके अतिरिक्त ऋग्वेद¹³⁹ स्पष्ट कहता है कि जिसे हम ग्रावाओं का बोलना कहते हैं वस्तुतः हमारी वह वाणी है जिसे हम विज्ञान-प्रवाहों रूपी ग्रावाओं के माध्यम से ब्रह्मरूप इन्द्र के लिये उत्पन्न करते हैं :-

प्रेते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।

यदद्भ्यः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥

अतः यह स्पष्ट है कि वेद में ग्रावाओं और उनके द्वारा किये गये कार्य आध्यात्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक जगत् से सम्बन्ध रखते हैं न कि भौतिक सृष्टि के पत्थरों आदि से।

व्यक्तित्व की परिपक्वता

अतएव ऊर्ध्व-ग्रावाओं द्वारा दृष्ट 'अध्वर' को जब 'रस' कहा जाता है, तो उससे वही परिपक्वता एवं पूर्णता अभिप्रेत है जिसमें ब्रह्मात्मसायुज्य से प्राप्त आनन्द की उपलब्धि होती है। वस्तुतः वह ओंकार अथवा सुकृत ब्रह्म ही तो रस है जिसे प्राप्त करके मनुष्य आनन्दित होता है।¹⁴⁰ रसस्वरूप ब्रह्म-साधना के अध्वा (मार्ग) में त्रिविध शरीर सुलभ अनेक शर्यों (विकारों) को शीर्ण करना पड़ता है। शर्यों को पूर्णतया अतिक्रान्त करने के कारण ही मनुष्य में हिरण्य नामक ज्योति का स्तूप आविर्भूत होने लगता है। इस दृष्टि से मनुष्य आत्मा को 'हिरण्यस्तूप' भी

कहा गया है। शार्यात मानव की दृष्टि से मनुष्य का वर्णन ऋ. 10.92 में है, तो हिरण्यस्तूप की दृष्टि से ऋ. 1.31 में प्राप्त होता है। इसीलिये प्रथम सूक्त का द्रष्टा ऋषि शार्यात मानव है, तो द्वितीय का हिरण्यस्तूप। दोनों ही दृष्टियाँ मनुष्यव्यक्तित्व की पूर्णता को अभिव्यक्त करती हैं। जातवेदा अथवा जात-प्रज्ञान अग्नि का वासनारहित व्यक्तित्व में प्रादुर्भाव ही इस पूर्णत्व की विशेषता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति मनु को अनेक सोपानों में होती है। इन सोपानों की दृष्टि से ही वेद में अनेक मनुओं¹⁴¹ की कल्पना प्राप्त होती है। सम्भवतः यही चौदह मन्वन्तरों के 'मनवः' की पौराणिक कल्पना का आधार है।¹⁴²

मन्वन्तर कल्पना का वैदिक आधार

मन्वन्तर चौदह हैं, इनमें से प्रत्येक के पृथक् पृथक् मनु, मनुपुत्र, इन्द्र और सप्तर्षि हैं। प्रत्येक मन्वन्तर, मनु नामक आत्मचेतना के क्रमिक विकास की ओर इंगित करता है। स्वायंभुव,¹⁴³ स्वरोचिष,¹⁴⁴ ओत्तम, तामस, रैवत्, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्यदेवसावर्णि और इन्द्र-सावर्णि; इनमें से प्रथम दो स्वायंभुव और स्वरोचिष नामों में अंगभूत 'स्व' पद जिस स्वार्थपरक आत्मचेतना की ओर संकेत करता है, उसी का प्रवृद्ध रूप हमें 'ओत्तम' और 'तामस' के मूल में स्थित 'तमस्' पद में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् रैवत् और चाक्षुष मनु का नाम आता है। रैवत के मूल में वही 'रै' पद है जिससे वेद का 'रायः' अथवा 'रायस्पोष' पद निष्पन्न है। रायः उस आध्यात्मिक धन का नाम है¹⁴⁵ जो क्रमशः राति और रयि नामक शारीरिक एवं मानसिक उपलब्धियों को परहितार्थ दान करने से प्रादुर्भूत होता है। इसी प्रकार चाक्षुष मनु के नाम के मूल में चक्षु शब्द विवेक और विज्ञान का बोधक है।

उपर्युक्त छह नामों में से प्रथम दो उस मनु नामक आत्मचेतना के द्योतक हैं जिनमें रजोगुण प्रधान होता है जबकि दूसरे दो नामों (ओत्तम, तामस) में तमोगुण की प्रधानता स्पष्ट ही है। इसके पश्चात् आने वाले दो नामों के मूलार्थ त्याग और विवेक द्वारा स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि यहाँ सत्त्वगुण प्रधान आत्मचेतना का प्रादुर्भाव हो गया है। इसी सत्त्वप्रधान त्याग और विवेक की परिणति मनुष्य के वासनारहित विवस्वत् व्यक्तित्व में होती है जिसके आधार पर सप्तम मनु को वैवस्वत नाम दिया गया है। इसके उपरान्त ही अष्टम मनु को सावर्णि कहा जाता है, क्योंकि उसमें दो वर्ण परस्पर सहयोगी हो जाते हैं। सावर्णि की स्थिति वस्तुतः असत् और सत् की वासना (आसक्ति) से रहित उस आत्मचेतना की सूचक है जिसमें न तो असत् के प्रति आसक्ति है और न सत् के प्रति आग्रह। इसके फलस्वरूप परस्पर विरोधी अनार्य और आर्य वर्ण एक दूसरे के सहयोगी हो जाते हैं। इसी अवस्था का नाम 'मनु सावर्णि' है। इन दोनों वर्णों को वेद में अधर और उत्तर दास वर्ण कहा गया है। अधर दास वर्ण स्वार्थपरायण आत्मचेतना का नाम है जिसे इन्द्र गुहाहित कर देता है— दासवर्णमधरं गुहाकः।

Digitized by Madhuban Trust, Delhi

‘अधर’ के विपरीत वेद¹⁴⁶ में ‘उत्तर’ दास वर्ण का उल्लेख भी है, जो कि ज्ञानाग्नि को समिद्ध करने के कारण ‘उत्तर मनु’ भी कहलाता है। इसका अभिप्राय है कि मनु सावर्णि वस्तुतः अधर तथा उत्तर दासवर्ण के सहयोग से उद्भूत होने वाली उस उत्तरा आत्मचेतना की शृंखला को प्रारम्भ करता है जो शेष छह मनुओं में क्रमशः विकसित दृष्टिगत होती है। सावर्णि मनु अथवा उत्तर मनु नामक अन्तश्चेतना के जन्म और उसकी उत्तरोत्तर विकसित होती हुई गरिमा तथा उसके स्थैर्य के लिये ऋ.10.62.8-11 में कतिपय सुझाव दिये गये हैं, जो भावानुवाद के रूप में प्रस्तुत हैं—

निस्संदेह कर जन्मलाभ मनु बीज सदृश उगता जाए।
जो दानार्थ सहस्र सैकड़ों, बलों को हरदम ही देता जाए॥

आकाश-शिखर सम जो अप्राप्य, मैं उसको नित पाता जाऊँ।
सिन्धु सदृश सावर्ण्य दक्षता को पाकर फैलाता जाऊँ॥

सेवाहित कल्याण-दिशा को दासद्वय ने अपनाया।
ज्ञानशक्ति से युक्त हुए यदु-तुर्वशु संज्ञा को पाया॥

मनु सहस्रदा संघविधायक, कभी न हिसित वह होवे।
विवस्वान् से युक्त दक्षता उसकी प्रतिपल ही बढ़ती जावे॥

मनु सावर्णि आयु अपनी को, निशदिन बढ़ती ही पायें।
जिसमें देवों ! बिना थके हम, दिव्य शक्ति पाते जायें॥

प्रस्तुत अनुवाद में मन्त्रगत दक्षिणा पद का अनुवाद दक्षता किया गया है क्योंकि, वेद-मन्त्रों में दक्षिणा शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में एक सम्पूर्ण सूक्त दक्षिणा पर ही है जिसके तृतीय मन्त्र में ‘दैवीपूर्तिः दक्षिणा’ कहकर उसे आत्मचेतना के विकास से होने वाली एक सामर्थ्य अथवा दक्षता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सावर्ण्य शृंखला के साथ मनु-नामों में दक्ष, धर्म, ब्रह्म, रुद्र, रौच्यदेव और इन्द्र जैसे पद भी, इसी दक्षता की ओर संकेत कर रहे हैं। सिन्धु-सदृश विस्तार पाने वाली दक्षता वस्तुतः उस आध्यात्मिक शक्ति-बीज का सुविकसित रूप है, जो मनु नामक आत्मचेतना से युक्त है। ‘प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोकमेव रोहतु’, इस वचन में मनु को तोक्म के सदृश उगने या बढ़ने वाला कहा गया है। तोक्म पद निघण्टु के अपत्यनामों में परिगणित है; साथ ही, एक सुपरिचित शब्द बीज भी वहाँ पठित है। अतः अनुवाद में तोक्म के स्थान पर बीज पद का प्रयोग किया गया है। अपत्यवाची अन्य नामों में जाः और प्रजाः जैसे शब्द भी हैं। वेद में आत्मचेतना की सामान्य उपजों को जाः¹⁴⁷ और श्रेष्ठ उपजों को ‘प्रजाः’ कहा गया प्रतीत होता है। प्रजाओं को उत्तर मनु के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। ये वही प्रजायें हैं जो मनु के प्रथम यज्ञ का अनुकरण करती रहती¹⁴⁸ हैं।

मानुषी प्रजायें

ऐसी स्थिति में मनु-यज्ञ के सन्दर्भ में उसका अनुकरण कर यज्ञ करने वाली प्रजाओं के बारे में विचार करना आवश्यक हो जाता है। निघण्टु के अपत्य नाम में संगृहीत प्रजा शब्द निश्चय ही किसी शरीरधारी की ओर इंगित नहीं करता। यह सम्भव है कि उस समय भी आज की भाँति इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होने लगा हो, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थ के उपर्युक्त प्रसंग में तो मनु नामक आत्मचेतना से उत्पन्न दक्षता और सामर्थ्य को ही प्रजा मानना उचित होगा। यहाँ जैमिनीयब्राह्मण¹⁴⁹ का यह वचन द्रष्टव्य है—“सः (मनुः) एवं यज्ञमपश्यत्। तमाहर्त् तेनायजत। ततो वै स बहु प्रजया पशुभिः प्रजायत। ता इमा मानवी प्रजा असृजत।” यही नहीं, अन्य ब्राह्मणग्रन्थों के कथन भी प्रजा के आध्यात्मिक स्वरूप की ओर इंगित करते हैं; उदाहरणार्थ—सौमीप्रजा (मै.1.109), सौम्याः प्रजाः (तै.6.4.1.3), वैश्वदेवीः प्रजाः (काठ.79), ब्रह्ममुखाः प्रजाः (तैसं.5.2.7.1), प्रजाः वै वर्चः (ऐआ.2.2.2), प्रजाः वै विश्वज्योतिः (माश.5.2.2.20); प्रजा वै मधुः (जै.2.14.4), प्रजाः वै स्वादुः (जै. 2.14), रस इव खलु वै प्रजाः (तैसं 2.1.7.4), आत्मा वै पूर्वमहः प्रजा उत्तरम् (जै. 2. 235), द्वयो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च (माश 3.5.1.13)।

माध्यन्दिन¹⁵⁰ शतपथ के अनुसार ये आदि प्रजायें विशः हैं। विश्व की भाँति विशः शब्द भी प्रवेशार्थक विश् धातु से निष्पन्न होने के कारण यह संकेत कर रहा है कि ये प्रजायें कोई अन्तर्प्रविष्ट तत्त्व हैं। इस निष्कर्ष की पुष्टि ब्राह्मणग्रन्थों के इन वचनों से भी होती है जिनमें कहा गया है— प्राणात् प्रजा प्रजायन्ते (मैसं. 4.7.7), प्राणमनु प्रजाः प्रजायन्ते (तैसं. 6.5.8.1), प्रजाः वै मतयः (तै. आ. 5.6.8), आत्मा वै पूर्वमहः प्रजा उत्तरमहः (जै. 2.235)। ब्राह्मणग्रन्थों के इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि मनुदृष्ट अथवा मनुकृत यज्ञ का अनुकरण करने वाली प्रजायें हमारी आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जो मनु नामक आत्मचेतना के विकास के साथ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रादुर्भूत होती हैं। इन्हीं शक्तियों को आदित्याः एवं अंगिरसः नामक दो आद्या प्रजायें कहा गया है अथवा मतयः प्राणाः आदि कहकर उन्हें अन्तः प्रविष्ट विशः माना गया है।

मनुयज्ञ

अतः मनुयज्ञ को भी एक मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक कर्म ही मानना होगा। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुकरण पर उसे ज्ञानयज्ञ अथवा योगयज्ञ जैसा कोई नाम दे सकते हैं। इस प्रसंग में निघण्टु के यज्ञनामों में पठित ‘अध्वा’ शब्द विशेषतः उल्लेखनीय है। ‘अध्वा’ का सामान्य अर्थ मार्ग है। अतः मनुकृत यज्ञ को ज्ञानमार्ग अथवा योगमार्ग कहा जा सकता है। ‘ऊर्ध्वा ग्रावाणः’ के प्रसंग में व्याख्यात अध्वर नाम भी यज्ञ की आध्यात्मिकता को स्पष्ट करता है और शतपथब्राह्मण¹⁵¹ के ‘प्राणोऽध्वरः’ रसोऽध्वरः जैसे कथनों द्वारा इस निष्कर्ष की पुष्टि प्राप्त होती है। निघण्टु में एक अन्य नाम ‘गातु’ है। ‘गम्’ धातु से निष्पन्न यह शब्द भी मार्ग का बोधक माना गया है। ‘यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नेषागव्यूतिः अपभर्तवा उ’, ऋग्वेद के इस मन्त्रार्थ में गातु की विशिष्ट पहिचान करने वाला यम वैवस्वत है और गातु अर्थात् मार्ग है जिसका अनुकरण नहीं हो सकता। यहाँ पर

‘गव्यूति’ से अभिप्राय गो रूपिणी ज्ञानशक्ति की ऊति (रक्षणोपाय) से है और यम वैवस्वत उस संयम का प्रतीक है, जो वासनारहित विवस्वान् नामक व्यक्तित्व में जन्म लेता है। वेद में यम को विवस्वान् की प्रथम सन्तान के रूप में और मनु को द्वितीय सन्तान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह वर्णन सिद्ध करता है कि मनु वह मननशील आत्मचेतना है, जो आत्मसंयमशील यम नामक व्यक्तित्व के आविर्भाव के पश्चात् विकसित होता है।

मनु-यज्ञ अथवा जीवयाज

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणग्रन्थ जिस यज्ञ की मीमांसा करते हैं उसके मूलाधार के रूप में वर्णित मनुयज्ञ वस्तुतः एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। इस निष्कर्ष की पुष्टि में शतपथब्राह्मण¹⁵² का यह कथन उद्धरणीय है :-

‘आत्मयाजी श्रेयान्। देवयाजी इति आत्मयाजी इति ब्रूयात्। स ह वा आत्मयाजी। यो वेद इदं मे अनेन अङ्ग संस्क्रियते इदं मे अनेन अंगमुपधीयते इति। स यथा अहिस्त्वचो निर्मुच्यते एवं अस्मात् मर्त्यात् शारीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते। स ऋङ्मयो, यजुर्मयः, साममयः, आहुतिमयः स्वर्गलोकमभिसम्भवति।’

इसके अनुसार अपने विभिन्न अंगों का ऐसा संस्कार और उपधान करना यज्ञ है जिससे सभी पापों से मुक्ति प्राप्त हो जाय। यही देवयज्ञ है। इसी आत्मयज्ञ को करने वाला श्रेयस्कर (श्रेयान्) माना गया है। यही ऋग्वेद का जीवयाज¹⁵³ है जिसे भाष्यकारों ने समझने में स्थूलन किया है। जिस अग्नि में यह यज्ञ सम्पादित किया जाता है उसे सम्पूर्ण सूक्त में अनेकशः, प्रमति, इडा, मेधिर, शिव, प्रथमऋषि आदि कहा गया है। यह विकृत ‘पूर्व’ को अपर (सुसंस्कृत) रूप देने वाला तथा मनु के लिये द्यौ को शब्दायमान करने वाला सुकृत्तर-अग्नि¹⁵⁴ है। अतः जब इस प्रकार के यज्ञ का कर्ता ‘स्वादुक्षदमा’ कहा जाता है, तो इसका अर्थ उस ‘स्वादु’ का घर मानना होगा जिसे जैमिनीय ब्राह्मण में प्रजाः कहा गया¹⁵⁵ है। अतएव यह जीवयाज जीवात्मा का यज्ञ है और उपर्युक्त आत्मयज्ञ का ही बोधक है न कि स्वादिष्ट जीव-जन्तुओं के भक्षण का।

इस व्याख्या को पुष्ट करने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों के कतिपय उन अंशों को उद्धृत करना समीचीन रहेगा जिनमें कर्मकाण्डों के विभिन्न अंगों और उपांगों का समीकरण आध्यात्मिक तत्त्वों के साथ किया गया है :- आत्मा देवयजनम् (मैसं. 3.8.4; गो 1.2.24); आत्मा यजमानः (तैआ.10.64.1; गो. 2.5.4); आत्मा वा आहवनीयः एक कपालः (काठ. 36.1; 21.4); आत्मा वै जुहूः (मै. 4.1.12); आत्मा होतृ चमसः (ऐ. ब्रा. 2.30); आत्मैव वेदिः (माश. 12.9.1.1; जैउ.3.1.4.3); आत्मैवोखा (माश. 6.5.3.4; 6.2.15); यो मस्तिष्कः स पुरोडाशः (काठ. 31.7); यथा मस्तिष्क एवं पुरोडाशः (मै. 4.1.9); मस्तिष्को वै पुरोडाशः (तै. 3.2.8.7); मनसा हि पुरुषो यज्ञमधिगच्छति (तैसं. 5.1.3.2); प्राणैः यज्ञस्तायते (जै. 2.431); प्राणो धूमः यज्ञस्य (माश. 6.5.3.8)। इसी क्रम में पूर्वोल्लिखित वैदिक ग्रन्थों का ‘जयमर्यम’ नामक अग्निहोत्र भी द्रष्टव्य है।

पञ्चमानव, सप्तमानुष और सूर्य

मनु-यज्ञ के इस वर्णन में यद्यपि उस ऊर्ध्वमुखी साधना का ही संकेत प्रतीत होता है जिसकी परिणति ब्रह्मात्मसायुज्य के साक्षात्कार में होती है, परन्तु वास्तव में ऐसे प्रत्येक साक्षात्कार के पश्चात् जो नवशक्तियुक्त चेतना मनुस् रूप में अवतरित होती है वह मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय स्तरों को मानुषी त्रिलोकी में परिणत कर देती है, इससे पूर्व ये तीनों स्तर आसुरी प्रभाव में रहते हैं। नवशक्ति-अवतरण के परिणामस्वरूप इन तीनों स्तरों का दैवी त्रिलोकी (हिरण्यय, आनन्दमय और विज्ञानमय) से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। साथ ही, पञ्चज्ञानेन्द्रियों, मन और अहंकार के सप्तक में उसी ब्रह्माग्नि का अवतरण हो जाता है, जो पञ्च-मानवों को सुलभ होता है। यह परिवर्तन ऊर्ध्वगामी 'उपर' मनु के उस प्रत्यावर्तित रूप की देन है जिसे भ्रम-निवारणार्थ, मनुस् (सकारान्त) नाम दिया गया है। इस मनुस् के कारण ही उक्त सप्तक को 'मानुष' तथा उनमें सक्रिय अग्नि को 'सप्त-मानुष' कहा गया है। यह अग्नि मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय कोशों में 'त्रिपस्त्य' (तीन घरों वाला) होकर इन तीनों स्तरों के दस्युओं का सर्वाधिक हन्ता¹⁵⁶ बन जाता है।

यह ब्रह्माग्नि ही पूर्वोल्लिखित वह सविता है, जो मानवों के लिये रत्नों का वितरण करता¹⁵⁷ है और मानुषों के लिये अव्यक्त जीवनों (अनूचीना जीविता) को व्यक्त¹⁵⁸ करता है। अव्यक्त जीवनों को मानुष स्तरों पर व्यक्त करने से मनुष्य की दश इन्द्रियाँ और दश प्राण उक्त ब्रह्माग्नि को ग्रहण करके 'ब्राह्मण' बन जाते हैं, जबकि इस परिवर्तन से पूर्व वे दश अब्राह्मण (ब्रह्मरहित) स्त्रियाँ तथा दश अब्राह्मण पति कहलाते हैं। इन अब्राह्मण स्त्रियों (इन्द्रियों) का एकीकरण योग द्वारा ही सम्भव है और उनके एकीकृत ब्रह्मा रूप की ओर 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ'¹⁵⁹ का कथन संकेत करता प्रतीत होता है। स्त्रियों के एकत्व के फलस्वरूप दशप्राणरूप पति भी एकीकृत होकर एक पति बन जाते हैं और तमी शक्ति और शक्तिमान् का तादात्म्य ब्रह्मा कहा जाता है— ब्रह्मा चेद्वस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा।¹⁶⁰ ब्राह्मण (ब्रह्मोद्भूत) ब्रह्मा ही होता है, जो वस्तुतः ब्रह्म का ही रूपान्तर¹⁶¹ माना जाता है ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी ब्रह्मजाया का पति नहीं हो सकता। इस रहस्य को उक्त पञ्चमानवों के प्रति ब्रह्मरूप सूर्य उस समय उद्घाटित करता है जब वे उसका पति बनने का प्रयत्न करते हैं।¹⁶²

सन्दर्भ

- 1 प्राणो वाऽर्कः । माश 10.4.1.23 ; 6.2.7
- 2 यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम् । शौ. 19.72.1
- 3 निघण्टु के धननामों में पठित; विशेष अध्ययन के लिये द्र. 'ऋग्वेद में धन की परिकल्पना' नामक शोध-ग्रन्थ - जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर, 1970 (अप्रकाशित)
- 4 अन्तर्हिख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर । ऋ. 1.81.9
- 5 ततो प्राणोऽजायत स इन्द्रः । माश. 14.4.3.19
- 6 प्राणो वै सोम राजा । जै. 1.361; प्राणो हि सोमः । काठ. 35.16; तां. 9.9.1.5; प्राणःसोमः । माश 7.3.1.2
- 7 प्राणोऽमृतं तद्धि अग्नेः रूपम् । माश 10.2.6.18
- 8 ऋ. 9.66.19-21
- 9 वही, 9.5.7-9
- 10 वही, 4.26-27
- 11 वैदिक दर्शन, पृ. 143
- 12 असर्जि स्कम्भो दिव उद्यतो मदः परि त्रिधातुर्भुवनान्यर्षति । ऋ. 9.86.46; तु. 9.1.8 ; 70.8
- 13 ऋ. 10.51.3-4
- 14 वही
- 15 ऋ. 10.51.5
- 16 वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा । मनुष्वच्छम्भू आगतम् । ऋ. 1.46.13
- 17 यदी विवस्ततो धियो हरि हिन्वन्ति यातवे । ऋ. 9.99.2
- 18 नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा । ऋ. 9.14.5
- 19 सम् ऊँ त्वा धीभिरस्वरन् हिन्वतीः सप्त जामयः । ऋ. 9.66.8
- 20 यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा सन्दायि नव्यसी । ऋ. 1.139.1
- 21 यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते । ऋ. 10.12.7
- 22 प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वते । ऋ. 10.75.1
- 23 ऋ. 1.44.1
- 24 वही, 3.30.13
- 25 ईळेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम् । मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महम् ।। ऋ. 7.2.3
- 26 येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः । ऋ. 10.63.7
- 27 जोहुत्रो अग्निः प्रथमः पितेव इलस्पदे मनुषा यत् समिद्धः । श्रियं वसानो अमृतो विचेता मर्मृजेन्यः श्रवस्यः स वाजी ।। ऋ. 2.10.1
- 28 मन्विद्ध इत्याह मनुर्हि एतम् उत्तरो देवेभ्यः ऐन्ध । तैसं. 2.5.9.1
- 29 मनुष्यवत् त्वा निधीमहि मनुष्वत्समिधीमहि । ऋ. 5.21.1
- 30 ऋ. 2.10.6
- 31 ऋ. 8.43.13
- 32 ऐआ. 2.6 ; ऐउ. 3.1-2
- 33 ऋ. 1.31.1
- 34 वही, 2 CC-0. Shri Vipin Kumar Col. Deoband. In Public Domain.

- 35 ऐउ. 3.3
 36 ऋ. 3.55.6
 37 वही, 7
 38 वही, 1.31.7
 39 मैसं 4.2.1; तै. 2.3.8.3
 40 ईळे द्यावापृथिवी पूर्वचित्तयेऽग्निं घर्मे सुरुचं यामन्निष्टये। याभिर्भरे कारमंशाय जिन्वथस्ताभिर ऊ षु उत्तिभिरश्विना गतम्॥ ऋ. 1.112.1
 41 इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षं अश्विनौ इमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्। माश.4.1.5.16; द्यावापृथिवी अश्विनौ। काठ. 13.5
 42 हिरण्ययी अरणी यं निमथ्नत् अश्विना । ऋ. 10.184.3
 43 तु. याभिर्धियोऽवथः कर्मन्निष्टये॥ ऋ. 1.112.2
 44 त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः। स्वादुक्षदमा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः॥ ऋ. 1.31.15
 45 ऋ. 2.10.6
 46 वही, 4.54.1
 47 ऋ. 4.54.2
 48 शौ. 3.21.5 ;12.1.15
 49 शौ. 3.24.3
 50 ऐब्रा. 5.14 में यह नाभुमान नेदिष्ट के नाम से वर्णित है।
 51 नि. 4. 3
 52 पा.धा. 4.55 (संस्कृत धातुकोश:पृ. 70)
 53 काठ. 37.16
 54 प्राणो वा अयं सन्नाभेरिति तस्मान्नाभिस्तन्नाभेर्नाभित्वम्। ऐ. 1.20 (द्र. वैदिक एटिमॉलोजी, पृ. 150); ले. डॉ. फतहसिंह
 55 पा.धा. 3 .2 (संस्कृत धातुकोश:पृ. 85)
 56 तां 6.8.3
 57 शौ. 3 .4. 7
 58 ऋ. 10 .61.18
 59 तदबन्धुः सूरिर्दिवि ते धियंधा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन । सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदास॥ ऋ. 10.61.18
 60 तु. ऊँ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। श्रीमद्गी. 17.23
 61 ईमहे। तत् । ऊँ इति। नु।
 62 ऋ. 10. 61. 26-27
 63 वही, 17
 64 वही
 65 अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः। ऋ. 10.61.16
 66 ऋग्वेद में नाभाक पद केवल 8.41.2 में ही आया है, जबकि नाभाक काण्व नामक ऋषिदृष्ट सूक्त 8.39-42 तक है।
 67 ऐ. 1. 6
 68 मक्षू कनायाः सख्यं नवग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन्। द्विबर्हसो य उप गोपमागुरदक्षिणासो अच्युता दुदुक्षन्॥ ऋ. 10.61.10
 69 ऋ. 10. 61 13

- 70 भर्गो ह नामोत यस्य देवाः स्वर्ण ये त्रिषधस्थे निषेदुः। अग्निः ह नामोत जातवेदाः श्रुधी नो होतऋतस्य होता धुक ॥ ऋ. 10.61.14
- 71 माश. 8.6.1.19
- 72 ऋ. 10.61.15
- 73 वही, 17
- 74 वही, 8.39-44
- 75 वही, 8.39.8-9
- 76 वही, 8.39.7
- 77 तु. ऋग्मियमग्निं ईळा यजध्यै। ऋ. 8.39.1
- 78 ऋ. 1.31.9; 94.1; 109.1
- 79 वही, 6.45.4; 10.100.5
- 80 इन्द्राग्न्योरनु व्रतमुहाना यन्ति सिन्धवो यान्त्सीं। बन्धादमुञ्चतां नभन्तामन्यके समे ॥ ऋ. 8.40.8
- 81 तं शिशीता सुवृक्तिभिः त्वेषं सत्वानमृग्मियम्। उतो नु चिद्य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरपो नभन्तामन्यके समे। ऋ. 8.40.10
- 82 ऋ. 8.41.1
- 83 वही, 8.41.2
- 84 वही, 8.41.3
- 85 यः ककुभो निधारयः पृथिव्यामधि दर्शतः। स माता पूर्वं पदं तद् वरुणस्य सप्त्यं। स हि गोपा इवेर्यो नभन्ता ऋ. 8.41.4
- 86 ऋ. 5.3.3; 7.87.4; 8.41.5
- 87 ऋ. 8.41.8
- 88 ऋ. 8.41.3
- 89 ऋ. 10.90.13
- 90 असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मूढया नः स्वस्ति ॥ ऋ. 10.59.6
- 91 चक्षु नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः। सं चेदं वि च पश्येम ॥ ऋ. 10.158.4
- 92 जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधप्रबन्ध 'मनु इन ऋग्वेद' ले. डा. डी. बी. क्षीरसागर (1972) (अप्रकाशित)
- 93 तु. तदवनमित्युपासीतव्यम्। केउ. 4.6
- 94 ऋ. 9.106.4, 6.11; तु. इयं हीमाः सर्वाः प्रजाः अवति। माश. 8.1.2.33
- 95 द्र. वैदिक दर्शन पृ. 126, ले. डा. फतहसिंह :संस्कृति-सदन, कोटा (सं.2006)
- 96 तु. ऋ. 9.106.4,6,11 आदि
- 97 ऋ. 9.101.7-9
- 98 ऋ. 10.49.8
- 99 द्र. सा. भा. ऋ. 10.47; बृ. 7.49
- 100 ऋ. 3.55.
- 101 ऋ. 1.24.14; 1.174.1; 2.26.10; 4.2.5; 8.90.6; 10.96.11; 99.12; 132.4
- 102 ऋ.3.55.1
- 103 यत्ते जामित्वमवरं परस्या महन्महत्या असुरत्वमेकम्। ऋ. 10.55.4
- 104 ऋ. 10.124.2
- 105 वही 3

106 वही 4

107 नि. 3. 2 .2

108 बृ. 7.49-57

109 ऋषिस्तु सप्तगुर्नाम तस्यासीत्सुप्रियः सखा । स चैनमभितुष्टाव जगृम्भेति करे स्पृशन् । वही, 7.46

110 शर्ध शब्द समूहवाचक है, परन्तु 'शृ हिंसायाम्' के साथ धारणा पोषणार्थक 'धा' धातु के योग से निष्पन्न यह पद अवांछनीय तत्त्वों को नष्ट करने वाले मरुद्गण के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

111 ऋ. 1.122.10

112 ऋ. 1.122.12

113 ऋ. 7.6.5

114 अग्निं विश ईळते मानुषीर्या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः । अग्निर्गान्धर्वो पथ्यामृतस्याग्नेर्गव्यूतिर्धृत आ निष्ता ॥ ऋ. 10.80.6; द्र. सा. भा. में मनुषः ब.व. माना गया है, ऋ. 1.122.8; 10 में सायण ने सचा सनेम नहुषः सुवीराः में नहुष को बहुवचनान्त माना है ।

115 स नृतमो नहुषोऽस्मत्सुजातः पुरोऽभिनदर्हन्दस्यु हत्ये । ऋ.10.99.7; तु. 'सप्तहा' विशेषण । ऋ. 10.49.8

116 'नहुष' ईन्द्र के विपरीत महेन्द्र 99 पुरों को नष्ट करता है ।

117 मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् । उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ ऋ. 10.159.3

118 यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥ ऋ. 10.159.6

119 त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य विशपतिम् । इळामकृण्वन्मनुषस्य शासनीं पितुः यत्पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ऋ. 1.31.11

120 ऋ. 10.42.4

121 सत्त्वनां मामकानां मनांसि । ऋ. 10.103.10

122 उदसौ सूर्यो उगादुदयं मामकं वचः । शौ. 1.29.5

123 ऋ. 10.159.1

124 त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानाम् अभवः शिवः सखा । ऋ.1.31.1

125 त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम् । विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे ॥ ऋ. 1.31.2

126 ऋ. 1.31.3

127 ऋ. 10. 91.10-12

128 इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदौ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत । वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत् ॥ ऋ. 10. 91.12

129 ऋ. 10. 91.13

130 ऋ. 10 .92.15

131 तैसं. 3.2.2.3; मै. 3. 6.10; माश. 1.4.1.40

132 माश 7.3.1.5

133 सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीळ्यो न मातरं तुदन्तः । वि षू मुञ्चा सुषुषो मनीषां वि वर्तन्तामद्रयश्चायमानाः ॥ ऋ. 10 .94.14

134 ऋ. 10. 94 .8

135 ऋ. 10. 76 .2

- 136 भुरन्तु नो यशसः सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता। नरो यत्र दुहते काम्यं मध्वा घोषयन्तो अभितो मिथस्तुरः॥ ऋ. 10.76.6
- 137 प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत। ऋ. 10.175.1
- 138 ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम्। उस्त्राः कर्तन भेषजम्॥ वही 2
- 139 ऋ. 10 .94.1
- 140 यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः रसं हि एवं अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति।
तै. आ. 8.7.1; तै. 2.7.1
- 141 त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधसः। यद्देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः॥ ऋ. 10. 91 .9
- 142 द्र. 'भारतीय समाजशास्त्र के मूलाधार', ले. डॉ फतहसिंह पृ. 115-134
- 143 'स्व+अयम्+भुवः' यहाँ 'भू' धातु भौतिक गति की द्योतक है।
- 144 स्व+आ+रुचः यहाँ 'रुच' धातु मनोवैज्ञानिक गति को बताती है।
- 145 द्र. 'ऋग्वेद में धन की परिकल्पना' जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधग्रन्थ, पृ. 65-101
- 146 तैसं. 2.5.9.1 तु. दासमार्यम् ऋ. 10.83.1; 86.19 (अयमेमि विचाकशत् विचिन्वत् दासमार्यम्)
- 147 देखें - 'जाः' ऋ. 1.143. 8; 6.47.21; जास्पतिः ऋ. 7.38.6 तथा जास्पत्यम् ऋ. 5.28.3; 10.85.23
- 148 मनुर्ह वाऽग्रे यज्ञेनेजे यदनुकृत्य इमाः प्रजाः यजन्ते। मैसं. 4.2.1
- 149 जै. 2.108
- 150 आद्या हि इमाः प्रजाः विशः माश. 4.2.1.17
- 151 माश. 7.3.1.5; 7.3.1.6
- 152 माश. 11.2.6.13
- 153 त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः। स्वादुक्षदमा यो वसतौ स्योनकृत् जीवयाजं यजते सोपमा दिवः॥ ऋ. 1.31.15
- 154 त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरुरवसे सुकृते सुकृत्तरः। स्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः॥ ऋ. 1.31.4
- 155 प्रजा वै स्वादुः। जै. 2.144; प्रजा स्वादुः। ऐआ. 1.3.4
- 156 यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु। तमगन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुः दस्युहन्तमग्निं यज्ञेषु पूर्वम्॥ ऋ. 8.39.8
- 157 ऋ. 4.54.1
- 158 ऋ. 4.54.2
- 159 ऋ. 8.33.19
- 160 शौ. 5.17.8
- 161 ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम्। तै. 3.12.9.3
- 162 शौ. 5.17.9

मनूष्याः प्राणाः

मनुष्याः प्राणाः

अतएव वैदिक साहित्य में प्रयुक्त मनुष्य अथवा मनुष्याः को निश्चय ही केवल उस जातिवाचक संज्ञा के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता जिसके अन्तर्गत नर, नारी और क्लीब सभी की गणना होती है। 'मनुष्याः वै विश्वेदेवाः'⁶ कहकर काठक संहिता जिस ओर संकेत करती है उसी की पुनरुक्ति मैत्रायणी संहिता में 'विश्वे हि इदं देवाः स्म यन्मनुष्याः'⁷ में की गई है। ब्राह्मणग्रन्थ भी 'प्राणाः वै विश्वेदेवाः'⁸ का पुनर्पुनः वाचन करते हैं तो यह सन्देह होता है कि उक्त मनुष्याः और विश्वेदेवाः से भी कहीं प्राण ही तो अभिप्रेत नहीं हैं। इसकी पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण के 'प्राणो मनुष्याः'⁹ के कथन से होती है। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण जब प्राणों को मन से उत्पन्न अथवा मन से युक्त तथा 'दक्षकृतवः'¹⁰ कहता है, तो भी यही संकेत प्राप्त होता है कि उक्त 'मनुष्याः' शब्द प्राणवाची है।

ऐसी स्थिति में नैघण्टुक मनुष्यनामानि की सूची में परिगणित नामों को केवल मनुष्य जातिवाचक शब्द मानने की प्रथा पर प्रश्नचिह्न लगाना आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि निघण्टु के वे सभी नाम उसी प्रकार बहुवचनान्त हैं जिस प्रकार ‘आपो वा प्राणाः’ जैसी उक्तियों में प्रयुक्त ‘आपः’ और ‘प्राणाः’ शब्द हैं। उनमें से मनुष्याः, धवाः, जन्तवः, विशः, क्षितयः, कृष्टयः, चर्षणयः, हस्तयः, मर्माः, कर्मयः, नीतिः, व्रीताः, त्वंशः, द्रूधवः, आयवः, यदवः

अनवः, पूरवः, जगतः, तस्थुषः, पञ्चजनाः, विवस्वन्तः और पृतनाः के बहुवचनान्त होने में तो किसी को भी संभवतः संदेह नहीं होगा, परन्तु सूची में सम्मिलित 'नहुषः' और 'नरः' शब्दों के विषय में कुछ शंका हो सकती है, क्योंकि इनमें से प्रथम पौराणिक परम्परा में उस राजा का नाम है, जो इन्द्र होकर स्वर्ग पहुँचता है, परन्तु इन्द्रपत्नी शची को अपनी पत्नी बनाने का आग्रह करने के कारण वह सप्तर्षियों का कोपभाजन होकर शापित होता है। द्वितीय शब्द 'नरः' सामान्य बोलचाल में, एकवचनान्त पुरुषवाचक संज्ञा के रूप में ही प्रयुक्त होता है। अतः इन दोनों शब्दों के वैदिक स्वरूप पर विचार अपेक्षित है।

नहुषः और नरः

इन दोनों में से नहुष शब्द के एकवचन रूप (नहुस्) पर 'नहुष मानव' के प्रसंग में चर्चा हो चुकी है। मनुस् के मनुषः रूप के समान इसका भी नहुषः रूप मूलतः बहुवचनान्त ही रहा होगा। जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्ट होता है :-

अग्निं विश ईळते मानुषीर्या अग्निं मनुषो नहुषो विजाताः। ऋ. 10.80.6

यहाँ 'विशः मानुषीः' को ही मनुषः और नहुषः नाम से भिन्न-भिन्न रूपों में जन्मा हुआ (विजाताः) कहा गया है। अतः मनुषः के साथ नहुषः को भी बहुवचनान्त 'मानुषी विशः' का बोधक मानना होगा। नहुस् के इस बहुवचनान्त रूप नहुषः को ही विकल्प से 'मानुषीः विशः' के अनुकरण पर 'नाहुषी विशः'¹¹ कहा गया है। अतः सिद्ध होता है कि निघण्टु के 'मनुष्यनामानि' में परिगणित नहुषः शब्द भी मनुष्याः आदि के समान बहुवचनान्त¹² ही है। इसके अतिरिक्त उक्त मन्त्र में जिस 'विशः' शब्द के लिये 'नहुषः' पद प्रयुक्त है वह स्वयं बहुवचनान्त है, वेद में वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः तथा मरुतः के गणों के लिये भी 'विशः' का प्रयोग इसकी पुष्टि करता है।¹³

नहुषः के समान निघण्टु के मनुष्य-नामों में पठित 'नरः' शब्द भी इसी प्रकार भ्रमोत्पादक है। यह लौकिक संस्कृत में मनुष्यवाचक तथा प्रथमा एकवचन का रूप है, परन्तु वेद में नृ शब्द के बहुवचनान्त रूप में इसका प्रयोग हुआ है; जैसा कि मरुतः नरः के प्रसंग में इसका किंचिद विस्तृत विवेचन किया जायेगा। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि नहुषः, नरः, विशः, और मनुष्याः के समान अन्य जितने शब्द मनुष्यनामानि में परिगणित हैं वे सभी बहुवचनान्त हैं। आपः कहलाने वाले उक्त प्राणाः भी बहुवचनान्त ही हैं। इन प्राणाः का मनुष्याः के साथ समीकरण ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। अतः लौकिक संस्कृत में मनुष्यवाचक नरः चाहे एकवचनान्त हों, परन्तु वेद में तो यह नहुषः के समान बहुवचनान्त भी सिद्ध होता है।

मरुतः नरः

'मरुतः' के लिये 'नरः' शब्द का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि मरुतः का समीकरण भी मनुष्याः के समान प्राणाः¹⁴ और आपः¹⁵ दोनों के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त मरुतः को मनवः¹⁶ भी कहा गया है। इन सन्दर्भों

से स्पष्ट है कि मरुतः भी किसी न किसी प्रकार के मनुष्य-प्राण ही हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणों¹⁷ के समान मरुतों¹⁸ को भी रश्मयः कहना उनकी प्राणरूपता को असिद्ध सिद्ध करता है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि मनुष्यनामानि में समाविष्ट 'नरः' के समान मर्याः, मर्त्याः, और मर्ताः जैसे अन्य अनेक शब्द हैं जो मरुतः के लिये भी प्रयुक्त हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशः शब्द है। तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणी तथा काठकसंहिता आदि ग्रन्थ जहाँ मरुतः को 'विशः'¹⁹ कहते हैं वहीं शतपथब्राह्मण और जैमिनीयब्राह्मण 'मरुतो दैवीविशः'²⁰ की घोषणा करते हैं। इसके अतिरिक्त जिन अन्य देवगणों के लिये विशः शब्द का प्रयोग हुआ है उनमें आदित्याः भी हैं। तैत्तिरीय आरण्यक का मरुतः को आदित्य प्रवर्ग्य की रश्मियाँ कहना उनकी आदित्यरूपता की पुष्टि करता है।²¹ अनेक मन्त्रों में मरुतः को 'वसवः'²² और 'विश्वेदेवाः'²³ भी कहा गया है, जबकि गण रूप में ये दोनों विशः कहे गये हैं। 'प्राणाः वै वसवः'²⁴ 'प्राणाः वै विश्वेदेवाः',²⁵ 'प्राणाः वै रुद्राः'²⁶ जैसी उक्तियाँ सभी देवगणों को मरुतः के समान प्राण ही सिद्ध करती हैं।

मनुष्य प्राणों की रश्मिरूपता

इस विवरण से स्पष्ट है कि 'मनुष्याः वै नरः'²⁷ वही मरुतः नरः हैं जिन्हें प्राणों के समान 'रश्मयः' कहा जाता है। मरुतः को 'निघण्टु' के हिरण्यनामों में भी परिगणित किया गया है, जो निस्संदेह 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए पाये गये हैं।²⁸ इसका अर्थ है कि अब तक मरुतः के प्रसंग से जिन नरः आदि मनुष्य-नामों का उल्लेख हुआ है वे सब मूलतः प्रकाशात्मक प्राणरश्मियाँ हैं इस निष्कर्ष की पुष्टि मनुष्यनामों में पठित 'हरयः' शब्द से होती है। यद्यपि, परम्परागत अर्थ के अनुसार 'हरयः' इन्द्र के अश्वों का बोध कराता है, परन्तु प्रथम अध्याय की चर्चा के आधार पर एकवचनान्त हरि शब्द हिरण्यकोश तथा आनन्दमयकोश की ज्योति एवं आनन्द का वाचक है; उसका अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवाह इन्द्र के दो हरियों के रूप में कल्पित है और इन्हीं के विविध रूपों को अनेक हरयः कहा गया है। इसी हरि नामक आनन्द और ज्योति के आधार पर हिरण्यकोश को हरिणी नामक 'प्रभाजमाना अपराजितापुरी' कहा गया है। इसी हरि शब्द पर आश्रित विविध प्रकार की कल्पनाएँ उस "हरिस्तुति" सूक्त में प्राप्त होती हैं, जो ऋ. 10.96 का वर्ण्यविषय है। इस सूक्त के छठे मन्त्र में जहाँ 'सोमाः हरयः' कहकर आनन्द - सोम की प्राणरश्मियों की प्रकाशरूपता स्वीकार की गई है वहीं नवम मन्त्र में पूर्वोक्त हरिणी शब्द के उल्लेख द्वारा मनुष्यनामों के अन्तर्गत पठित 'हरयः' की रश्मिरूपता को भी माना गया है। इसी सूक्त के एकादशम मन्त्र में सूर्य को हरि कहकर भी इसी निष्कर्ष का समर्थन किया गया है। हिरण्यकोशीय ब्रह्मात्मसायुज्य से उद्भूत रश्मियाँ होने के कारण इन्हें इन्द्र को वहन करने वाले 'ब्रह्मपूताः हरयः'²⁹ कहा जाता है। अथर्ववेद 13.1.24 में हरयः के लिये सूर्य का 'भ्राजमाना अश्वाः' विशेषण इसी निष्कर्ष को पुष्टि प्रदान करता है।

परस्पर विरोधी प्राणरश्मियाँ

ज्योतिर्मयता के अतिरिक्त इन प्राणरश्मियों की एक विशेषता उनका अमृतत्व है; तभी 'हरयः' मरुतः नरः आदि को अनेकशः अमृताः कहा गया है।

लेकिन उनका यह वैशिष्ट्य पूर्वोक्त मर्याः, मर्ताः तथा मर्त्याः पदों का विरोधी सिद्ध होता है, जो न केवल 'मरुतः नरः' के लिये प्रयुक्त हुए हैं, अपितु मनुष्यनामानि में भी परिगणित हुए हैं। इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि प्राणरश्मियाँ द्विविध हैं। इसीलिए उन्हें जहाँ एक ओर अविनाशी (अमृताः) कहा गया है वहीं दूसरी ओर नश्वरतासूचक मर्याः, मर्ताः, आदि नाम भी दिये गये हैं। इस विरोधाभास का कारण यह है कि अहंकारजन्य वृत्र के अधीन होकर जब मानुषी त्रिलोकी (मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश) दैवी त्रिलोकी से उद्भूत शुद्ध 'आपः प्राणाः' से वंचित हो जाती है, तो उसके प्राण 'मर्याः, मर्त्याः तथा मर्ताः' की स्थिति में आ जाते हैं। इन मनुष्यप्राणों को मरण से बचाने के लिये वे मानुषी प्राण अपेक्षित हैं जिन्हें 'आपः मानुषीः' और 'मिषजः मातृतमाः' कहा गया³⁰ है। इनकी तुलना उन प्राण रूप आपः से भी की जा सकती है, जो 'मिषजः'³¹ 'ओषधयः' तथा 'अमृताः'³² कहे जाते हैं।

पृतनाः

इसी प्रकार का विरोधाभास निघण्टु के मनुष्यनाम में संगृहीत पृतना शब्द उपरिथित करता है, जो मूलतः शत्रुताबोधक है जिसे प्रायः भाष्यकार³³ युद्धवाचक मानते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में निश्चय ही ब्राह्मणग्रन्थ की 'युधः वै पृतनाः' की घोषणा के अतिरिक्त वेद के वे मन्त्र हैं जिनमें पुनः पुनः 'पृतनाः' शब्द का प्रयोग उन आन्तरिक (विश्वाः) शत्रु-सेनाओं के लिये हुआ है जिन्होंने इन्द्र के भागभूत 'कं' नामक सोम को अपने अधिकार में कर लिया था और जिसे पीने के लिये 'अप्सुजित् मरुत्वान्' इन्द्र को बारम्बार आमन्त्रित किया जा रहा है³⁴। उक्त आन्तरिक शत्रु सेनाओं को जीतने वाले सोम प्राणों को 'पृतनाजः सोमाः' कहा जाता है³⁵। इसी प्रसंग में 'पृतनाज्यम्' संग्राम का वाचक होता है। ऋ.8.12 में पृतनाज्य का अद्भुत वर्णन प्राप्त होता है—पृतनाज्य में देवों ने इन्द्र को आगे किया उसके पश्चात् ही हरिद्वय ने उसको वहन किया—'आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः' की टेक द्वारा सूक्त के उत्तरार्द्ध में इन्द्र के पराक्रम का वर्णन है। इसी पृतनाज्य में वज्री इन्द्र ने अपने शवस् द्वारा नदीवृत् वृत्र का वध किया। विष्णु ने अपने ओज द्वारा तीन पदों से विक्रमण किया; जब उसके प्रिय हरिद्वय प्रतिदिन वर्धमान होने लगे तो इन्द्र के लिये उसकी मारुती विशः ने सर्वत्र नियन्त्रण प्रारम्भ कर दिया और उस सूर्य नामक शुक्र-ज्योति को द्युलोक में धारण किया। इन घटनाओं के फलस्वरूप, इन्द्रभक्त विप्र ने अपनी धीतियों द्वारा अध्वर नामक आध्यात्मिक यज्ञ में अपनी सुष्टुति को अभिव्यक्ति दी।³⁶ इस अध्वर का संपादन उस इन्द्रधाम में होता है जिसे यज्ञ की नाभि भी कहा गया है और जहाँ सभी प्राणरूप देव केन्द्रित होकर (समीचीनासः) दोहन करने लगते हैं।³⁷ यह वर्णन निस्संदेह योग की उस अवस्था का प्रतीत होता है जिसे 'धर्ममेघ समाधि' कहा जाता है। अतः यहाँ जिस सूर्य नामक शुक्र-ज्योति का उल्लेख है उसको ब्रह्मसाक्षात्कार के सम्बन्ध में समझा जाना चाहिये। यह इन्द्रधाम ही विष्णु का परम धाम है जहाँ पहुँचने के लिये आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूपी तीनों लोकों का विक्रमण करता है।

सुदास् का आध्यात्मिक स्वरूप एवं मनुष्य-नाम

पृतनाः के समान मनुष्य-नामों में कतिपय अन्य शब्द भी हैं जिनको शत्रुवाचक कहा जा सकता है; जैसे- अनवः, पूरवः, द्रुह्यवः, यदवः तथा तुर्वशः। इन्हें दाशराज्ञ युद्ध में सुदास् के शत्रु रूप में प्रस्तुत किया गया है। सामान्यतः विद्वानों ने इस युद्ध और उसके प्रमुख नायक सुदास् को ऐतिहासिक पुरुष माना है। अतः अनवः आदि को भी कोई ऐतिहासिक जातियाँ समझा जाता है। किन्तु इस मान्यता के आधार पर न तो दाशराज्ञ युद्ध के स्वरूप को समझा जा सकता है और न ही उससे सम्बन्धित व्यक्तियों अथवा समूहों का सम्यक् बोध हो सकता है; उदाहरण के लिये, इस युद्ध के प्रमुख सूत्रधार वसिष्ठ ऋषि को लें जो राजा सुदास् के लिये इन्द्र की सहायता प्राप्त करवाता है। शतपथब्राह्मण के कथनानुसार वसिष्ठ वस्तुतः प्राण है।³⁸ इस कथन का तादात्म्य ऋग्वेद के उस आख्यान से भी होता है जिसमें वसिष्ठ और अगस्त्य की उत्पत्ति मनुष्यव्यक्तित्व रूप घट से मानी गई है।³⁹ एक अन्य सन्दर्भ के अनुसार वसिष्ठ के जन्म का कुछ सम्बन्ध अप्सरा उर्वशी के मन से भी है जिसे देवमन अथवा ऊर्ध्वमन कहा जा सकता है।⁴⁰

वसिष्ठ के इस आध्यात्मिक परिवेश के समान ही दाशराज्ञ युद्ध के प्रमुख नायक सुदास् के विषय में भी कुछ ऐसे भी संकेत प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर उसे 'सु' का दान करने वाला सदाचारी जीवात्मा अथवा प्राण कहा जा सकता है।⁴¹ सिन्धु अर्णव के वेग को निरुद्ध कर उसको पार कराने वाले विश्वामित्र⁴² ऋषि, वैदिक परम्परा में विश्वमैत्री,⁴³ श्रवणशक्ति,⁴⁴ और वाक्⁴⁵ के प्रतीक माने गये हैं। वास्तव में, वसिष्ठ के समान ही विश्वामित्र भी एक प्राण है, जो एक ऐसे आध्यात्मिक यज्ञ में भाग लेते हैं जिसे वसिष्ठ अथवा 'दाक्षायण' यज्ञ⁴⁶ कहा जाता है। वसिष्ठ इस यज्ञ की रक्षा मध्य में और विश्वामित्र सर्वतः करते हैं। उत्तर में इस यज्ञ के रक्षक भरद्वाज और दक्षिण में वामदेव हैं।⁴⁷ शतपथब्राह्मण⁴⁸ इन दोनों ऋषियों को प्राण मानता है। इस यज्ञ को दाक्षायण कहने का अभिप्राय यह है कि इस यज्ञ में इन चार प्राणों द्वारा मनुष्यव्यक्तित्व को एक ऐसी दक्षता (दक्षिणा) प्राप्त होती है जिसे 'दैवीपूतिः दक्षिणा' कहा जाता है।⁴⁹ वस्तुतः दक्षिणा दक्ष नामक बल की समृद्धि का नाम है; अतः इस दक्षता के स्रोत स्वरूप प्राणों को भी दक्ष कहा जाता है।⁵⁰ दक्ष प्राणों की दक्षता से युक्त ही वह प्राण है, जो शरीर रूपी पर्वत में निवास करने के कारण "दक्ष पार्वती" कहलाता है और उक्त यज्ञ को सम्पादित कर अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति करता है :-

'दक्ष ह वै पार्वतीः तेन यज्ञेन इष्ट्वा सर्वान् कामान् आप।' ⁵¹

उक्त दक्षता अथवा दक्षिणा की सफलता भोग में न होकर भोज में मानी गई है, क्योंकि दूसरों को भोज प्रस्तुत करने में जो भगवत्सख्य प्राप्त होता है उसे विस्मृत न करने वाले ज्ञानियों को ही सुदिन प्राप्त होते हैं।⁵² इसी भोज का एक पारिभाषिक नाम दान है, जो सुदास् की विशेषता है।⁵³ सुदास् का अर्थ यास्क के अनुसार 'कल्याणदानी' और सायण के अनुसार 'शोभनदानी' है। अतः सुदास् को

जो धन प्राप्तव्य बताये गये हैं उनके नाम दानार्थक 'रा' धातु से निष्पन्न⁵⁶ रयिः, रायः और राति अथवा भोजार्थक भुज् धातु से निष्पन्न भोजनानि⁵⁷ हैं। सुदास् के वंश का नाम भरत है जिसका अर्थ भरण-पोषण कर्ता प्राण⁵⁸ अथवा प्राणाग्नि माना गया है।⁵⁹ कहा जाता है कि पुरुष में दश प्राण होते हैं और एकादशम प्राण स्वयं आत्मा है।⁶⁰ इनमें से आत्मा अपने शुद्ध बुद्ध रूप में 'सुदास्' माना जा सकता है जबकि अन्य दश (इन्द्रिय) प्राण अहंकार रूप वृत्र के वशीभूत होकर उसके शत्रु भी बन सकते हैं। ये ही वे दश राजा हैं जिनके सम्बन्ध से युद्ध को दाशराज्ञ कहा जाता है। इस युद्ध में दश राजाओं से आक्रान्त सुदास् की रक्षा इन्द्र करता है।⁶¹ वस्तुतः ये दश प्राण ऐसे हैं जो अहंकार रूप वृत्र के प्रभाव से मनुष्यजीवन को नरक बना देते हैं और वे ही इन्द्रावरुणों की शिक्षा ग्रहण करके 'धीवन्तः' होकर जीवन को स्वर्ग बना देते हैं। अतः दश ऐसे प्राणों का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जो दिव्यता ग्रहण करने पर स्वर्ग और असुरत्व स्वीकार करने पर नरक कहे जाते हैं।⁶²

वास्तव में भीतर से (विश्वतः) घिरा हुआ दाशराज्ञ सुदास्⁶³ स्वयं दशप्राणों से परिवेष्टित जीवात्मा ही है। सुदास् की ओर से की गई प्रार्थना के सफल होने के कारण अन्ततोगत्वा दाशराज्ञ (प्राण) युद्ध करते ही नहीं,⁶⁴ क्योंकि इन्द्रावरुणों में से प्रथम तो सदा वृत्रों का वध करता है और द्वितीय व्रतों की रक्षा करता है।⁶⁵ इस प्रसंग में 'सुदास्' का प्रयोग विशेष रूप से ध्यातव्य है। यह शब्द स्पष्ट रूप से संकेतित करता है कि उक्त युद्ध कोई मानव इतिहास की घटना नहीं, अपितु हमारे आन्तरिक जगत् के सनातन इतिहास की कथा है। इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित मन्त्र में अभिव्यक्त प्रश्नों से भी होती है :-

एवेन्नु कं सिन्धुमेमिस्ततारेवेन्नु कं भेद भेदमेभिर्जघान।

एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः॥ ऋ. 7.33.3

किस सिन्धु को पार किया ? किस भेद नामक असुर का वध किया ? दाशराज्ञ में किस सुदास् की इन्द्र ने वसिष्ठ के ब्रह्म द्वारा रक्षा की ? इन चारों प्रश्नों द्वारा ध्वनित हो रहा है कि ये सभी रहस्यमयी आन्तरिक घटनाएँ हैं जिनका अस्तित्व भौतिक जगत् में न था और न कभी होता है। इसीलिए ऋ. 10.54.2 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्र के ये सभी युद्ध केवल माया हैं, क्योंकि उसका न तो कोई शत्रु कभी था और न भविष्य में कभी होगा।⁶⁶ इस आधार पर उक्त दाशराज्ञ युद्ध भी माया ही सिद्ध होता है। अतः इस युद्ध में न केवल इन्द्र की भूमिका का अर्थवाद स्वीकार करना होगा, अपितु युद्ध के उन दश राजाओं को भी दश (इन्द्रिय) प्राण मानना होगा जिनमें निघण्टु के अनवः, दुह्यवः, यदवः, तुर्वशः तथा पूरवः जैसे मनुष्य-नाम भी समाविष्ट हैं।

आयु एवं आयवः

मनुष्यजन्मों में प्रतिगणित 'आयुवः' पद 'आयु' शब्द का बहुवचनान्त रूप है। कौषीतकिब्राह्मण की 'आयु वै मनुः'⁶⁷ की उक्ति जहाँ आयु को मनु के साथ

समीकृत करती है, वहीं तैत्तिरीयसंहिता 'आयुः प्राणः'⁶⁸ कहकर * उसकी आध्यात्मिकता को पुष्ट करती है। अन्य⁶⁹ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथ भी आयु को प्राण ही कहते हैं। अतः 'आयवः' को मनुष्य-प्राणों के अर्थ में ग्रहण करना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। इस औचित्य को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है :-

तं नव्यसी हृद आ जायमानमस्यत्सुकीर्तिर्मधुजिहमश्याः ।

यमृत्विजो वृजने मानुषासो प्रयस्वन्तः आयवः जीजन्तः ॥ ऋ.1.60.3

इस मन्त्र में कहा गया है कि आयवः द्वारा उत्पन्न उस अग्नि को 'नव्यसी सुकीर्ति' व्याप्त करे जो हृदय से जायमान है। यहाँ अग्नि को जन्म देने वाले आयवः को प्रयस्वन्तः, मानुषासः तथा ऋत्विजः कहा गया है। 'प्रयस्वन्तः' का अर्थ है प्रयस् से युक्तः, प्रयस् वह स्थूलतम तत्त्व है, जो सूक्ष्मतम मयस् तत्त्व से भिन्न है। दूसरा विशेषण 'मानुषासः' प्राणों के मनुस् पक्ष का द्योतक है और तृतीय 'ऋत्विजः' विशेषण ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार उस 'ऋत्व'⁷⁰ को उत्पन्न करने वाले वे प्राण हैं जिन्हें उचित समय पर, उचित रूप में, उचित कार्य करने की प्रवृत्ति के मूल में देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त आयवः द्वारा उत्पन्न होने वाले अग्नि को यहाँ स्पष्टतः हृदय से जायमान कहा गया है। अतः प्रस्तुत मन्त्र में चित्त की एकाग्रता एवं प्राणायाम द्वारा उद्भूत होने वाले आध्यात्मिक अग्नि का ही प्रसंग प्रतीत होता है।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में 'आयवः' को अश्विनौ के 'वीर्याणि' को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला कहा गया है :-

एतानि वामश्विना वीर्याणि प्र पूर्वाणि आयवोऽवोचन् ।

ब्रह्म कृण्वन्तो वृषणा युक्भ्यां सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ ऋ.1.117.25

अश्विनौ स्वयं उन प्राणों के द्विविध प्रवाहों के सूचक हैं जिनको पहले 'मरुतः नरः' कहा जा चुका है, क्योंकि अश्विनौ के लिये नरा'⁷¹ (द्वि.व.) के अतिरिक्त मरुत्वन्ता'⁷² विशेषण भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। अश्विनौ के वीरकर्म (वीर्याणि) आध्यात्मिक जगत् की वे घटनायें हैं, जो हमारे प्राणप्रवाह के उस पराक् और पूर्वाक् रूप के फलस्वरूप घटित होती हैं जिसके कारण हमारे दशों प्राण सुसमृद्ध होकर वीर कहे जाते हैं।⁷³ इसी प्रक्रिया से हम अपने भीतर ब्रह्म नामक आध्यात्मिक शक्ति का उत्तरोत्तर वर्धन करते हुए अश्विनौ के सम्पर्क द्वारा सुवीराः होकर सत्य को अभिव्यक्ति दे सकते हैं।⁷⁴ अतः अश्विनौ के उक्त वीर्याणि को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले 'आयवः' हमारे मनुष्यप्राण ही हो सकते हैं।

ये आयवः प्राण विवस्वान् के उस आशुदूत (अग्नि) को विशः के प्रत्येक गण के लिये आहूत करते हैं, जबकि अग्नि स्वयं प्रथम आयु कहलाता है जिसे देव आयु के लिये नहुष का विशपति बनाते हैं।⁷⁵ इसका अर्थ है कि प्रथम आयु के रूप में अग्नि को समष्टिगत ब्रह्म और द्वितीय आयु के रूप में अग्नि को व्यष्टिगत

जीवात्मा मानना उचित होगा। व्यक्तिगत आयु को वह कुत्स अतिथिग्व भी कहा गया है जिसके लिये आपः की योजना हेतु अग्नि से आग्रह किया जाता है⁷⁶। अग्नि के अतिरिक्त आयु शब्द का प्रयोग सोम⁷⁷ और इन्द्र⁷⁸ के लिये भी हुआ है। इसका कारण पूर्वोल्लिखित इन्द्र, अग्नि और सोम की जातवेदस् रूपी संयुक्त इकाई है। अतः अपने इस रूप में जातवेदस् अग्नि को प्रथम आयु और साथ ही इन तीनों में से प्रत्येक को आयु भी कहा जा सकता है। इसी जातवेदस् से निवेदन किया जाता है कि वह विश्व मरुतों का उनके नामों तथा रूपों के साथ आह्वान करे।⁷⁹ यही आयु वह निर्माता है जिसके परम शुक्र-पद में आयवः उसका मार्जन करते हैं।⁸⁰ इस वर्णन की संगति तभी हो सकती है जब आयवः शब्द को उक्त जातवेदस् रूप आयु की रश्मियों का वाचक माना जाय। इसी शुक्र परम पद के आयु को (जातवेदा) विश्वायु माना गया प्रतीत होता है। इसीलिये अग्नि⁸¹ और इन्द्र⁸² को निश्चित रूप से विश्वायु कहा गया है, जबकि एक सोम सूक्त में इन्द्र से जिस विश्वायु रश्मि को लाने की प्रार्थना की जाती है उसे भी सोम का ही एक रूप माना जा सकता है।⁸³ अन्यत्र⁸⁴ ये आयवः सोमासः, मनीषिणः तथा स्वर्विदः कहलाते हैं जो समुद्रविष्टप में सोमाभिपवन करते हैं (अभि पवन्ते)।

ऐसी स्थिति में ये आयवः निश्चय ही उक्त जातवेदस् की सोमानन्द परक किरणें ही मानी जा सकती हैं। इन्हीं किरणों को हम वे आयवः मान सकते हैं, जो मरुत्वान् इन्द्र के लिये सोम का मार्जन करने वाले कहे गये हैं। इस प्रकार वेद में जहाँ भी आयवः शब्द का प्रयोग सोम के सम्बन्ध में हुआ है वहाँ उसका अर्थ प्राणरश्मियों द्वारा ही बोधगम्य हो सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रथम आयु (समष्टिगत ब्रह्म) अपने अभिव्यक्त रूप में विश्व की अपेक्षा सर्वम्⁸⁵ कहलाता हुआ आयवः रूप ग्रहण करता है।

पञ्चजनाः

आयवः के समान 'पञ्चजनाः' भी निघण्टु के मनुष्यनामों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पञ्चजना के सम्बन्ध से ही वेद में इन्द्र और अग्नि को पाञ्चजन्य कहा गया है। इन्द्र⁸⁶ और अग्नि⁸⁷ में से प्रत्येक को ब्राह्मणग्रन्थों में प्राण कहा गया है। अतः क्या इन्द्र अथवा अग्नि के पञ्चविध प्रादुर्भाव को लक्ष्य करके पञ्चजनाः की कल्पना की गई है ? अथवा 'प्राणाः इन्द्रियाणि' की उक्ति⁸⁸ के आधार पर इन्द्र-प्राण के पञ्चविध प्रादुर्भाव की कल्पना इसके मूल में हो सकती है। सम्भवतः अग्नि के लिये पञ्चहोता सम्बोधन अग्निप्राण के पाञ्चजन्य रूप की कल्पना को अभिव्यक्ति प्रदान करता हो। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इन्द्र⁸⁹ और अग्नि⁹⁰ दोनों को पाञ्चजन्य कहने के मूल में उनका पञ्चविध प्रादुर्भाव ही प्रतीत होता है।

वेद में पञ्चजनाः को 'ऊर्जादः' एवं 'गोजाताः' कहकर दो प्रकार का वर्णित किया है।⁹¹ साथ ही, उन्हें 'यज्ञियासः' भी कहा गया है। पञ्चकर्मन्द्रियों और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के रूप में प्रादुर्भूत प्रत्येक शक्ति-पञ्चक को पञ्चजनाः कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें से ज्ञानेन्द्रियों के रूप में उत्पन्न होने वाला वस्तुतः अग्निप्राण ही है। अग्नि को प्रचेतस

पाञ्चजन्य⁹² अथवा ऋषि पाञ्चजन्य⁹³ कहना इसका प्रमुख प्रमाण है। इसी प्रकार जब 'प्राणो हि गो'⁹⁴ और 'आग्नेयो वै गोः'⁹⁵ कहा जाता है, तो पञ्चज्ञानेन्द्रियों को 'गोजाताः पञ्चजनाः' कहना युक्तिसंगत हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करने के फलस्वरूप शारीरिक ऊर्जा का निरन्तर प्रत्यक्ष हास होता है। अतः कर्मेन्द्रियों में प्रादुर्भूत होने वाले प्राणों को 'ऊर्जादः पञ्चजनाः' कहा जाना सुसंगत प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त, इन्द्र के लिये शतक्रतु, यज्ञक्रतु जैसे विशेषणों के द्वारा उसके क्रियापरक स्वरूप को ही मान्यता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से 'प्रमति इन्द्र' भी 'क्रियापरक प्रमति' सिद्ध हो सकता है और अग्नि के लिये प्रमति शब्द का प्रयोग उसके 'ज्ञानपरक प्रचेतस्' स्वरूप की ओर इंगित करता है। अग्नि के लिये प्रयुक्त 'जागृविः' विशेषण तथा 'बोधि' क्रिया भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती है। प्रमति के इन दोनों सम्बन्धों का गठबन्धन कर्मरूप यज्ञ में स्वभावतः हो जाता है, इसीलिये कभी-कभी इन्द्राग्नि की प्रमति को एक ही संयुक्त इकाई माना जाता है और साधक दोनों के संयुक्त रूप को सम्बोधन करते हुए कहता है, "नान्या युवत् प्रमतिरस्ति मह्यम्"।⁹⁶ इसी प्रमति की कल्पना 'पाञ्चजन्या विट्'⁹⁷ के रूप में की गई है, जो वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः एवं मरुतः जैसे 'विशः' की सृष्टिकर्त्री के रूप में वर्णित हुई है। इन्हीं पाँचों के लिये प्रयुक्त विशः⁹⁸ शब्द नैघण्टुक मनुष्य-नामानि में भी परिगणित किया गया है। इन विशः प्राणाः का सुसमन्वित व्यापार ही आध्यात्मिक यज्ञ है। इस कारण ही इन सभी विशः⁹⁹ अथवा इनकी जननी 'विट्'¹⁰⁰ को यज्ञ कहा जाता है और इसीलिये ऋग्वेद में उक्त द्विविध पञ्चजनाः के लिये पूर्वोक्त 'यज्ञियासः' का प्रयोग हुआ।

पाञ्चजन्याः कृष्टयः

पञ्चजनों का उक्त विवरण जिस प्रकार उन्हें मनुष्यप्राण सिद्ध करता है उसके परिप्रेक्ष्य में मनुष्यनामानि में परिगणित कृष्टयः शब्द की व्याख्या भी सुगम हो जाती है, क्योंकि ये कृष्टयः भी मूलतः 'पाञ्चजन्या कृष्टियाँ' हैं।¹⁰¹ कृष् विलेखने से निष्पन्न कृष्टि शब्द रेखांकन, आकर्षण तथा कृष्टि कर्म का बोध कराता है। इन्द्रिय-प्राण रूपी पाञ्चजनों में अपने विषयों के प्रति आकर्षण होता है और तज्जनित संस्कार का अन्तःकरण में विलेखन भी होता है। अतः आकर्षण और विलेखन के रूप में जो कृष्टि होती है उसके फलस्वरूप सम्पादित होने वाले कर्म एवं कर्मफल प्राप्ति के व्यापार को भी कृष्टि अथवा कृषि कहा जा सकता है। वेद में कृषि कर्म सदाचरण एवं सुखद व्यापार के अर्थ में ही कल्पित किया गया प्रतीत होता है। इसलिए जब कृषि कर्म का रूपक प्रस्तुत किया जाता है, तो कृषकों, बैलों अथवा फालों से सुखपूर्वक (शुनम्) कर्षण करने की ही चर्चा होती है।¹⁰² यह कृषिकर्म उक्त पञ्चजनों (इन्द्रियों) से सम्बन्धित है अतः इस सम्बन्ध में पञ्चकृष्टयः¹⁰³ की कल्पना भी प्राप्त होती है जिन्हें 'पाञ्चजन्याः'¹⁰⁴ भी कहा जाता है।

वेद में इन्द्रियों को अक्ष रूप में भी कल्पित किया गया है, अतः 'अक्षैर्मा दीव्य कृषिभित् कृषस्व' कहकर जब इन्द्रियों से सदाचार रूपी कृषि

कर्म करने का परामर्श दिया जाता है, तो निषिद्ध आचार की द्यूत रूप में कल्पना करके उसे प्रतिबन्धित भी किया जाता है। यह निषिद्ध आचार रूप द्यूत आवरक वृत्र के समान 'वत्रि' कहा जा सकता है,¹⁰⁵ जबकि वांछित सदाचार कृष्टि है और सदाचार की ओर उन्मुख आचरण को 'उपम वत्रि' कहा जाता है।¹⁰⁶ कृष्टि तथा उपम वत्रि नामक सदाचरण उस वरुण के अधिकार क्षेत्र की घटना है, जो सत्यानृत का विवेक¹⁰⁷ रखने के कारण प्रसिद्ध है।

कृष्टि और विश्वकृष्टि

इस प्रसंग में वेद का 'कृष्टिहा' शब्द कुछ विचित्र स्थिति उत्पन्न करता है, क्योंकि सामान्यतः इसका कृष्टिघातक अथवा कृष्टित्यागी अर्थ किया जाता है, परन्तु निम्नलिखित मन्त्र में यह कृष्टिहा 'असुर्य वर्ण' को दूर करने वाला और पिता के 'वत्रि' को सर्वथा त्यागने वाले के रूप में वर्णित हुआ है :-

प्र कृष्टिहैव शूष एति रोरुवदसुर्य वर्णं नि रिणीते अस्य तम्।

जहाति वत्रि पितुरेति निष्कृतमुपपुतं कृणुते निर्णिजां तना ॥ ऋ. 9.71.2

कृष्टिहा शब्द के अर्थ से उत्पन्न द्विविधा उस समय दूर हो जाती है जब हम मन्त्र में उसके साथ इव शब्द को पाते हैं, साथ ही एक ऐसे शूष (बल) का उल्लेख भी है जिसको उत्प्रेक्षा द्वारा कृष्टिहा के समान आने वाला तथा असुर्यवर्ण का अपाकर्ता कहा जाता है। यह शूषम् वस्तुतः ब्रह्मानन्द रूप सोमरस का बल है जिसके कारण सोम को 'शुष्मी' कहा जाता¹⁰⁸ है। वह आध्यात्मिक दक्षता के उत्पन्न होने पर जागरूक होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप द्रोही वृत्र से रक्षा होती है और वह हरि (सोम) आनन्दरूप पयस् का उपस्तरण करने के तथा तनमन रूपी उभय चमसों के ब्रह्म का परिष्कार करने के निमित्त नभ (अन्तःकरण) को आनन्द का धारक बना देता है। शुष्मी सोम के इस वर्णन के आलोक में ऋ.9.71.2 में वर्णित जीवात्मा के आसुरी आवरण (असुर्य वर्ण) को दूर करने वाला और उस आवरणयुक्त आचरण (वत्रि) को सर्वथा त्यागने वाला शूषम् (बल) असंगत नहीं प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में, जिस शूषम् को 'कृष्टिहा इव' कहा गया है वह वस्तुतः कृषि एवं तज्जनित आनन्द की वृद्धि करने वाला है। यह कृषि वस्तुतः आन्तरिक विश्व की कृष्टि है, अतः वेद में इसे विश्वकृष्टि कहा जाता है जिसे वैश्वानर अग्नि अपनी महिमा से मानसिक शक्तियों (भरद्वाजेषु) में प्रकट करता है।¹⁰⁹ अतः जातवेदा वैश्वानर को मानुषी कृष्टियों का राजा कहा जाता है।¹¹⁰ यह विश्वकृष्टि रूप अग्नि ही उन विश्वकृष्टयः का रूप धारण करता है, जो 'अग्निश्रियः मरुतः' कहे जाते हैं और जिनकी समष्टि की एक उग्र बल के रूप में याचना की जाती है।¹¹¹

विश्वकृष्टयः मरुतः

यहाँ विश्वकृष्टियों एवं मरुतों के मध्य जो समीकरण अथवा तादात्म्य वर्णित हुआ है वह कोई नवीन उद्भावना नहीं है, क्योंकि मरुतः न केवल विशः हैं, अपितु वे इनसे भिन्न देवविशः एवं 'अन्तरिक्ष-भाजनाः इश्वराः' कहे जाते हैं।¹¹² वेद

में उक्त आध्यात्मिक कृषि करने वाले 'कीनाशाः' (किसान) कोई शरीरधारी व्यक्ति न होकर स्वयं मरुतः ही है।¹¹³ मरुतः ही दिव्य 'आपः'¹¹⁴ नामक शुद्ध प्राण¹¹⁵ है। मरुत् प्राणों के समक्ष असुरों का कोई वश नहीं चलता, अतः उन्हें देवों का 'अपराजितम् आयतनम्'¹¹⁶ कहा जाता है। मरुतः नामक प्राणरश्मियाँ मानवचेतना के उस सूक्ष्मतरंग एवं श्रेष्ठतम स्तर को प्रस्तुत करती हैं जिसे अथर्ववेद में 'सरस्वती मणि' के रूप में कल्पित किया गया है और जहाँ मरुतः शतक्रतु इन्द्र के नेतृत्व में सुप्रसिद्ध मधु-संयुत यव की कृषि करने वाले वर्णित हुए हैं :-

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचकृषुः ।

इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ शौ. 6.30.1

यव की कृषि और योग

यव की इस कृषि के मूल में वही आध्यात्मिक प्रतीकवाद प्रतीत होता है, जो अन्यत्र अष्टायोग एवं षडयोग द्वारा सम्पन्न होनेवाली उस यव कृष्टि का आधार है जिसमें आपः (मरुतः) का विशेष योगदान माना गया है।¹¹⁷ शुष्मी सोम एवं विश्वकृष्टयः मरुतः से सम्बन्धित कृषि निश्चय ही उस कृषि से भिन्न है जिसका सम्बन्ध पञ्चकृष्टियों से माना गया है। पूर्व विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि पञ्चकृष्टयः का सम्बन्ध उस सत्कर्म की कृषि से है जिसे इन्द्रिय व्यापार कहा जा सकता है। इसीलिये एक सम्पूर्ण सूक्त का वक्ता ऋषि जहाँ 'कुवित् सोमस्य अपामिति' की पुनरावृत्ति करता है वहीं एक मन्त्र में सोमपान की ऐसी स्थिति का भी उल्लेख करता है जहाँ पञ्चकृष्टयः निमीलित नेत्रों को नहीं खोलते।¹¹⁸ इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि जहाँ इन्द्रिय व्यापार के स्तर पर नेत्र खुले रहते हैं, तो वहीं समाधिसुख रूपी सोमपान करने पर नेत्र बन्द ही रहते हैं। वस्तुतः इसी दृष्टि से सोम के उक्त 'शुषम्' को कृष्टिहा इव कहा जाता है, क्योंकि पञ्चकृष्टयः रूप इन्द्रियों के निष्क्रिय हो जाने पर भी कृष्टि का विनाश नहीं होता, अपितु वे अधिक सबल एवं शान्त होती हैं। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा गया है¹¹⁹ कि पञ्चकृष्टयः मानों स्वर्ग में अधिक आनन्दित तथा वर्धमान होते हैं।

कृष्णस्तर

वस्तुतः, उक्त आध्यात्मिक कृषि अथवा कृष्टयः से परे की यह अवस्था कर्षणहीन है। इस चेतनावस्था का नाम 'कृष्ण' (कृष्+न) अर्थात् कर्षणातीत है, जो मधु सोम का पान करने के लिये पराक् और अर्वाक् गति द्वारा कर्षण उत्पन्न करने वाले अश्विनौ को अपने पास बुला लेता है।¹²⁰ इसका अर्थ है कि कर्षणातीत चेतना के स्तर पर अश्विनौ आरोहावरोहात्मक गति समाप्त कर देते हैं। इसी कृष्ण स्तर से मानुष व्यक्तित्व के लिये चिकित्सा का विधान करती हुई 'अर्या' नामक ज्योति उदित होती है।¹²¹ यही वह 'शुक्राश्वितीचि' और 'ऋतस्य योषा' है, जो कृष्णस्तर से प्रादुर्भूत होकर श्रेष्ठ आचरण का निरन्तर हेतु बनती है।¹²² इस स्तर पर भोग का 'अथ' नहीं होता। इसी कारण, इस स्तर की कर्षणातीत ज्ञानाग्नि को ऐसी 'कृष्णव्यथिः' अग्नि कहा जाता है, जो कर्म रूप 'अतसानि' को दग्ध करती है।¹²³ इसका अर्थ है कि कर्मों के अस्वादिन नहीं करता

है।¹²³ मनुष्य के अन्नमयस्तर रूप पृथिवी में अनेक औषधियों द्वारा रोगों को नष्ट करने वाला यही 'कृष्णपविः' अग्नि कहलाता है।¹²⁴ मनुष्य के अन्नमयस्तर रूप पृथिवी में अनेक औषधियों द्वारा रोगों को नष्ट करने वाला ज्ञानाग्नि ही वह 'कृष्णवर्तनिःपावकः' है, जिसको कोई 'वीरमर्त्य' अपना अमृत दूत बनाता है।¹²⁵ यह वीरमर्त्य निश्चय ही वह ध्यानस्थ योगी है, जो कर्षणातीत स्तर की ओर जाने वाले मार्ग (वर्तनि) को लक्ष्य बनाने वाली ज्ञानाग्नि द्वारा आन्तरिक अमृत के प्राप्यर्थ प्रयत्नशील होता है।

इस प्रकार वैदिक कृषि योगी के उस कर्षणातीत स्तर (कृष्ण) तक पहुँचने का संयम मार्ग सिद्ध होती है जिसमें उद्भूत चेतना रश्मियों को 'कृष्णासः सूरयः',¹²⁶ 'कृष्णगर्भाः',¹²⁷ 'कृष्णसीतासः',¹²⁸ 'कृष्णजंहसः'¹²⁹ आदि कहा जाता है। यही चेतनारश्मियाँ उन 'कृष्णयोनीः दासीः' के रूप में कल्पित की गई हैं जिन्हें 'वृत्रहा पुरन्दर इन्द्र' मनु के लिये प्रेरित करता है।¹³⁰ इन्हीं रश्मियों से उत्पन्न वह ओज है जिससे युक्त 'इन्द्रावरुणौ' 'कृष्टिओजसा' होते हैं और हमारे संकट काल में पुरोवर्ति योधा के रूप में सहायक हो सकते हैं।¹³¹

कर्षणातीत का कृष्णत्व

उक्त कृष्ण (कर्षणातीत) नामक चेतना स्तर की बहुचर्चित विशेषता उसका नील वर्ण है। इसीलिये उसकी नीलाकाश से तुलना की जाती है और उसे 'नभो न कृष्णमवतस्थिवांसम्' कहकर अन्वेषणीय समझा जाता है।¹³² अतः जब कृष्ण अध्वा वाले जायमान अग्नि को दूर से ही दृष्टिगत होने वाली ज्योति से युक्त तथा चेतनोर्मी के अन्धकार को हटाने वाला कहा जाता है, तो यह समझना सर्वथा असंगत है कि उस अग्नि का मार्ग काला है।¹³³ वस्तुतः यही 'अरति' नामक ब्रह्माग्नि नीलवर्ण, ईश्वर (इनः) तथा सोमयुक्त कहा जाता है और उससे सम्बन्धित रात्रि तथा उषा दोनों की कल्पना की जाती है।¹³⁴ यहाँ रात्रि से अभिप्राय उसकी नील (कृष्णा) ज्योति से है और उषा उसकी श्वेत (रुषती) ज्योति का नाम है। श्वेतवर्णा उषा नामक ज्योति के उत्पन्न होने पर वह 'अरति' अग्नि अपनी सुप्रज्ञानात्मक ज्योतियों और श्वेत वर्णों से युक्त होकर अपने 'राम'¹³⁵ नामक स्वरूप में स्थित हो जाता है। ध्यातव्य है कि राम और अरति दोनों ही शब्द 'रम्' धातु से निष्पन्न हैं, परन्तु दोनों का अर्थ भिन्न है। राम को शिवसखा अग्नि कहा जाता है जिसकी अपनी बृहत् रश्मियाँ (भामासः) संयम मार्ग (यामन) की रात्रियों के रूप में कल्पित की गई हैं,¹³⁶ जो ज्येष्ठ, तेजिष्ठ और वर्षिष्ठ किरणों के साथ द्युलोक में गतिशील होती हैं।¹³⁷ इसके विपरीत अरति अग्नि 'देवतमः विभ्वा'¹³⁸ है, जो शब्दायमान श्वेत और प्राचीन ज्योतियों द्वारा विविध रूप से दीप्यमान होता है तथा द्यावापृथिवी नामक युवतियों के मध्य आसीन होता है।¹³⁹ ये युवतियाँ ही पूर्वोक्त रात्रि और उषा प्रतीत होती हैं जिनमें से किसी एक को दूर अथवा अभिभूत करके वह क्रमशः द्वितीया को उत्पन्न करता हुआ कहा जाता है।¹⁴⁰ इसका तात्पर्य है कि अहोरात्र अथवा द्यावापृथिवी रूप में कल्पित कृष्णाग्नि की दोनों ही अभिव्यक्तियाँ ज्योतिषाणामुक्तं है। अतः दोनों को एक ही कृष्ण और दूसरी को रुषती कहने का अर्थ यही है कि दोनों के प्रकाश का पृथक् वर्ण है।

अतः जब वृत्रहा और पुरन्दर इन्द्र 'कृष्णयोनीः दासीः' को मनु के लिये प्रेरित करने वाला कहा जाता है, तो इन दासियों से वे चेतनारश्मियाँ ही अभिप्रेत हैं जो कर्षणहीन स्तर से प्रादुर्भूत होने के कारण मननशील योगी (मनु) के लिये कल्याणकारी हो सकती हैं :-

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद् वि ।
अजनयन् मनवे क्षाम अपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतोत् ॥ ऋ.2.20.7

इसी प्रकार अस्थिर (च्यवना) तत्त्वों को अन्तर्प्रविष्ट (विश्वा) करते हुए जिस दास वर्ण को गुहा में स्थापित किया जाता है वह भी कोई शरीरधारी नहीं, अपितु निकृष्टवर्ण मन ही है जिसे योगी अन्तर्मुख करके अपनी हृदयगुहा में रख देता है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि वेद में गुहा और गुह्य जैसे शब्द सर्वत्र किसी न किसी आध्यात्मिक रहस्य की गूढ़ता के परिचायक हैं; उदाहरणार्थ ऋ. 10.5 को लें जहाँ अग्नि को एक ऐसे समुद्र के रूप में कल्पित किया गया है, जो अपने उत्स के मध्य में निहित एक पद माना गया है। यह एक ऐसा समान नीड़ है जिसमें अनेक वर्षणशील महिष एकत्र होते हैं, ऋतपद की रक्षा करते हैं और पराणि गुहानामानि धारण करते हैं। इस सूक्त के अन्त में इस अग्नि को 'ऋतस्य प्रथमजाः' कहा गया है, साथ ही उसे पूर्व आयु के भीतर वृषभ और धेनु के द्विविध रूप में प्रादुर्भूत होने वाला भी बताया गया है। कवियों द्वारा निर्मित सप्त मर्यादाएँ आयु के स्कम्भ में स्थित कही गई हैं। सूक्त के सारांश को प्रस्तुत करने का अभिप्राय केवल यही है कि इस प्रकार के गुह्य और रहस्यमय कल्पनाओं से ओत-प्रोत वैदिक अग्नि के कृष्णरूप को भौतिक अग्नि के रूप में ग्रहण करना समीचीन नहीं है।

कृष्ण और सूर्य

कृष्ण शब्द की उक्त व्याख्या के उपेक्षित हो जाने से वेदमन्त्रों में उल्लिखित कृष्ण को असुर भी माना जाता है, इस प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र विशेषतः उल्लेखनीय हैं:-

अयं चक्रमिषणत् सूर्यस्य न्येतशं रीरमत् ससृमाणम् ।
आ कृष्ण ई जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ॥ ऋ.4.17.14

प्रस्तुत मन्त्र में बताया गया है कि सूर्य के चक्र को कृष्ण प्रेरित करता है और गतिशील एतश को विश्राम प्रदान करके साधक के व्यक्तित्व में सर्वत्र ईम् नामक उदञ्चनशील प्राणोदक का उल्लासपूर्ण प्रवाह किसी अज्ञात चतुराई के साथ इस प्रकार व्याप्त कर देता है कि वह त्वचा के मूल में (रोम रोम तक) व्यक्तित्व के रजस् (गति) की योनि तक पहुँच जाता है। वस्तुतः ज्ञान और भावना के भेद से उक्त प्रज्ञान सूर्य के दो चक्रों की कल्पना होने पर इन्द्र एक (ज्ञान) को प्रवृद्ध करके, दूसरे (भावना) को विस्तार (वरिवः) प्रदान करके व्यक्तित्व के कुत्स (कुत्सित) पक्ष को सुधार का अवसर प्रदान करता है और इस प्रकार दस्युप्राणों का नाश करता है :-

प्रान्यच्चक्रमतुहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद् वरिवो यातवेऽकः ।

अनासो दस्यूरमृणां वधेन नि दुर्योण आनृणङ् मृधवाचः ॥ ऋ. 5.29.10

इससे पूर्व भी साधक में बहुत से अन्तरंग परिवर्तन हो चुकते हैं। इस प्रसंग में ध्यान से सम्बन्धित धी के द्विविध रूप को समझना आवश्यक है। निघण्टु में 'धी' कर्म और प्रज्ञा दोनों का वाचक माना गया है। तदनुसार, प्रज्ञापरक धी की दृष्टि से वेद में जीवात्मा को 'सूर्य' कहा गया है और कर्मपरक धी की दृष्टि से वह 'एतश' है। धी के प्रथम प्रकार में ज्ञान और भावना की प्रधानता होती है, अतः वह सर्वथा अन्तर्जगत् से सम्बन्धित होती है। इससे युक्त व्यक्तित्व को सूर्य का एक चक्र कहा जाता है। धी के द्वितीय रूप में कर्म और भावना की प्रधानता होती है, जो प्रेम रूप सोम का सुन्दर सवन करती है। अतः इससे युक्त व्यक्तित्व को 'सुधिद एतश' कहा जाता है। मनुष्यव्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों में यदि प्रतिस्पर्धा होती है, तो परमेश्वर इन्द्र द्वितीय (एतश) पक्ष की रक्षा करता है :-

अस्मा इदु त्यदनु दाययेषामेको यद्वन्वे भूरेरीशानः ।

प्रेतशं सूर्यं पस्पृधानं सौवश्ये सुष्मिमावरिदन्द्रः ॥ ऋ. 1.61.15

इस पक्षपात का कारण स्पष्ट है- यदि एतश के क्रियाकलाप को अवरुद्ध कर दिया जाय तो शरीर का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जायेगा और परिणामस्वरूप ज्ञानपरक सूर्य पक्ष का निश्चित अवसान। जबकि, दोनों की स्पर्धा में कर्षण की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, अतः व्यक्तित्व के उभय पक्षों के सन्दर्भ में इन्द्रियप्राणों की पूर्वोक्त कृष्टयः संज्ञा प्राप्त होती है और परमेश्वर इन्द्र कर्षणातीत होने से कृष्ण कहलाते हैं। वह किसी एक पक्ष में रति नहीं रखता, इसीलिये पहले उसे 'अरति कृष्ण' भी कहा गया है। अतः वह निष्पक्ष भाव से दोनों को नियन्त्रित एवं समन्वित करके शरणागत जीव का हितसम्पादन करने की स्थिति में है।

समन्वय और नियन्त्रण के परिणामस्वरूप एतश (क्रियापक्ष) में पतनशीला सूर्य की पुरोवर्तिनी हरित रश्मियाँ ऊर्ध्ववर्ती (उपराः) हो जाती हैं, तभी 'विश्वेदेवाः' नामक प्राण परमेश्वर (मधवा) को प्रेमरस सोमपेय (भक्तिरस) प्रस्तुत कर देते हैं :-

अध कृत्वा मधवन् तुभ्यं देवा अनु विश्वे अददुः सोमपेयम् ।

यत् सूर्यस्य हरितः पतन्तीः पुरः सतीरुपरा एतशे कः ॥ ऋ. 5.29.5

इसके फलस्वरूप जीवात्मा के 99 भोगों का इन्द्रवज्र से समूल नाश हो जाता है और मरतः (नरः) प्राण अपने सधस्थ (विज्ञानमय गोष्ठ) में त्रैष्टुभ शब्द (इच्छा, ज्ञान, क्रिया का अव्याकृत रूप) द्वारा इन्द्र (परमेश्वर) का अर्चन करने लगते हैं।¹⁴¹ कहने का तात्पर्य है कि इस प्रकार साधक को चेतना का वह 'सधस्थ' अथवा 'सधमादन' प्राप्त हो जाता है जिसमें अन्तर्ज्योति एवं अनाहतनाद का संगम होता है और ज्ञानपरक प्रमति (अग्नि) क्रियापरक प्रमति (इन्द्र) के लिये, तीन सौ प्राणरूप महिषों को एक साथ परिपक्व कर देता है और इन्द्र मनुस् के इच्छा, ज्ञान तथा क्रियापरक चेतन के त्रिविध सरोवरों का प्रभु बन जाता है।

सखा सख्ये अपचत् तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि ।
त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद्वृत्रहत्याय सोमम् ॥ ऋ.5.29.7

ऐसा करना अहंकार-रूप वृत्रवध के लिये आवश्यक है जिसके बिना वे 'हारियोजनानि ब्रह्माणि' सम्भव नहीं जिनमें 'धियावसु' इन्द्र 'विश्वपेशसं धियम्' को स्थापित करता है।¹⁴²

हारियोजन, हरियोग और हरित

'हारियोजन ब्रह्माणि' से वह अतिमानसिक अनुभूति शृंखला अभिप्रेत है जिसका सम्बन्ध पूर्वोक्त 'हरयः' नामक मनुष्यप्राणों से है। प्रत्येक व्यक्ति में इन्द्र के ये सहस्रों हरयः परस्पर संयुक्त होकर प्रच्छन्न रूप से जिस प्रकार से हारियोजन का निर्माण करते हैं उसका वर्णन ऋ. 6.47.18 में करते हुए कहा गया है :-

रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशः ॥

मन्त्र के अनुसार परमेश्वर इन्द्र के उस मूल रूप का साक्षात्कार करना वांछनीय है, जो नाना रूपों में पृथक्-पृथक् प्रकट हो रहा है। इस प्रकार स्वमाया से इन्द्र जिन अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है उनमें से प्रत्येक रूप में उसके सैंकड़ों हरयः संयुक्त होकर हारियोजन नामक सोमानन्द की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं।¹⁴³ निस्संदेह इस हारियोजन अवस्था का इन्द्रकृत वृत्रवध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वृत्र के प्रभाव से प्राणों में घोर और अघोर भेद से दो जातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनमें देवासुर संग्राम प्रारम्भ हो जाता है। इन्द्र प्रत्येक उपप्राण का दमन करता हुआ दूसरे प्रकार के प्राणों की 'अति' को भी दूर करता रहता है, क्योंकि वह किसी भी अतिवृद्धि का द्वेषी है। परन्तु, साथ ही दोनों का राजा होने से उन दोनों का हित चाहता हुआ समन्वयशील उन प्राणों को प्रोत्साहित करता है जिन्हें 'मनुष्याः विशः'¹⁴⁴ कहा जाता है। ये मनुष्यप्राण ज्ञान अथवा अवबोधन से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावतः समन्वयशील होकर हारियोजनम् के लिए उपयुक्त होते हैं।

हारियोजन के लिये उपयुक्त होने का अर्थ है अनेक 'हरयः' का द्वैत में परिणत होकर भी 'हरित' हो जाना। इसीलिये, उक्त प्रसंग में हरयः के वर्णन के उपरान्त आगामी मन्त्र में दो हरितों की ओर भी संकेत किया गया है :-

युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति ।
को विश्वाहा द्विषतः पक्ष आसते उत आसीनेषु सूरिषू ॥ ऋ.6.47.19

मनुष्यव्यक्तित्वरूपी रथ में जब दो हरित अश्व संयुक्त होते हैं, तो उसमें इन्द्र त्वष्टा होकर विराजमान होता है। मन्त्र में वर्णित यह स्थिति ध्यानस्थ उन सूरियों (ज्ञानयोगियों) की है जिनके भीतर कोई भी द्वेषी पक्ष नहीं रह सकता। वहाँ अब विध्वंसक द्वेषियों के लिये कोई स्थान नहीं, क्योंकि हरित होने का अर्थ है

अनात्म (असुर्य) से रहित होकर सर्वथा 'आत्मा वै हरितम् हिरण्यम्'¹⁴⁵ की उक्ति को चरितार्थ करना। दूसरे शब्दों में, इन्द्र के जो दो अश्व (हरी) निम्न स्तरों पर पूर्वापरपक्षौ,¹⁴⁶ दर्शपूर्णमासौ,¹⁴⁷ और द्यावापृथिवी¹⁴⁸ अथवा 'विपक्षसा हरी' कहे जाते थे, वे अब ऋक्साम¹⁴⁹ (ज्ञान, भावना) का संयुक्त युग्म बनकर अन्ततोगत्वा वेद के 'दक्षं हिरण्यं रथे हरियोगं ऋभ्वसम्' की विचित्र कल्पना¹⁵⁰ को जन्म देते हैं। यह कल्पना वस्तुतः उस हिरण्यकोश का तेजोमय चित्र प्रस्तुत करती है जिसे प्रारम्भ में ही ब्रह्मात्मसायुज्य का स्तर कहा जा चुका है। इसी में पूर्वोक्त सभी 'हरयः' (प्राणाः) का 'हारियोजनम्' साम होता है। यही हरियोग नाम भाव-समाधिगत आनन्दरस रूप रंहणशील (रथ) कहा जा सकता है और यही मन्त्र में वर्णित दक्ष नामक बल है। आगामी¹⁵¹ मन्त्र में इसी की प्राप्ति को समुद्र में संचरण अथवा तेज द्वारा एक ऐसे बल (सहः) पर अधिरूढ होना बताया गया है जिसके कारण वह दक्ष का पति कहलाता है। यह बल वस्तुतः ब्राह्मी शक्ति है, जो सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में 'देवी तविषी' के रूप में वर्णित हुई है, यह आत्मा रूपी इन्द्र की उसी प्रकार सेवा करती है जिस प्रकार सूर्य उषा की। सेवा के रूप में वह अन्धकार का नाश और प्रकाश की बृहद्रेणु को गति प्रदान करता है¹⁵²। तदुपरान्त वृत्र-वध, आपः का प्रकटीकरण आदि जो भी इन्द्र के वीर कर्म¹⁵³ वर्णित हुए हैं वे सभी उक्त हिरण्यय रथ अथवा हरियोग नामक दक्ष बल के हैं जिसे अन्यत्र इन्द्र का 'हिरण्ययः वज्रः'¹⁵⁴ संपादित करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि इस प्रसंग में रथ का अभिप्राय हिरण्यकोश की आनन्दज्योति है न कि कोई वाहन। यह रथ हरित रथ भी कहलाता है उसमें आसीन होने के लिये परमेश्वर इन्द्र का आह्वान करते हुए कहा जाता है :-

अयं ते अस्तु हर्यतः सोम आ हरिभिः सुतः।

जुषाणः इन्द्रः हरिभिर्न आ गह्वा तिष्ठ हरितं रथम्॥ ऋ. 3.44.1

प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार इन्द्र को हरित रथ पर आरूढ होने के लिये आमन्त्रित करने से पूर्व हरियों ने हर्यत सोम का अभिषेक कर लिया था। इस प्रकार यहाँ पर हरि शब्द के सजातीय चार शब्दों का प्रयोग करके जो आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया गया है उसी का वितान सूक्त के आगामी मन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय मन्त्र में हर्यश्व इन्द्र से उषा के अर्चन द्वारा विश्वाः श्रियः के वर्धन की प्रार्थना; हरिधायस द्यौ तथा हरिर्वपस् पृथिवी रूप में दो हरितों (अश्वों) को धारण करने वाला कहा गया है जिनके 'भोजन' को उन दोनों के भीतर विचरण करने वाला 'हरि' धारण करता है।¹⁵⁵ जायमान वृषा 'हरितः' विश्व (आन्तरिक जगत्) को प्रकाशित करता है और वह 'हर्यश्व' इन्द्र अपनी दोनों भुजाओं में जिस वज्र को धारण करता है वह भी 'हरित' और 'हरि' कहा गया है।¹⁵⁶ सूक्त के 3-त में इन्द्रायुध को 'हर्यन्तम् अर्जुनं वज्रम्' कहकर शुक्र रश्मियों द्वारा आवृत बताया गया है, वह हरिरूप अद्रियों द्वारा अभिषेक सोम है, इन्द्र गायों के साथ उसे हरियों की सहायता से उद्घाटित करता है।¹⁵⁷

सम्पूर्ण सूक्त को उद्धृत करने का अभिप्राय यह बतलाना है कि हरि तथा उसके सजातीय शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं वे सभी उसी आन्तरिक प्रकाश की ओर संकेत करते हैं जिसे पूर्व में आत्मा वै

ज्योतिर्हिरण्यम्' कहा गया है। इन शब्दों में जिस हर्य क्रिया का प्रयोग हुआ है उसके अर्थ (कामना अथवा प्रेम) से यहाँ आध्यात्मिक कामना अथवा प्रेम संकेतित प्रतीत होता है। इस प्रकार इन्द्र, इन्द्रवज्र, सोम आदि के लिये प्रयुक्त हरि शब्द को उसी ब्रह्मात्मसायुज्य से उद्भूत आध्यात्मिक शक्ति का द्योतक मानना होगा जो मनुष्य के हिरण्यकोश से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। इसी निष्कर्ष पर हम पूर्व अध्याय में नवम मण्डल के हरिस्तुति सूक्त पर विचार करते हुए पहुँचे थे, किन्तु यहाँ पर हरि तत्त्व के साथ गो तत्त्व का हरियों द्वारा उद्घाटित किया जाना विचारणीय बिन्दु है।

सोम और गावः का नाम रूप

गायों और सोम को इस प्रकार इन्द्र के साथ जोड़ने वाली गुत्थी को सुलझाने के लिये ऋ. 10.169 को समझना होगा जिसकी देवता गावः है और जिसमें अग्नि, सोम एवं प्रजापति के साथ संयुक्त गायों के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन है। जो सरूपा, विरूपा और एकरूपा गायें हैं उनके नामों को अग्नि जानता है¹⁵⁸ और जो गायें अपने 'तनु' को देवों में गतिशील करती हैं उनके रूपों को सोम जानता है।¹⁵⁹ अग्नि से संबंधित गायों का निर्माण अंगिरस अपने तप द्वारा करते हैं और उन्हें महान् शर्म (सुख) प्रदान करने के लिये पर्जन्य से प्रार्थना की जाती है, जबकि सोम से सम्बन्धित पयस् से वर्धमान होती हुई प्रजावती गायों को गोष्ठ में गतिशील करने के लिये इन्द्र से प्रार्थना की गई है। इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय कल्याणकारिणी (शिवाः सतीः) होती हुई वे गायें हैं जिन्हें प्रजापति (इन्द्र) हमारे गोष्ठ के निकट लाता है और जो पयस् से वर्धमान होती हुई प्रजावती गायें हैं। इनकी प्रजा द्वारा (प्रजया) आनन्दित होने की कामना की जाती है।

वस्तुतः, यहाँ पर ऋग्वेद 6.28 में वर्णित उन गायों के त्रिविध रूप को ही बताया गया है जिनकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। प्रथम गायें तो वे चेतनाधारायें हैं, जिन्हें अंग-अंग में बसने वाले अंगिरस प्राण स्थूल देहगत 'बल' नामक असुर से मुक्त करवाकर अन्तर्मुखी यात्रा में ऊर्ध्वगामी ज्ञानाग्नि के नेतृत्व में विज्ञानमय गोष्ठ में ले जाते हैं। इनको 'महान् शर्म' आनन्द सोम की वृष्टि करने वाले उस पर्जन्य¹⁶⁰ से प्राप्त होता है जिसे आनन्दमयकोश से सूर्यदुहिता उस विज्ञानमयकोश (गोष्ठ) में अवतरित करती है, जहाँ से इन्द्र प्रजापति उन्हें अन्य कोशों में वितरित करता है। प्रजापति द्वारा आनीत ये चेतनाधाराएँ (गायें) पयस् (सोम) से अनुप्राणित होती हैं, अतः हम उनसे उद्भूत शक्ति (प्रजा) द्वारा आनन्दित होते हैं। गोष्ठ में एकत्रित होकर वे सभी 'सरूपाः' (समानरूपा) होती हैं, वहाँ से निम्नाभिमुख होकर अवतरण करने पर वे विरूपाः (विविध रूप वाली) हो जाती हैं और गोष्ठ (विज्ञानमय) से ऊर्ध्वगमन कर अपना समस्त नानात्व समाप्त कर 'एकरूपाः' होती हैं। इन गायों के अन्तर्मुखी पक्ष की पारिभाषिक संज्ञा 'नाम' है और बहिर्मुखी पक्ष 'रूप' कहलाता है। यही वेद की नामरूप-सृष्टि है। इसी के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि वस्तुतः गो 'अघ्न्या' है, जो नानात्व ग्रहण करके 21 (इक्कीस) नामों को धारण करती बतायी गई है।¹⁶¹ इन्हें आध्यात्मिक क्षेत्र में इस प्रकार घटित किया जा सकता है :-

1. अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों की चेतनाधाराओं का सप्तक।
2. अहंबुद्धि, मन और पञ्चप्राणधाराओं का सप्तक।
3. अहंबुद्धि, मन और पञ्चकर्मेन्द्रियों की शक्तिधाराओं का सप्तक।

इन सबका गुप्त गुह्य (अपीच्य) नाम एकमात्र हिरण्यकोश में ही¹⁶² है। इसका ज्ञाता 'हिरण्य' ¹⁶³ 'सोम' ही हो सकता है।

जगतः तस्थुषश्च

गायों के रूप में कल्पित ये सभी चेतनाधारायें वस्तुतः प्राणधारायें हैं। हिरण्यकोश से आनन्दमयकोश द्वारा अवतीर्ण होने वाले ये प्राण 'पर्जन्यवाताः' कहे जाते हैं जो बहिःप्रसारा चेतना (पृथिवी) के 'अप्यानि' (कर्मों) को प्रेरित करते हैं और साथ ही सत्यश्रुत हुए आन्तरिक जगत् के 'कवयः' प्राण अपनी विज्ञानगिराओं द्वारा (गीर्भिः) स्थिर प्राण को गतिशील (जगत्) कर देते हैं।¹⁶⁴ गतिशील और स्थिर प्राणों को 'जगतः तस्थुषश्च' कहकर अनेक वेदमन्त्रों में स्मरण किया जाता है।¹⁶⁵ इनके पति अथवा ईश को पूषा या सूर्य कहा जाता है। एक¹⁶⁶ मन्त्र के अनुसार ये द्विविध प्राण प्रत्येक शीर्ष में विद्यमान हैं और उनके स्वामी के समीप 'विश्वम् रजः' होती है, सूर्य को 'सप्तस्वसारः हरितः' रथ में वहन करते हैं। एक अन्य मन्त्र¹⁶⁷ में पर्जन्य स्वराट् से प्रार्थना की गई है वह हमारे अन्तस् में रहे और हमारी प्रार्थना को स्वीकार करे, जिससे आनन्ददायक वर्षा हो तथा देवगोपाः सुपिप्पला औषधियाँ प्रादुर्भूत हों। पुनः इसी पर्जन्य को शाश्वत प्राणधाराओं का 'रेतोधा वृषभ' कहकर उसके भीतर 'जगतः तस्थुषश्च' का आत्मा विद्यमान कहा गया है।

उपर्युक्त वर्णन में 'जगतः तस्थुषश्च' का सम्बन्ध प्रत्येक शीर्ष से होना और आनन्दवृष्टि करने वाले पर्जन्य का साधक के अन्तस् में विद्यमान होने के उल्लेख से यह स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि ये द्विविध प्राण मनुष्य के आन्तरिक जगत् से ही सम्बन्ध रखते हैं। 'तस्थुषः' (स्थिर) प्राण आन्तरिक द्यौ में स्थित परमेश्वर इन्द्र से युक्त होते हैं।¹⁶⁸ जब वह रंहणशील (रथ) होता है, तो उससे आरोहावरोह करने वाले दो 'हरी विपक्षसा' के संयुक्त होने पर 'अकेतु' को केतु तथा अरूप के लिये रूप बनाने वाले मर्याः (मरुतः) प्राण उषाओं के साथ उत्पन्न हो जाते हैं।¹⁶⁹ यही हरी 'प्रत्नस्य तस्थुषः' (पुरातन स्थित) के महत्त्व (महः) को साधते हैं तो हमारी वह 'दैवी स्वस्ति' प्रादुर्भूत होती है, जो गोपा है और जिसके कारण उक्त स्थिर पक्ष को 'गोपाजिह्वा' कहा जाता है और विविध रूप वाले मायिनः (रचनात्मक प्राण) कर्मों के द्रष्टा बन जाते हैं।¹⁷⁰ यह स्थिर पक्ष वस्तुतः हिरण्यकोशस्थ परमेश्वर इन्द्र है, जो उक्त दैवी स्वस्ति अथवा गोपा के प्रादुर्भूत होने के साथ ही व्यक्त होकर वृत्रों का वध करते हुए साधक के लिये आध्यात्मिक धनों को सुलभ करा देता है।¹⁷¹ अतः उक्त 'मायिनः' सम्भवतः मर्याः से भिन्न वे मरुतः हैं जिनको 'अमृताः'¹⁷² कहा जाता है तथा जो वृत्र-वध में इन्द्र के सहायक होते हैं।

तस्थुषः, मरुतः और सुदास

ऋ. 5.53.1-2 में तस्थुषः (द्वितीया विभक्ति) शब्द का स्पष्टतः मरुतों के लिये प्रयोग हुआ है :-

को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्। यदयुयुजे किलास्यः ॥ 1

ऐतान् रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः।

कस्मै ससुः सुदासे अन्वापय इळाभिवृष्टयः सह ॥ 2

सूक्त के प्रथम दोनों मन्त्रों में जो प्रश्न उठाये गये हैं वे इस प्रकार हैं—
इन मरुतों के जन्म को कौन जानता है ? पहले इन मरुतों के सुम्नों में कौन था जब वे युक्त हुए ? रथों में स्थित (तस्थुषः) इनको किसने सुना ? वे गति कैसे करते हैं ? किस सुदास् के लिये वे व्यापनशील दृष्टियाँ बुद्धियों के साथ (इळाभिः सह) प्रवाहित हुई ?

यहाँ 'तस्थुषः' का 'मरुतः' के लिये प्रयोग पूर्वोक्त इस संभावना को पुष्ट करता है कि नरः, मर्याः, मर्त्याः, मर्ताः कहलाने वाले 'मनुष्याः प्राणाः' अथवा मनुष्यनाम मरुतः ही हैं। इसके साथ ही उनके जन्म, उनका गमन करना, युक्त होना, रहणशील (रथों) प्राणों में स्थिर होना और किसी रहस्यमय सुदास् के लिये बुद्धियों सहित वर्षाओं के रूप में प्रवाहित हो जाना— ये सभी घटनायें सिद्ध करती हैं कि 'तस्थुषः' कहे जाने वाले निघण्टु के मनुष्यनाम, शरीरधारी व्यक्तियों के बोधक कदापि नहीं हो सकते। जब यह कहा गया, 'कस्मै ससुः सुदासे' तो पूर्व में व्यक्त की गई यह संभावना दृढ़ हो गई कि सुदास् नामक कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। इसकी पुष्टि अन्यत्र 'सुदास्तर' शब्द के प्रयोग से भी होती है। ऋ. 1.184. 1 में यह प्रश्न उठाया गया है कि सुदाः से सुदास्तर होने के लिये कहाँ प्रार्थना की जाय ? तो ऋ. 1.185.9 में सोम द्वारा आनंदित होते हुए सुदास्तर के लिये अभिलाषा व्यक्त की गई है। उपर्युक्त दोनों मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि 'सु का दाता' अर्थ को द्योतित करने वाला 'सुदाः' पद वस्तुतः एक वैशिष्ट्य है, जो तरप् प्रत्यय के साथ सु के दो दानकर्ताओं के मध्य तुलना दिखलाते हुए सुदास्तर शब्द का निर्माण करता है। कहने का तात्पर्य है कि सुदाः एक ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जो ब्रह्मानन्द रूप सोमरस से तृप्त होता हुआ दूसरों को इस 'सुब्रह्म' के साक्षात्कार का सहभागी बनाने में अधिकाधिक व्यस्त रहना चाहता है।

मनुष्यनामानि की दृष्टि से, अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि सुदाः की इस उपलब्धि के लिये 'तस्थुषः' मरुतः गतिशील होकर व्यापनशील वृष्टयः में परिणत होकर बरसें। दूसरे शब्दों में, 'तस्थुषः' प्राणों को व्यान प्राण का वह स्वरूप मान सकते हैं, जो शीर्ष स्थान में स्थिर रहता है, परन्तु उसे योग द्वारा सोमानन्दवर्षक बनाने का अभ्यास करके ही 'सुदाः' व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर वर्धन सम्भव है। इस प्रसंग में 'तस्थुषः' का 'आपय वृष्टयः' में परिणत होने को योग की धर्ममेघ समाधि अथवा वेद की पर्जन्यवृष्टि कह सकते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने पर ही सुदास्तर होता हुआ साधक सुदास्तम माना जा सकता है, क्योंकि तब वह ब्रह्मात्मसायुज्य स्तर की स्थिरता को सोमानन्द वृष्टि में परिणत करके व्यक्त (मानुष) स्तर के 'जगत्' को 'सु' का सम्यक् दान करने की स्थिति में हो सकता है। तभी उस जगत् के सभी चपल प्राणों (चर्षणीनाम्) का इन्द्र एक साथ राजा होगा तथा ज्ञानज्योति के सूर्य, द्यौ तथा उषा का जन्म होगाः—

इस प्रकार, जो मानुषप्राण पहले अन्धकार में थे उन तक सुभगा उषा अपने सैकड़ों रथों (किरणों) द्वारा आ जाती हैं।¹⁷³ सु का दान ही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा साधकगण मानुषप्राणों के अन्धकारमय जगत् को उस उषा के निमित्त प्रेरित करें और वह उषा उस जगत् को ज्योतिर्मय बना दे।¹⁷⁴ तभी समस्त 'द्विषः' एवं 'सिधः' समाप्त होने से चपल चर्षणयः प्राणाः पूर्णतया विजयी हो सकते हैं। परिणामतः उस सुदाता सोमपति का हरिद्वय के साथ आविर्भाव होगा जिसका आतिथ्य करने के लिये साधक अपने ज्ञानाग्नि से निवेदन करता है, जो समस्त आन्तरिक राक्षसों को भस्मीभूत कर, सभी संशयजनक अभिशक्तियों से यज्ञों की रक्षा कर चुका होगा।¹⁷⁵ यह सुदाता पूर्वोक्त सुदाः तथा सुदास्तर होने वाला जीवात्मा ही है, जो परमेश्वर इन्द्र की कृपा से दाशराज्ञ युद्ध में पूर्ण रूप से विजयी होकर 'सु' का वितरण करने का संकल्प पूर्ण कर चुका है।

सन्दर्भ

- 1 यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु ।। ऋ. 8.39.8
- 2 विश्वान् यद् यज्ञां अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य । ऋ. 3.9.6
- 3 यदी विशो मानुषीर्देवयन्तीः । ऋ. 3.6.3; त्वमग्ने मानुषीः ईळते विशः । ऋ. 5.8.3
- 4 ऋ. 6.50.7
- 5 मनुष्याः आपश्चन्द्राः । माश. 7.3.1.20
- 6 का. 19.12; 21.7
- 7 मै. 3. 2 .2 ; 3 . 8
- 8 माश. 14.2.2.37; क. 31.2; काठ. 19.12; 21. 8; मै. 1.5.11
- 9 ऐ. 2.24
- 10 माश. 3. 2 .2.13
- 11 ऋ. 1.100.16; 8.6.24
- 12 द्र. ऋ. 1.122 .8; 10 का सायण भाष्य ।
- 13 माश. 14.4 .2 .24
- 14 प्राणो वै मरुतः स्वापयः । ऐ. 3.16
- 15 आपः वै मरुतः । ऐ. 6.30; कौ. 12.8; माश. 6.4.1.9
- 16 ऋ. 1.89.7
- 17 प्राणःरश्मयः । तै. 3.2.5.2
- 18 मरुतःरश्मयः । जै. 3.374; तां. 14.12.9
- 19 तै. 3.5.72; मै. 1.10.6; का. 10.11
- 20 माश. 2.5.1.12; जै. 2.175; 3.205
- 21 असौ खलु वा आदित्यः प्रवर्यः तस्य मारुतो रश्मयः । तैआ. 5.4.8; 59.2
- 22 ऋ. 7.56.17; 7.59.8
- 23 ऋ. 1.89.7
- 24 तै. 3. 2 .3. 3
- 25 वही, 5.2.2.1; मैसं 1.5.11; का.19.12
- 26 जैउ. 4.2.1.6
- 27 माश. 7.5.2.39; 6.7.3.11

- 28 द्र. 'वेद में हिरण्य का प्रतीकवाद'—प्रतिभा शुक्ला, जोधपुर वि.वि. द्वारा स्वीकृत शोधग्रन्थ (1987) अप्रकाशित
- 29 उत्त्वा या ब्रह्मपूता वहन्ति, अध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति। शौ. 13.1.36
- 30 ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शंयोः। यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः॥ ऋ. 6.50.7
- 31 ऋ. 1.24.9; ऐआ. 5.1.1; ऐ. 7.5; कौ. 3.6; गो. 2.1.25; माश. 1.2.2.11
- 32 तैसं. 2.6.8.7; गो. 2.1.3
- 33 तु. सायण भाष्य, ऋ. 1.85.8 इत्यादि।
- 34 अवितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिषः पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो। यं ते भागमधारयन् विश्वाः सेहानः पृतना। उरु जयः समप्सुजित् मरुत्वान् इन्द्र सत्पते॥ ऋ. 8.36.1-6
- 35 ऋ. 9.87.5; तु. सा. भा. वही,
- 36 ऋ. 8.12. 25-31
- 37 ऋ. 8.12.32
- 38 'प्राणो वै वसिष्ठः'। माश. 8.1.1. 6
- 39 विस्तार हेतु द्र. डा. कृष्णलाल द्वारा सम्पादित 'वैदिक चिन्तन' में वसिष्ठ समस्या : एक विश्लेषण, पृ. 34 (1990)
- 40 ऋ. 7.33.11
- 41 'वसिष्ठ और सुदाः' (वैदिक चिन्तन, सम्पा. डा. कृष्णलाल, पृ. 124)
- 42 ऋ. 3.53.9; 3.33.11-12
- 43 तस्येदं विश्वमित्रमासीद् यदिदं किञ्च तस्माद् विश्वामित्र इत्याचक्षते एतं प्राणानेन सन्तम्। ऐआ. 2.2.1
- 44 श्रोत्रं वै विश्वामित्रः ऋषिः। माश. 8.1 .2. 6
- 45 वाग्यै विश्वामित्रः। कौ. 10.5; 15.1; 29.3
- 46 माश. 2. 4. 4. 2
- 47 गो. 2. 3. 23
- 48 माश. 8. 1. 1. 6
- 49 ऋ. 10.107.3
- 50 प्राणा वै दक्षाः। जै. 1.151; 3.62; 95; 192
- 51 कौ. 4.4
- 52 ऋ. 7.18.21
- 53 ऋ. 7.18. 22-23
- 54 नि. 2 .24
- 55 द्र. ऋ. 1.185. 9 का सा. भा.
- 56 ऋ. 1.47.6; 3.53.11; 7.25.3
- 57 ऋ. 7.18.15; 17; 19. 6
- 58 ऐ.2.24; माश. 14.4.3.13
- 59 माश. 1.4.2.2; 5.1. 8
- 60 दश वै पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। काठ. 29.9; गो. 2 .6.2; माश. 3.8.1.3; कौ. 29 .8; मै.सं. 2.3.5; क. 42.5
- 61 ऋ. 7.83.6

- 62 दश पुरुषे स्वर्गनरकाणि तान्येनं स्वर्गं गतानि स्वर्गं गमयन्ति नरकं गतानि नरकं गमयन्ति । जैउ. 4.11.4.6
- 63 तुलनीय- दाशराज्ञे परियत्ताय सुदासे । ऋ. 7. 83. 8
- 64 दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः । सत्या नृणामदमसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन्देवहूतिषु ॥ ऋ. 7. 83 .7
- 65 वृत्राणि अन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा । वही, 9
- 66 यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु । मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ ऋ. 10.54.2
- 67 कौ. 26.17
- 68 तैसं. 3.3.4.3; 6.6.10.3; 7. 5.1.5
- 69 प्राणो वा आयुः ऐ. 2.38; शांआ. 5.2; कौउ. 3.2; यो वै प्राणः स आयु । माश. 5.2.4.10
- 70 सः(प्रजापतिः) आत्मनि ऋत्वमपश्यत् ततः ऋत्विजो असृजत् । तद् ऋत्विजां ऋत्विक्त्वम् । तां. 10.3.1
- 71 ऋ. 1.2. 6; 46.4; 1.112.3; 6.49.5; 50.10 आदि
- 72 ऋ. 8.35.13-15
- 73 प्राणा वै दश वीराः । माश. 9.4.2.10
- 74 ऋ. 1.117.25
- 75 ऋ. 1.31.11
- 76 शौ. 20. 21.10; तु. ऋ. 1. 53.10
- 77 ककुहः सोम्यो रसं इन्दुरिन्द्राय पूर्यः । आयुः पवत आयवे ॥ ऋ. 9. 67. 8
- 78 ऋ. 1.162.1; 5.41.2
- 79 ऋ. 5.43.10
- 80 ऋ. 5.43.14
- 81 विश्वायुं विश्ववेदसं होतारं यजतं कविम् । ऋ. 1.128.8
- 82 अस्माकं व इन्द्रमुश्मसि इष्टये सखायं विश्वायुं प्रासहं युजं वाजेषु प्रासहं युजम् । ऋ. 1.129 .4
- 83 ऋ. 9.4.10
- 84 ऋ. 9.107.14
- 85 सर्वे ह्यायुः । काश. 5 .24 .2
- 86 प्राणःइन्द्रः । माश. 6.1.2. 28; 12.1.9.14 आदि
- 87 प्राणो वा अग्निः । माश. 9.5.1.68; तैआ. 5.8.12
- 88 तां. 2.14. 2; 22. 4. 3
- 89 ऋ. 1.100.12; 5. 32.11
- 90 शौ. 4. 23.1; ऋ. 9. 66. 20
- 91 ऋ. 10. 53. 4-5
- 92 अग्नेर्मन्त्रे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते । शौ. 4. 23.1
- 93 अग्निर्ऋषिःपवमानःपाञ्चजन्यः पुरोहितः तमीमहे महागयम् । ऋ. 9. 66. 20
- 94 माश. 4. 3 .4. 25; तै. 3 .9. 8. 3
- 95 माश. 7. 5. 2. 19
- 96 ऋ. 1.109.1
- 97 यत्पाञ्चजन्यं विशा इन्द्रो धापा असृजत् । ऋ. 8.68.7; तु. आश. 14.4. 2. 24

- 98 माश. 14. 4. 2 .24
 99 यज्ञो वै विश्। माश. 8. 7. 3. 21
 100 यज्ञो वै विद् माश. 14.3.1.9
 101 स सर्परीरभत् तूयमेभ्योऽधि श्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु। ऋ.3. 53.16
 102 शुनं वाहा शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् (ऋ.4.57.4); शुनं न फाला विकृषन्तु
 भूमिं शुनं कीनाशाः अभियन्तु वाहैः। ऋ. 4.57.8
 103 ऋ. 4.38.10; 10. 119. 6
 104 ऋ. 3.53.16
 105 आवरणार्थक 'वृ' धातु से निष्पन्न;
 106 अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यन्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्ते। क्रतुं सचन्ते वरुणस्य
 देवाः राजामि कृष्टेरुपमस्य वज्रेः॥ ऋ. 4.42.1-2
 107 सत्यानुते अवपश्यञ्जनानाम्। ऋ. 7. 49. 3
 108 आ दक्षिणा सृज्यते शुष्मी आसदं वेति द्रुहो रक्षसः पाति जागृविः। हरि रोपशं
 कृणुते नभस्पय उपस्तरे चम्बो ब्रह्म निर्णिजे॥ ऋ. 9. 71. 1
 109 वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा। ऋ. 1.59.7; मनो वै
 भरद्वाजः। माश. 8.1.1.9
 110 ऋ. 1.59.5
 111 अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टय आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्। ऋ.3.26.5
 112 कौ. 7.8
 113 कीनाशाः आसन् मरुतः सुदानवः। शौ. 6.30.1; तै. 2.4.8.7
 114 आपो वै मरुतः। ऐ. 6.30; कौ. 12.8; माश. 6.4.1.9
 115 प्राणाः वै मारुताः। माश. 9.3.1.7; प्राणो वै मरुतः स्वापयः। ऐ. 3.16
 116 मरुतो वै देवानामपराजितमायतनम्। तै. 1. 4 6 .2
 117 शौ. 6.91.1-3
 118 नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्तुः पञ्चकृष्टयः। कुवित्सोमस्यापामिति। ऋ. 10.119.6
 119 यस्येक्षाकुरूप व्रते रेवान्मराययेधते। दिवीव पञ्च कृष्टयः। ऋ.10. 60. 4
 120 ऋ. 8.85.3
 121 कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय। ऋ.1.123.1
 122 जानन्त्यहनः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट शिवतीची। ऋतस्य योषा न
 मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती॥ ऋ. 1. 123. 9
 123 ऋ. 2. 4. 7; तु. ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणम्-श्रीमद्भगवद्गीता- 4.19, 37
 124 पृथिव्यां कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे। ऋ. 7. 8. 2
 125 ऋ. 8.23.19
 126 ऋ. 1.141.8
 127 ऋ. 1.101.1
 128 ऋ. 1.140.4
 129 ऋ. 1.141.7
 130 ऋ. 2.20.7
 131 ऋ. 7.82.9
 132 ऋ. 8.96.14
 133 ऋ. 6.10.4
 134 ऋ. 10.3.1

- 135 ऋ. 10. 3.3
 136 ऋ. 10.3.4
 137 ऋ. 10.3.5
 138 ऋ. 10.3.6
 139 ऋ. 10.3.7
 140 ऋ. 10.3.1-2
 141 नव यदस्य नवतिं च भोगान् साकं वज्रेणा मघवा विवृश्चत्। अर्चन्तीन्द्रं मरुतः
 सधस्थे त्रैष्टुभेन वचसा बाधत धाम्॥ ऋ. 5.29.6
 142 एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्रः ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्। ऐषु विश्वपेशसं धियं
 धाः प्रातर्मक्षू धियावसुः जगम्यात्॥ ऋ.1.61.16
 143 तैसं. 6.5.9.1; क. 44. 9; मैसं. 4.7.4; काठ. 28. 9; क. 44.9
 144 शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमन्यमतिनेनीयमानः। एधमानद्विट् उभयस्थ राजा
 चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्॥ ऋ. 6.47.16
 145 काठ 10.4
 146 पूर्वापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी। ष. वि. 1.1
 147 एतौ वै देवानां हरी यद् दर्शपूर्णमासौ। तैसं. 2.5.6.2-3
 148 इमे (द्यावापृथिवी) वै हरी विपक्षसा। तै. 3.9.4.2; हरी विपक्षसा रथे।
 तैसं. 7.4.20.2
 149 ऋक्सामे वै हरी। माश. 4.4.3.6
 150 दक्षं महे पाययते हिरण्ययं रथमावृत्या हरियोगमृभ्वसम्॥ ऋ.1.56.1
 151 ऋ. 1.56.2
 152 देवी यदि तविषी त्वावृधोतय इन्द्रं सिषक्त्युषसं न सूर्यः। यो धृष्णुना शवसा
 बाधते तम इयति रेणुं बृहदहंरिषणिः॥ ऋ. 1.56.4
 153 ऋ. 1.56.5-6
 154 ऋ. 1.57.2
 155 ऋ. 3.44.3
 156 ऋ. 3.44.4
 157 ऋ. 3.44.5
 158 याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद। या अङ्-
 गरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥ ऋ.10.169.2
 159 या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद। ता अस्मभ्यं पयसा
 पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रीरीहि। ऋ. 10.169.3
 160 'पर्जन्य' हिरण्ययकोशस्थ हिरण्यय सोम का आनन्दमयकोशीय रूप है जिसे
 'पर्जन्यवृद्ध महिष' (ऋ. 9.113.3) के रूप में भी कल्पित किया जाता है।
 161 उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाध्या बिभर्ति। विद्वानपदस्य गुह्या न
 वोचदयुगाय विप्र उपराय शिक्षन्॥ ऋ.7.87.4; तु. ऋ. 9.87.9 जहाँ सोम इन्द्र
 के साथ गायों की राशि (गोनां राशिम्) को प्राप्त करता है।
 162 ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभूर्धिर उशना काव्येन। स चिद्धिवेद निहितं
 यदासामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम्॥ ऋ 9.87.3
 163 ऋ. 9.107.4
 164 ऋ. 6.49.6
 165 ऋ. 1.89.5; 1.115.1; 7.32.22

- 166 शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिं समया विश्वमा रजः। सप्त स्वसारः सुविताय
सूर्यं वहन्ति हरितो रथे ॥ ऋ. 7.66.15
- 167 ऋ. 7.101.5-6
- 168 ऋ. 1.6.1
- 169 ऋ. 1.6. 2-3
- 170 ऋ. 3.38.9
- 171 घनन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ऋ. 3.38.10
- 172 ऋ. 5.57.8; 58.8
- 173 एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि। शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि
मानुषान् ॥ ऋ. 1.48.7
- 174 विश्वमस्या नानाय चक्षसे, जगज्ज्योतिष्कृणोसि सूनरी। अप द्वेषो मघोनी दुहिता
दिव उषा उच्छदप सिधः ॥ ऋ. 1.48.8
- 175 तु. प्र सु विश्वान्नरक्षसो वक्ष्यग्ने भग यज्ञानामभिशस्तिपावा। अथा वह सोमपतिं
हरिभ्यामातिथ्यमस्मै चकृया सुदाले ॥ ऋ. 1. 76. 3

पञ्चम अध्याय

प्राणों का अनेकत्व, युग्मत्व और एकत्व

निघण्टु के 'मनुष्यनामानि' के प्रसंग में अब तक जो चर्चा हुई उसमें मरुतों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। अमृताः और मर्त्याः मरुतों की दृष्टि से सामान्यतः मनुष्यप्राणों के जो प्रमुख स्तर सिद्ध होते हैं, उनके अन्तर्गत वे सभी प्राण समाहित से प्रतीत होते हैं जिनके नामों को निघण्टु की सूची में सम्मिलित किया गया है। फिर भी, इन नामों के बहुवचनान्त रूपों पर ही चर्चा को केन्द्रित रखना पर्याप्त नहीं है। निघण्टु के इन बहुवचनान्त नामों में से बहुतों के एकवचन और द्विवचन का प्रयोग भी वेदमन्त्रों में हुआ है। इन पर विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि निघण्टु की सूची में परिगणित ये शब्द जहाँ चेतना शक्ति की अनेकता और विविधता को प्रस्तुत करते हैं वहीं उनके द्विवचनान्त और एकवचनान्त रूप उस शक्ति के क्रमशः द्वैत एवं अद्वैत स्तर का बोध कराते हैं; उदाहरणार्थ— यहाँ हम चर्षणयः को लेते हैं जिसके द्विवचन और एकवचन रूप का भी वेद में प्रयोग हुआ है।

चर्षणयः और अग्नि

भाष्यकारों को बहुवचनान्त 'चर्षणयः' का अर्थ करने में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। निघण्टु के आधार पर इसके मूलार्थ को 'मनुष्य' स्वीकार करते हुए भी उन्हें 'चर्षणयः' को प्रजा, शत्रु, द्रष्टा, स्तोता, यजमान तथा मन्त्रद्रष्टा मनुष्यों के अर्थ में ग्रहण करना पड़ा। इसके उपरान्त भी वेदमन्त्रों में कतिपय ऐसे भी प्रयोग प्राप्त होते हैं जहाँ इस प्रकार का अर्थ व्यत्यय नहीं चलता। उदाहरण के लिये निम्नलिखित दो मन्त्र लेते हैं —

अस्य श्रोषन्त्वा भुवो विश्वा यश्चर्षणीरभि ।

सूरं वित्सुषीरिषः ॥

पूर्वीभिर्हि ददाशिम शरदिभर्मरुतो वयम् ।

अवोभिर्चर्षणीनाम् ॥

ऋ. 1.86.5—6

यहाँ जिन मरुतों को सम्बोधित किया गया है प्रथमतः वे अनेक हैं जिनसे आग्रह किया गया है कि वे सुनें— अस्य श्रोषन्तु। साथ ही, उनके उस एकीभूत रूप (गण) का भी उल्लेख है, जो चर्षणियों को पूर्णतया अभिभूत करने में समर्थ हैं— यः विश्वाः चर्षणीः अभि आ भुवः। उनसे प्रार्थना यह है कि सूर के प्रति 'इषः' प्रवाहित हों जिससे हम सभी चर्षणियों के रक्षणों द्वारा (अवोभिः), दान करते रहें (ददाशिम)।

इस प्रसंग में ध्यातव्य यह है कि सायणाचार्य को प्रथम 'चर्षणीः' का अर्थ 'शत्रुभूतान् मनुष्यान्' तथा द्वितीय का 'सर्वस्य द्रष्टृणां सर्वज्ञानां भवताम्'² अर्थ करके उसको ~~चर्षणीः का अर्थ मनुष्य~~ ^{चर्षणीः का अर्थ मनुष्य} माना गया है। दोनों स्थानों पर 'चर्षणी' शब्द के दो भिन्न अर्थ करना उन्हें निस्संदेह आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि प्रथम चर्षणी में

कोई ऐसा विरोधी अवांछित तत्त्व है जिसको अभिभूत किये बिना चर्षणियों के 'रक्षणों' का अभीष्ट परिणाम असम्भव था। इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

आशुं दूतं विवस्वतः विश्वा यश्चर्षणीरभि।

आ जभ्रुः केतुमायवः भृगुवाणं विशेविशे ।।

ऋ. 4. 7. 4

यहाँ निघण्टु के मनुष्यनामानि में से चर्षणी के अतिरिक्त विवस्वतः, आयवः तथा विशः भी उल्लिखित हैं। साथ ही, 'विशेविशे' कहकर जिन अनेक विशः की ओर संकेत है, वे वही पूर्वोक्त वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः तथा मरुतः हो सकते हैं जिन्हें 'विश' नामक चेतना शक्ति के रूपान्तर माना जाता है। यदि मनुष्य के अर्थ में ही चारों नामों को ग्रहण करें, तो इस मन्त्र का अर्थ यह होगा— 'जिस अग्नि ने मनुष्यों (चर्षणीः) को अभिभूत किया और जो मनुष्य का (विवस्वतः) आशुदूत है उसे मनुष्यों ने (आयवः) सभी मनुष्यों के लिये (विशेविशे) 'भृगुवाणं केतु' के रूप में सर्वत्र ग्रहण किया (आजभ्रुः)।'।

इस प्रकार अर्थ करने पर हम अग्नि के स्वरूप को लेशमात्र भी नहीं समझ पायेंगे जिसको सम्बन्धित सूक्त के अन्य मन्त्रों में 'देवस्य चेतनम्' (मं.2) 'ऋतावानं विचेतसम्' कहकर नक्षत्रमण्डित आकाश के समान दर्शनीय (मं.3) माना गया है। यह 'विभु' और 'प्रथम' अग्नि है जिसे भृगुओं ने 'विशः विशः' के लिये रश्मियों में (वनेषु)³ दीप्तिमान् (मं.1) किया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि विशः(मनुष्यों) के भीतर ध्यातव्य इस अग्नि को मर्तासः (मनुष्यों) ने ग्रहण कर (मं.2) लिया। निश्चय ही, यहाँ यज्ञकुण्ड में समिद्ध होने वाला स्थूल, जगत् का (भौतिक) अग्नि अभिप्रेत नहीं है और न 'मर्तासः' एवं 'विशः' से देहधारी मनुष्य ही अभिप्रेत हो सकते हैं। जो अग्नि विभु है, रश्मियों में दीप्त होता है और नक्षत्रमण्डित आकाश के समान दर्शनीय और ध्यातव्य कहा जाता है, वह अवश्य मनुष्यव्यक्तित्व के भीतर प्राप्तव्य वह चेतनाज्योति ही हो सकती है जिसे हमारे उन विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म प्राणों के मूल में माना जा सकता है, जो पिछले अध्याय में 'मनुष्यनामानि' के वाच्य प्रतीत हुये।

इसी एकत्वमूलक अनेकता का दर्शन जब हम मनुष्यव्यक्तित्व में करने का प्रयास करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि स्तर—भेद, कार्य—भेद, और गुण—भेद के आधार पर मनुष्यप्राणों को विविध नाम दिये जा सकते हैं और उनके बिखराव, संघात, द्वित्व एवं अद्वैतत्व की भी कल्पना सम्भव है। इसके साथ ही यदि, संदर्भ—भेद से किन्हीं प्राणों की प्रकृति में कोई परिवर्तन आता हो तो उसको भी इंगित किया जा सकता है। इस प्रसंग में हम उदाहरण के लिये, पुनः उसी चर्षणि शब्द पर विचार करते हैं, जिससे यह अध्याय प्रारम्भ हुआ।

पूर्वोक्त तीन मन्त्रों में चर्षणि शब्द बहुवचनान्त रूप में जिन प्राणों का बोधक है, उनमें निस्संदेह, कोई अवांछित विकार या अभाव था जिसके कारण प्रथम, विभु, चेतन आदि विशेषणों से विगुणित अग्नि को उपलब्ध अभिभूत करना पड़ा। इसके पश्चात् ही वह चेतनज्योति रूप प्रथम (मूल) अग्नि सभी अन्तः प्रविष्ट प्राणों

के लिये (विशे विशे) 'भृगुकेतु' तथा वासनारहित व्यक्तित्व (विवस्वतः) का 'आशु दूत' बनाया जा सका। अग्नि को यह भूमिका प्रदान करने वाले उस प्राण के अनेक रूपान्तर ही 'आयवः' थे, जो आ उपसर्गपूर्वक 'यु' धातु से निष्पन्न 'आयु' नाम धारण करते हैं जो मिश्रण और अमिश्रण के एक साथ बोधक है। अतः 'आयवः' की पहुँच सभी विशः (अन्तःप्रविष्ट) प्राणों तक मानी जा सकती है। अपनी मिश्रण एवं अमिश्रण क्रिया द्वारा ही ये 'आयवः' उक्त अग्नि (चेतना ज्योति) का समञ्चन-प्रसारण करते हुए 'चर्षणयः' के उस अवांछित तत्त्व को अभिभूत कर लेते हैं जो उसके नाम (चर्षणि) की संशयात्मक अथवा गतिभक्षणार्थक 'चर्' धातु से निष्पन्न अतिचार, अत्याचार, अनाचार तथा व्यभिचार जैसे शब्दों से ध्वनित हो रहा है। इसे अवांछित तत्त्व के प्राणों का चापल्य कह सकते हैं।

उक्त अवांछित तत्त्व के अभिभूत होने का परिणाम होता है वासनारहित (विवस्वत) पक्ष का अग्नि द्वारा दौत्य कर्म। और इसका कारण होता है 'चर्षणयः' की अनेकता को एकत्व की दिशा प्रदान करने वाली प्राणों की वह गणवद्धता जिसका संकेत प्रथम दो मन्त्रों में चर्षणयः (मरुतः) के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष हो रहा है। अग्नि द्वारा अभिभूत होने से पूर्व वे गण अनेक होकर स्रवण कर रहे थे, परन्तु बाद में वे एकीभूत हुए। चर्षणियों के उक्त चापल्य की दृष्टि से उनकी तुलना मनुष्यनामों में परिगणित 'कृष्टयः' से भी कर सकते हैं। यह चापल्य किसी अभाव का परिणाम है। अतः इस अभावपूर्ति को ध्यान में रखकर दोनों शब्दों के सन्दर्भ में पूरणार्थक 'पृ' धातु से चर्षणिप्रा⁴ तथा कृष्टिप्रा⁵ शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पञ्चकृष्टी⁶ और पञ्चचर्षणी⁷ की समान अवधारणाएँ भी संकेतित करती हैं कि दोनों की पञ्चविधता की कल्पना संभवतः उन्हीं पञ्चविशः से सम्बन्ध रखती है जिनको लक्ष्य करके पूर्वोद्धृत मन्त्र में 'विशे विशे' का प्रयोग हुआ है। कृष्टि और चर्षणी के इस सादृश्य की छायां उक्त अग्नि के 'विश्वकृष्टि'⁸ और 'विश्वचर्षणि'⁹ रूपों में भी स्पष्ट है। इसी सादृश्य को ध्यान में रखते हुए चर्षणि शब्द का एक परम्परागत निर्वचन 'कृष्' धातु से भी माना गया प्रतीत होता है।¹⁰

उभयङ्कर प्राण

'विश्वकृष्टयः' जैसे प्राणों की एक अन्य विशेषता उनकी उभयङ्करता है। इसके अनुसार, वे आरोहण और अवरोहणशील हैं। द्विविध अग्नि के समान ऊर्ध्वगामी होने से 'अग्निश्रियः' अथवा 'अग्निजिह' कहे जाते हैं, वहीं वे अवरोहण करने में वर्षण करती हुई रश्मियों के रूप में 'वर्ष निर्णिजः रुद्रियाः' हो जाते हैं।¹¹ यही द्विविधता 'मरुतः दिवोश्येनासः' तथा 'असुरस्य नीडयः मरुतः' में दृष्टिगत होती¹² है और यही पुनः उन इन्द्रसखाओं (मरुतों) के रूप में प्रकट होती है जिन्हें 'आपः' तथा 'निषिद्धवरीः' औषधियाँ कहा जाता है।¹³ दूसरे शब्दों में, ऊपर से वर्षणशील या प्रवाहित होने वाले अतिमानसिक प्राण प्राप्तव्य 'आपः' हैं, जबकि अहंकार रूप वृत्रासुर के प्रभाव में रहने वाले प्राण निषेधपरक हैं। यही द्विविध प्राण जातवेदस् की 'पर' और 'अपर' भेद से दो दाढ़ें हैं जिनसे युक्त अपने 'उभयाविन्'¹⁴ रूप में वह यातुधानों का नाश करता¹⁵ है। जातवेदस् चूँकि इन्द्राग्नी और सोम की संयुक्त इकाई है, इसलिये इसका यह उभयाविन् रूप इन्द्र, अग्नि, सोम पर पृथक्-पृथक् भी लागू होता है। तदनुसार, इन्द्र न केवल उभयाविन् या द्वायाविन्

है, अपितु वह 'महिष्ठः उभयङ्करः' रूप में उभय पक्षों को एकजुट करने की सामर्थ्य रखने वाला 'चर्षणिसह'¹⁶ भी है। सोम पवमान भी देवों, मरुतों अथवा चर्षणियों के दोनों जन्मों का ज्ञाता है, जो ऊपर नीचे दोनों ओर व्याप्त होता है।¹⁷ उसके अवरोहणशील पक्ष का नाम 'पवित्रम्' है, जबकि आरोहणशील पक्ष की संज्ञा 'सव' अथवा 'ब्रह्मसव' है। अतः सवितासोम से प्रार्थना है कि इन दोनों के द्वारा वह हमें भीतर से (विश्वतः) पवित्र करे।¹⁸ इसी प्रकार, इन्द्र के समान सोम को भी 'चर्षणिसह'¹⁹ तथा इन्द्राग्नी को 'चर्षणिसहा'²⁰ कहा गया है।

अद्वैतावस्था अथवा विश्वचर्षणी

यहाँ प्राणों अथवा चेतना की जिस उभयंकर अवस्था का उल्लेख हुआ है उससे उच्चतर एक ऐसा स्तर भी है जहाँ से द्वैत अद्वैत की ओर गतिशील होता है, उभयतः शीर्ष्णी अदिति वाक् सुप्राची-सुप्रतीची होती हुई अपने उस समन्वित अद्वैत रूप की ओर गतिशील होती है,²¹ जो उसका अध्या रूप है। जो अन्य अनेक नामों से भी विश्रुत होती है।²² इसे ही वेदमन्त्रों में विचर्षणी और विश्वचर्षणी भी कहा गया है। इन दोनों शब्दों को निघण्टु की "पश्यति कर्मा" सूची में 'चष्टे, विचष्टे' जैसे दर्शनार्थक पदों के साथ रखा गया है। यह वस्तुतः आनन्दमयकोश की वह अवस्था है जिसका समीकरण पहले जातवेदस् के साथ किया जा चुका है। अग्नि की दृष्टि से यही वह अवृक अग्नि है जिसे विचर्षणि, शवस् या विचर्षणिवसु कहा जाता है और जिसका ईडन विज्ञानमयकोश के चर्षणयः अपनी विज्ञानगिराओं द्वारा करते हैं। यही अवृक विश्वचर्षणि भी कहलाता है²³। आनन्दमयकोश के जातवेदस् को अवृक कहने का अभिप्राय यह है कि उस स्तर पर उन सभी आसुरी शक्तियों का विनाश हो चुकता है जिनसे चर्षणयः निम्नतर स्तरों पर जूझ रहे थे। यही अवृक आनन्दमय अवस्था विचर्षणि सोम का वह स्तर है जब उसे (सोम को) उषा या सूर्य के समान अपनी रश्मियों द्वारा पवमान होता हुआ वर्णित किया गया है।²⁴ यही वह विश्वचर्षणि पवमान है, जो 'विश्वानि काव्यानि' का प्रदाता कहा जाता है।²⁵ अग्नि और सोम के समान जातवेदस् के अंगभूत इन्द्र के लिये भी विचर्षणि और विश्वचर्षणि शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक मन्त्र में जिस विश्वचर्षणि इन्द्र को सम्बोधित करते हुए सोम के प्रसर्पण की कामना की गई है,²⁶ वह वस्तुतः पूर्वोक्त अद्वयाविन् अवस्था है, जो वृत्रवध के उपरान्त आती है²⁷ और जिसे अन्यत्र विश्वचर्षणि भी कहा गया है।²⁸ विश्वचर्षणि इन्द्र को जब मारुतगण से युक्त तथा अवृक ऊतियों के साथ स्थित कहा जाता है, तो भी वही द्वन्द्वातीत आनन्दमय स्थिति अभिप्रेत होती है,²⁹ क्योंकि जीवात्मा इन्द्र अपनी इस विश्वचर्षणि स्थिति को ब्रह्मबल द्वारा ही प्राप्त करता है।³⁰

अतः विचर्षणि एवं विश्वचर्षणि शब्दों को "पश्यतिकर्मा" कहकर निघण्टुकार ने यह संकेत भी दिया कि आनन्दमयकोश की अवस्था प्राप्त करने पर 'चर्षणयः' प्राण उस स्थिति को पा लेते हैं जिसमें वे द्रष्टा बन जाते हैं। द्रष्टा बनने का अभिप्राय ब्रह्मसाक्षात्कार से है, जो उसी समय सम्भव है जब ये प्राण उन सभी बाधाओं से मुक्त हो जायें जो परब्रह्म के दर्शन को बाधित करती हैं। ऐसा होने पर वे प्राण अपने अनेकता और विविधता को त्याग कर, पहले चर्षणी नामक युग्म रूप धारण करते हैं

जिसका अर्थ 'द्रष्टारौ इन्द्राग्नी' किया जाता है।³¹ मनुष्यनामों में परिगणित चर्षणयः के इस स्वरूप परिवर्तन को समझने के लिये ऋ. 1.109 का सारांश देना उपयुक्त होगा जिसमें चर्षणी (द्विवचनान्त) प्रयोग हुआ है।

ऋ. 1.109 का सारांश

इस सम्पूर्ण सूक्त का ऋषि कुत्स है, जो डा. फतहसिंह के अनुसार, ऐसे संशयग्रस्त मनुष्य-व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसके भीतर उस स्थिति से बाहर आने की सामर्थ्य भी छिपी हुई है। यह सामर्थ्य वह 'वस्य' (धन) है जिसकी इच्छा करता हुआ (इच्छन्) कुत्स इन्द्राग्नी की संयुक्त प्रमति का आश्रय लेकर एक बलवती 'धी' का तक्षण करता है (मं.1)। इन्द्राग्नी की इस प्रमति का आश्रय लेने का कारण³² यह है कि इस प्रमति में ही आत्मा के क्रियापरक (इन्द्र) और ज्ञानपरक (अग्नि) नामक उभय पक्षों की वह समवेत शक्ति है, जो उसके अभीष्ट सोम धन का प्रणयन करने में समर्थ है (मं.2)। इन्द्राग्नी की रश्मियों के माध्यम से सोम-बिन्दवः वर्षणशील (वर्षण) होकर अनिर्वचनीय आनन्द (कम्) का मादन करते हैं और तब वे दोनों (इन्द्राग्नी) वर्षणशील सोम के स्रोत अद्रि³³ बनकर उस धिषणा (बुद्धि) की गोद में स्थित होते हैं जिसे पूर्व में 'धी' कहा गया है (मं.3)। इस प्रकार वह धिषणा जब इन्द्राग्नी युग्म से सोम का अभिषवण करती है, तो अश्विनौ भी मनुष्य के कर्मों (अप्सु) में माधुर्य-युक्त सोम को लेकर (मं.4) दौड़ पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, अश्विनौ उस ब्रह्मानन्द रूप सोम को हमारे आचरण के स्तर पर ले आते हैं। इस दृष्टि से हमारे आचरण को सुन्दर बनाने वाले अश्विनौ को भद्रहस्ता तथा सुपाणि कहना सार्थक हो जाता है।

ब्रह्मानन्द रूप सोम के इस अभिषवण को ही वेद बर्हि नामक यज्ञ मानता है जिसमें (बर्हिषि यज्ञे यस्मिन्) स्थित होकर उक्त वसु (सोम) के विभाजन करने में, वृत्रवध करने वाले बलवत्तम् इन्द्राग्नी को चर्षणी-युग्म (मं.5) कहा जाता है। वे दोनों देवासुर संग्राम में, द्यावापृथिवी तथा सभी चर्षणियों, सिन्धुओं, गिरियों एवं भुवनों से भी अधिक महान् (मं.6) हो जाते हैं। इन दोनों से समन्वित जो ब्रह्म-सूर्य-रश्मियाँ होती हैं, उनके साथ हमारे पितरप्राण भी समन्वय (मं.7) कर लेते हैं। 'पुरन्दरा' तथा 'वज्रहस्ता' कहलाने वाला यह इन्द्राग्नी युग्म हमें जिस वसु सोम को देता है उसे हमारे व्यक्तित्व में विद्यमान मित्र, वरुण, अदिति आदि दिव्य शक्तियाँ महिमामण्डित (मं.8) कर देती हैं।

अद्वैत चर्षणि

इस युग्म से परे अद्वैत चर्षणि की कल्पना भी वेद में प्राप्त होती है। जहाँ, पूर्वोक्त चर्षणि युग्म (इन्द्राग्नी) से समन्वित ब्रह्म-सूर्य रश्मियों को पितरप्राणों के रूप में माना गया है, वहीं यह एकवचनान्त चर्षणि शब्द हिरण्यकोश के कूटस्थ³⁴ (ब्रह्मसायुज्य प्राप्त) आत्मा का पिता कहलाता है। यह पिता हवि (सोम) द्वारा आप्लावित करने से प्राप्त होता है। यह वर्णन हिरण्यकोश में स्थित उस ब्रह्म पिता की ओर संकेत करता है जिसकी आनन्दमयी गोद में विराजमान

आत्मा 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति करने लगता है। यह समाधि की स्थिति है परन्तु उसके पश्चात् आगत व्युत्थानावस्था की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा गया है कि वह उन आपः का जार है जिन्हें वह सोम की हवि से परिपूर्ण कर देता है। इसी स्थिति के बारे में नरा (अश्विनौ) को सम्बोधित करते हुए कहा गया है :-

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिः नरा ।

पिता कूटस्थ चर्षणि ॥ ऋ.1.46.4

इस सम्बोधन का कारण यह है कि मनुष्यनामों में पठित बहुवचनान्त 'नरः' शब्द 'आपः' कहलाने वाले जिन मरुतों के लिये प्रयुक्त होता है वे सभी व्युत्थानावस्था के आगमन पर 'नरा' (द्वि.) कहलाने वाले अश्विनौ युग्म में परिवर्तित होकर ऐसी ज्योतिष्मती इषम् के दाता बन जाते हैं, जो हमें अन्धकार से पार ले जाकर सर्वथा परिपूर्ण कर देती है। अश्विनौ के लिये प्रयुक्त 'मरुत्वन्ता' विशेषण³⁵ भी संकेतित कर रहा है कि यह उसी पूर्वोक्त अद्वैत पिता (चर्षणि) का द्वैत रूप है, जो अन्यत्र अनेक पितरों की शक्ति (पितृणाम् शक्तीः)³⁶ के रूप में आविर्भूत हुआ बताया गया है। वस्तुतः अश्विनौ अपने युग्म रूप में न केवल मरुतः नरः का समावेश करते हैं, अपितु ऋग्वेद. 8. 35 के चतुर्विंशमन्त्रों में वे मित्रावरुणवन्ता, अंगिरसवन्ता, विष्णुवन्ता, ऋभुमन्ता आदि रूपों में सभी वैदिक देवताओं का अपने में समाहार करने वाले अथवा 'सचाभुवा' कहे गये हैं। अश्विनौ जिन ऋभुओं में युक्त होकर 'ऋभुमन्ता' कहे जाते हैं, वे ही ऋभवः अपने 'सत्यमन्त्राः' रूप में इन दोनों पितरों को युवा बनाकर उनके लिये एक 'परिज्मानम् सुखं रथम्' का निर्माण करते हैं।³⁷ उनके इस रथ की अर्वाक् गति होने पर साधक को अनेक रत्नों (आध्यात्मिक धनों) की प्राप्ति होना संभव है।³⁸ अश्विनौ का यह रथ पूर्वोक्त कूटस्थ आत्मा के पिता (परब्रह्म) के लोक से अवतरण करता है।

व्यष्टिगत आत्मा की दृष्टि से वह लोक एक 'उदनः हृदम्' है जिसे एक वृषभ हर्षित होकर पीता है।³⁹ यहाँ पर वृषभ उस व्यष्टिगत आत्मा का प्रतीक है जिसको मुदगल नाम दिया गया। इसका रथ परमेश्वर इन्द्र द्वारा रक्षित होने से 'मिथूकृत' रथ⁴⁰ कहा जाता है। मिथूकृत रथ वस्तुतः हिरण्यकोश के ब्रह्मात्म-सायुज्य का बोधक है। अतः उसे 'अधिरथ' भी कहा जाता है जिस पर 'मुदगलानी' (व्यष्टिगत आत्मा की शक्ति) को परमेश्वर इन्द्र की सेनानी एवं रथी होकर, सहस्र गायों (रश्मियों) को विजित करने का श्रेय प्राप्त होता है।⁴¹ ये वे गायें हैं जो वेद में पणियों, बल आदि द्वारा अपहृत वर्णित हुई हैं। उनकी पुनः प्राप्ति पर मुदगल इन्द्र (व्यष्टिगत आत्मा) परमेश्वर इन्द्र की प्रार्थना करते हुए कहता है :-

त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः ।

वृषा यदाजिं वृषणा सिषाससि चोदयन् वधिणा युजा ॥ ऋ.10.102.12

प्रस्तुत मन्त्र में 'विश्वस्य जगतः' से हमारा व्यष्टिगत आन्तरिक जगत् अभिप्रेत है। इसका चक्षु आत्मा है, परन्तु इस चक्षु का जो चक्षु है वह वर्षक परमेश्वर इन्द्र है। जो रथ से युक्त वृषणशील अश्व युगल को

प्रेरित करता हुआ पूर्ण विजय प्राप्त करवाने का इच्छुक है। इसी रूपक को अगले सूक्त⁴² में अधिक स्पष्ट किया गया है। इस सूक्त का ऋषि अप्रतिरथ है, जो व्यष्टिगत आत्मा का प्रतीक है और परमेश्वर इन्द्र का कृपापात्र होने से वह इन्द्र-पुत्र (ऐन्द्रः) भी कहलाता है; उसी के शब्दों में, “चर्षणियों (मरुतों) में हलचल उत्पन्न करने वाला एक वीर इन्द्र सैकड़ों शत्रु-सेनाओं को एक साथ जीत लेता है।” अतः ‘नरः मरुतः’ को सम्बोधित करते हुए वह कहता है :- “हे नरों योद्धाओं! जिष्णु इन्द्र के साथ तुम भी युद्ध में विजयी बनो (मं.2); मरुद्गण से युक्त इन्द्र एक वशी, संसृष्टा, सोमपा योद्धा (मं.3) है।” बृहस्पति से भी प्रार्थना है कि वह रथ द्वारा सर्वत्र जाये और हमारे रथों (मं.4) का भी रक्षक बने; अभिवीर, गोवित् इन्द्र से विनती है कि वह ‘जैत्ररथ’ पर आरुढ़ (मं.5) हो। सजाता: सखाया: (मरुतः) से निवेदन है कि वे भी इन्द्र का अनुसरण करते हुए अपना पराक्रम दिखायें (मं.6); शतमन्यु (परमेश्वर इन्द्र) हमारी सेना की रक्षा (मं.7) करें; जयन्ती देवसेनाओं का बृहस्पति इन्द्र नेता हो; दक्षिणा, यज्ञ और सोम आगे चलें तथा मरुतः अग्रगामी हों (मं.8)। अन्त में, उपसंहार करते हुए अप्रतिरथ इन्द्रपुत्र (व्यष्टिगत आत्मा) चाहता है कि परमेश्वर इन्द्र मेरे अपनों के (मामकानाम्) मनो को प्रफुल्लित करें और हमारे विजयशील रथों का घोष (मं.10) हो; हमारी ऋतसम्पन्न ध्वजाओं में परमेश्वर इन्द्र हों; हमारी इच्छायें विजयी हों; हमारे वीर उच्चतर स्तर पर हों तथा ऊँ और देव हमारी रक्षा (मं.11) करें; जबकि हमारे शत्रु अन्धतमस् से युक्त (मं.12) हों। नरः मरुतः को सम्बोधित करते हुए अन्तिम मन्त्र में कामना की गई है कि वे विजयी हों, इन्द्र उन्हें शर्म (सुख) प्रदान करे जिससे वे सब उग्र (अनाधृष्य) हों। (मं.13)

इस सूक्त में ‘बृहस्पति इन्द्र’ को नेता मानते हुए भी दक्षिणा (दक्षता), यज्ञ और सोम को प्रथम स्थान देना और मरुतः को विजयवाहिनी के पुरोधा का स्थान देना महत्त्वपूर्ण है। उससे भी अधिक महनीय है बृहस्पति का रथ द्वारा सर्वत्र जाना और अन्य सब रथों का रक्षक होना। बृहस्पति के इस रथ से उस मनुष्यरथ की तुलना की जा सकती है जिसे ऋ.2.18.1 में इष्टियों और गतियों द्वारा रंहणशील होने वाला कहा गया है। प्रातःकाल में योजनीय यह एक नव्य रथ है। इस नूतन रथ को सस्नि (स्नेहनयुक्त), चतुर्युग, त्रिकश, सप्तरश्मि, दशारित्र तथा स्वर्षा: (स्वःज्योति देने वाला) कहा गया है। यह इन्द्र का रथ (रथः इन्द्रस्य) (मं.2) है। इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र तथा ऋषि गृत्समद है जिसका धात्वर्थ⁴³ है हर्ष का इच्छुक। मन्त्र 3 में रथ से सुखवाचक ‘कम्’ का सम्बन्ध होना साम्प्रियाय प्रतीत होता है, क्योंकि प्रस्तुत सूक्त में इन्द्र को सोमपान के लिये आहूत किया जा रहा है - इन्द्र सोमपान कर ले, यही गृत्समद के लिये आनन्द का विषय होगा।⁴⁴

हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व (गृत्समद)

‘मम ब्रह्म इन्द्र’ कहकर ऋषि अपने उपास्य देव का आह्वान⁴⁵ कर रहा है। वह न केवल हरिद्वय को रथ से युक्त करने का आग्रह करता है, अपितु उन सभी ‘हरयः’ को भी संयुक्त करने की प्रार्थना करता है जिनकी संख्या 100 तक है।⁴⁶ उसकी उत्कट अभिलाषा है कि ब्रह्म इन्द्र का सख्य उसे प्राप्त होता रहे, ताकि वह ब्रह्म की दक्षिणा (दक्षता) का दाहन करता रहे। यही सूक्त यह है कि जिस हर्ष या आनन्द का इच्छुक गृत्समद है, वह सोम है। साथ ही, वह जिन

इष्टियों और मतियों द्वारा रथ को गतिशील करना चाहता है वे ही रथ के अश्वों (हरयः) के रूप में कल्पित किये गये हैं। अतः समस्त हरियों को रथ से युक्त करने का अर्थ है - हरियोग की वह स्थिति जिसमें सोम स्वयं हरि हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उपर्युक्त नव मनुष्यरथ व्यष्टिगत इन्द्र (आत्मा) का वह हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व है, जो अपने ब्रह्म-इन्द्र के लिये भक्ति-रस (सोम) को प्रस्तुत करके ब्रह्मसायुज्य द्वारा ब्राह्मी-दक्षता का दोहन करना चाहता है। इसका तात्पर्य है कि गृत्समद स्वयं व्यष्टिगत इन्द्र का प्रतीक है; इस निष्कर्ष की पुष्टि उस आख्यान द्वारा भी की जा सकती है, जो ऋ. 2.12 के प्रसंग में बृहद्देवता तथा ब्राह्मणों से उद्धृत किया गया है।⁴⁷ इस आख्यान में गृत्समद वेशधारी इन्द्र परमेश्वर की कल्पना की गई है, क्योंकि वस्तुतः प्रत्येक व्यष्टिगत आत्मा (इन्द्र) में समष्टिगत इन्द्र (परमात्मा) की छाया होती है, परन्तु छद्मवेश में उसे यह स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता होती है कि वह इन्द्र नहीं है, अपितु इन्द्र तो वह है जिसने वृत्र, शम्बर आदि का वध किया तथा अन्य अनेक पराक्रम दिखाये।

हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व (वामदेव)

गृत्समद के समान ही वामदेव ऋषि भी मनुष्य के हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व का प्रतीक कहा जा सकता है। जहाँ गृत्समद जिस सोम का इच्छुक है उसे मद नाम दिया गया है, वहाँ वामदेव ऋषि उसी सोम को 'वाम' नाम से अपना उपास्य बनाये हुए है। उसके नाम (वामदेव) का यही रहस्य है। जब तक उसने वाम को अपना देव (उपास्य) नहीं बनाया था तब तक जो दुर्दशा युक्त जीवन था उसका परिचय कराते हुए वह बताता है कि उस समय उसकी भार्या (तनु) को भी अपमानित होना पड़ा था। वह स्वयं इतना दरिद्र था कि उसे 'शुनः अन्त्राणि' पकानी पड़ी थी। अब वामदेव होकर हरियोग की स्थिति प्राप्त करने के कारण उसका प्राण रूप श्येन ही उसके लिये मधु (सोम) ले आया।⁴⁸ इस प्रसंग में, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋ. 4.27 का प्रथम मन्त्र है जहाँ वामदेव उत्तम पुरुष के क्रियापद द्वारा स्पष्टतः स्वयं को ही सोम लाने वाले श्येन के रूप में स्वीकार करता है :-

शतं मा पुरः आयसीरक्षन्धश्येनो जवसा निरदीयम्।

वस्तुतः निघण्टु के प्रशस्य नामों में पठित 'वाम' शब्द व्यान प्राण की उस साम्यावस्था का बोधक है जिसे 'वामदेव्यं शिवं शान्तं सुष्वाणम्'⁴⁹ तथा 'अमृतलोक' स्वर्गलोक भी कहा जाता है।⁵⁰ यह योग की वह अवस्था है जब सभी प्राण केन्द्रीभूत हो जाते हैं। अतः इस अवस्था में वाम (ब्रह्मानन्द रस सोम) ही व्यक्ति का देव होता है। हरियोग सम्पन्न व्यक्तित्व की यह उच्चतम अवस्था है जिसका प्रतीक वामदेव है, जबकि गृत्समद इससे निम्न अवस्था का प्रतीक है। वामदेवत्व को मनुष्यव्यक्तित्व में घटित होने वाली समस्त दिव्यसृष्टि का गर्भ भी माना गया है, अतः वामदेव कहता है, 'जब मैं गर्भ में था, तो मैंने सभी देवों के जन्मों को जान लिया;⁵¹ मैं ही सृष्टि का आधार हूँ, मैं ही सृष्टि का आधार हूँ और विप्र हो गया।'⁵² इसका अभिप्राय है कि जिसे वामदेव्यम् साम अथवा हरियोग कहा

क्षितयः और पूरवः

हरी रथे सुधुरा योगे अर्वाक् इन्द्र प्रिया कृणुहि ह्यमानः । ऋ. 5.43.5

परमेश्वर इन्द्र का यह प्रसाद मिलने पर मुनष्यव्यक्तित्व में ज्ञानाग्नि क्षिति के समान ही पृथिवी (विस्तारशील) हो जाता है⁵⁹ और वह 'सुदृशीकरूप' धारण कर, पूरवः प्राणों द्वारा वरणीय (पुरवारः) होकर उसी प्रकार देदीप्यमान होता है जिस प्रकार स्वयं क्षिति (भौतिक व्यक्तित्व) जगमगाती है।⁶⁰ इसी परिवर्तन को लक्ष्य कर कहा जाता है कि 'क्षितयः' प्राणों ने मित्रावरुणों के उस जन्म को आभूषित किया जो महान् दक्ष के लिये (दक्षसे महे) प्रशंसनीय (प्रवाच्यम्) हो गया, क्योंकि जो मित्रावरुणौ पहले असुर थे वे अब ऋतसम्पन्न (ऋतावानौ) हैं और उन्होंने क्षिति को 'बृहत् ऋतम्' घोषित कर दिया है।⁶¹ इसका स्पष्ट अर्थ है कि यहाँ क्षितयः और क्षिति से देहधारी मनुष्यों की पृथिवी या जनसंख्या अभिप्रेत नहीं, अपितु वह आध्यात्मिक व्यक्तित्व अभिप्रेत है जिसमें नैतिक मूल्यों को लाने वाला 'बृहत् ऋतम्' सर्वोपरि होता है, अतः उक्त 'क्षितयः' वे ऊर्जस्वित प्राण हैं जिन्हें मित्रावरुणौ द्वारा 'क्षितीः ऊर्जयन्तीः' कहा गया है।⁶² यही वे 'क्षितीः मानुषीः' हैं जिनका हमारी आन्तरिक उषा उद्गिरण करती है और इस प्रकार अन्तरिक रूप से प्रकाशित होती है।⁶³ क्षिति (मनुष्य) को एकत्रित करती हुई उषा पराक से (पराकात्) आती है, वे भी पञ्चज्ञानेन्द्रियों में सक्रिय प्राण

हैं, जो योगजन्य उषा ज्योति से एकात्मकता ग्रहण कर लेते हैं। इन्हीं 'क्षितिः'⁶⁵ और 'पञ्चक्षितिः'⁶⁶ को आत्मा रूप इन्द्र अपने ओज से प्रकाशित और शासित करता है। यही वे 'पञ्चक्षितिः मानुषीः' हो सकती हैं जिन्हें प्रतिबुद्ध करती हुई हमारी आन्तरिक उषा आविर्भूत होती है।⁶⁷

ऋ. 5.35.2 में इन्द्र के क्षितियों को प्राप्त होने वाले रक्षण (अवः) की संख्या क्रमशः चार, तीन और पाँच बतायी गई हैं।⁶⁸ यह प्रसंग परमेश्वर इन्द्र के साधकतम क्रतु की याचना (मं.1) का है। इस क्रतु के लिये उस 'वरेण्यम् वृषन्तम् अवः' (मं.3) का आवाहन किया गया है जिससे युक्त इन्द्र 'वृषजूतिः' होकर 'आभूमिः' (भूमि-पर्यन्त) जन्मता है, क्योंकि वह वस्तुतः अपने भक्तों के संसाधन के निमित्त ही वृषा (वर्षक) है और इसीलिये उसका बल (शवः) भी वर्षक (वृष्णि) रूप में प्रकट होता (मं.4) है। शतक्रतु शवस्पति इन्द्र से प्रार्थना है कि वह 'सर्वरथा' शक्ति होकर (मं.5) आये और प्रत्येक धन (धनेऽधने) के प्रसंग में हमारे रथ (अस्माकम् रथम्) की पुरंधी (पुरन्ध्या) द्वारा रक्षा (मं. 7-8) करे। अभिप्राय यह है कि 'मनुष्यरथ' की रक्षा के लिये परमेश्वर इन्द्र अपनी ब्राह्मी शक्ति के रूप में जब बहिर्मुखी वृष्टि स्थूलशरीर पर्यन्त करता है, तो उसकी शक्ति शरीर-रूप पुर को धारण करने से 'पुरंधी' और सभी बहिर्मुखी प्राणरथों को आत्मसात् करने के कारण 'सर्वरथा' कही जाती है। इस एकात्मकता को ग्रहण करने हेतु उसे विज्ञानमय से लेकर अन्नमयकोश पर्यन्त चार कोशों के लिये चार, इच्छा-क्रिया-ज्ञान-शक्तियों के रक्षार्थ तीन तथा पञ्चप्राणों की सहायतार्थ पाँच 'अवः' (रक्षण) की व्यवस्था करनी पड़ती है।

इस समस्त क्रियाकलाप की पूर्ति के लिये पूर्वोक्त 'पूरवः' प्राण हैं। अतः जब व्यक्तिगत इन्द्र (आत्मा) अपने धन को अपराजेय एवं स्वयं को मृत्यु से पृथक् रखने का संकल्प करता है, तो 'पूरवः' को सम्बोधित करते हुए कहता है कि मेरे सख्य में त्रुटि मत करना—'न मे पूरवः' सख्ये रिषाथन।⁶⁹ इन्हीं पूरवः की समष्टि का प्रतीक 'पूरणः वैश्वामित्रः' है, जो ऋ.10.160.1 में परमेश्वर इन्द्र से उसी 'सर्वरथा' रूप में होकर अपने हरिद्वय को मुक्त करने की याचना करता है जिसका पूर्वोल्लेख हो चुका है। पूरणः वैश्वामित्र के समान 'पूरवः' प्राणों की समष्टि का बोधक एक अन्य प्रतीक 'पूरुः' है, जो ऋ. 5.16-17 का ऋषि माना गया है। एक मन्त्र⁷⁰ में कहा गया है कि, 'हे देव! इस प्रकार तेजोमय अग्नि का ईडन यह 'मर्त्य पूरु' अपने सम्पन्न हुए सुऽध्वर में (आन्तरिक ध्यान-यज्ञ में) रक्षणार्थ करता है।' पूरवः प्राणों की समष्टि (पूरुः) का ध्येय आन्तरिक अग्निज्योति के बहिर्मुखी प्रवाह द्वारा स्थूलव्यक्तित्व की पूर्ति करना होता है। अतः इस बहिर्मुखी अग्नि को 'पुरुप्रिय'⁷¹ भी कहा जाता है, परन्तु साथ ही विशः (अन्तःप्रविष्ट प्राणों) से भी इस अतिथि का स्तवन करने को कहा गया है। विशः प्राण अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी उभयविध चेतना प्रवाहों से सम्बन्ध रखते हैं। इस द्विविध गति में रुचि रखने वाले व्यक्तित्व का प्रतीक 'द्वित ऋषि' है, जो सम्बन्धित सूक्त⁷² का द्रष्टा माना गया है।

वत्रि और वव्र

इस प्रकार सप्तम्युत्पत्ति के अन्तर्गत 'वव्र' नामक 'वव्र' व्यक्तित्व के शुद्धवाही स्वरूप के लिये अपने दक्ष (बल) की महत्ता से व्यापकरूपेण इन्दु (सोम)

को धारण कर लेता⁷³ है। उक्त 'पुरु' एवं 'द्वित' पक्ष के अतिरिक्त मनुष्यव्यक्तित्व का एक 'वत्रि' नामक पक्ष है जिसका प्रतीक 'वत्रि' ऋषि नाम है। यह ऋषि ऋ.5.19 वत्रि व्यक्तित्व में समन्वित ज्ञानाग्नि को भी वत्रि नाम देता है। वत्रि शब्द यद्यपि निघण्टु के रूप-नामों में पठित है, परन्तु डा. फतहसिंह इसके सजातीय वत्र को भी इसी के साथ लेते हैं जो कि निघण्टु के कूपनामों में पठित है। उनकी मान्यता है कि ये दोनों शब्द आवरणार्थक 'वृ' धातु से निष्पन्न द्विविध ज्योतिर्मय आवरण के द्योतक हैं। प्रथम आवरण तो ज्ञानाग्नि का है, जो रूपनामों में पठित वत्रि का वाच्य है, जबकि द्वितीय उदकनामों में परिगणित इन्दु-ज्योति का आवरण है जिसका द्योतक कूपनामों में पठित 'वत्र' शब्द है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं। वत्रि ऋषि के प्रस्तुत सूक्त में दोनों को ही वत्रि कहा गया है। तदनुसार वत्रि (इन्दु) की विभिन्न अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें वत्रि (अग्नि) निर्माता की गोद में देखता है।⁷⁴ ये अवस्थाएँ ही वे चेतना सम्पन्न प्राण हैं जो ज्ञानाग्नि का सर्वदा आह्वान करते हुए व्यक्तित्व तथा नृम्ण की रक्षा करते हैं और फिर दृढ़ पुरों में प्रविष्ट हो जाते हैं।⁷⁵

जन्तवः कृष्टयः

उक्त चेतनासम्पन्न प्राणों को अग्रिम मन्त्र में शुभ्र (श्वेत्रेयस्य) अग्नि का 'जन्तवः कृष्टयः' कहा गया है, जो उस 'द्युमत्' तेजस् की वृद्धि करते रहते हैं जो स्वर्ण ज्योति होने के साथ बृहत् अभिव्यक्ति और मधुवत् बल प्रदान करने वाला है⁷⁶। यह तेजस् वह हिरण्यय सोम⁷⁷ अथवा शुक्र ब्रह्मवर्चस्⁷⁸ है, जो हिरण्ययकोशीय ब्रह्मात्मसायुज्य की देन है। इसको लाने का काम उन प्राणों के उत्कर्षणापकर्षण से प्रारम्भ होता है जिन्हें 'कृष्टयः' कहा गया है। इनकी इस द्विविध कर्षण क्रिया से वत्रि में जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं वही 'जन्तवः'⁷⁹ कहलाते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सोम और अग्नि के सन्दर्भ से मनुष्य का यह वत्रि पक्ष द्विविध है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त पूरवः प्राणों के सन्दर्भ में कल्पित 'पूरु' तथा 'द्वित' पक्ष भी हैं। इन तीनों के जिन प्रतीकों को क्रमशः वत्रि, पूरु और द्वित नाम दिये गये वे सभी 'आत्रेय' कहे गये हैं, क्योंकि वे तीनों ही मूलतः मनुष्यव्यक्तित्व के उस अत्रि स्तर की शक्तियाँ हैं जिसे पहले निर्माता की गोद (मातुःउपस्थ) कहा गया है।

जन्तवः और इष आत्रेय

इस अत्रि स्तर का प्रतीक 'इष आत्रेय' भी जन्तवः से सम्बन्धित है। यह ऋ. 5.7-8 का ऋषि है। यद्यपि निघण्टु में 'इष' अन्ननामों में पठित है, परन्तु इसे गेंहू आदि अनाज का द्योतक मानना भूल होगी, क्योंकि अन्ननामों में ब्रह्म, वर्चस्, यशस्, रसः और ऊर्क् जैसे शब्द भी हैं। अतः इस प्रसंग में समाधि में ऊपर से बरसने वाली ऊर्जा को 'इष' (अन्न) कहना⁸⁰ उपयुक्त होगा। यही वे 'वयुनानि भोजनानि' हो सकते हैं जिन्हें 'पूरवः' का लक्ष्य होने के कारण 'पुरुणि' कहा गया प्रतीत होता है।⁸¹ इन्हीं को सुदास् नामक साधक व्यक्तित्व के लिये प्राप्तव्य 'सना भोजनानि'⁸² ब्रह्माग्नि अथवा 'विश्वानि भोजनानि'⁸³ माना जा सकता है।

इष आत्रेय के सूक्तानुसार⁸⁴ 'रण्याः नरः' और 'सखायः' कहलाने वाले 'मरुतः' जिस अग्नि के लिये अपना सामूहिक 'इष' और 'स्तोत्र' प्रस्तुत करते हैं — वह 'क्षितयः' नामक प्राणों के 'वर्षिष्ठ', ऊर्जा सन्तान तथा सह नामक सामूहिक बल से युक्त है (मं.1); उसको वे अज्ञात संक्रतु में, मनुष्यव्यक्तित्व रूपी नृसदन (मरुतः नरः के निवास) में उत्तरोत्तर अर्हता प्राप्त करते हुए प्रज्वलित करते हैं, तभी 'जन्तवः' प्राण उसका सञ्जन (मं.2) कर पाते हैं। संकेत यह है कि जिस प्रज्ञानाग्नि का सञ्जन 'जन्तवः' के लिये अभीष्ट है उसके लिये सर्वप्रथम मरुतः नरः को उत्तरोत्तर अर्हता प्राप्त कर पुनः उसे प्रज्वलित करना पड़ता है। यह अग्नि अपने तेजोबल से हमारे लिये जिस 'ऋतस्य रश्मिम्' का आदान करता है वही मानुषों का वह 'इष' तथा 'हव्य' प्रतीत होता है (मं. 3) जिसके परिप्रेक्ष्य में उक्त 'इष आत्रेय' की कल्पना की गई है। 'ऋतस्य रश्मि' प्रज्ञानाग्नि की वह किरण कही जा सकती है, जो हमारे आचरण को नैतिकता प्रदान करती है। जिन मरुतः नरों द्वारा (नृभिः) इसके प्रकटीकरण में उत्तरोत्तर सहयोग किया जाता है उसका नाम (नर) स्वयं 'नृ नये' से निष्पन्न है और वही मनुष्यव्यक्तित्व को 'नृसदन' बनाने के मूल में है।

जन्तवः मरुतः विशः

जन्तवः और मरुतः की यह घनिष्ठता प्रकारान्तर से विशः के संदर्भ में भी वर्णित हुई है। विशः के भीतर 'ऊँ सु' नाम से प्रख्यात जातवेदस् का आह्वान करने वाले 'जन्तवः'⁸⁵ ही हैं। विशः के अन्तर्गत वसुओं, रुद्रों, आदित्यों एवं विश्वेदेवों के अतिरिक्त मरुतः की भी गणना होती है। अतएव 'सुदानवः' मरुतों को यह दायित्व प्रदान किया जाता है कि अवतीर्ण होते हुए दैव्यजन (परब्रह्म) का यजन अग्नि और सोम दोनों करें।⁸⁶ यह दैव्यजन उस मनुष्यव्यक्तित्व के रूप में अवतीर्ण होता है जिसे 'स्वध्वरं मनुजातं जनं' कहकर अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह उसका यजन⁸⁷ करे। अन्यत्र (ऋ. 1.94.5) जन्तवः को विशः प्राणों का रक्षक (विशां गोपाः) माना गया है। इसी प्रकार, जब 'जन्तवः' को वरणीय विश्व का पोषण करने वाला कहा⁸⁸ जाता है, तो भी विशः से ही उनकी घनिष्ठता उजागर करना अभीष्ट है, क्योंकि वेद में विश्वं वस्तुतः विशः का जगत् है। 'अपां जन्तवः'⁸⁹ के रूप में यदि वे 'आपः मरुतः'⁹⁰ के रूपान्तर माने जा सकते हैं तो जातवेदस् के जन्तवः⁹¹ होकर भी वे अग्निजिह्व मरुतः⁹² का स्मरण कराते हैं।

मरुतः और जन्तवः के इस सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन तब होता है, जब मरुतः के 'जन्तु' अपने महान् ओज और तेजोमय बल द्वारा 'भीमासः तुविमन्यवः' होते हैं और तब संयम मार्ग में (यामन्) स्वर्ज्योति दर्शक (स्वर्दृक्) विश्व (विशः का जगत्) भी भयभीत होने लगता है।⁹³ उस समय अध्वा (योगमार्ग) गया हुआ सा प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी वह 'जन्तु' (जीव) का विकास करता है— यह वस्तुतः हमारी उन स्पृहणीय ऊतियों द्वारा होने वाला विकास⁹⁴ है, जो मरुतों को प्राप्त होती हैं, क्योंकि मरुतों की ऊतियों से युक्त होने पर वीर 'शतस्वी' होता है और सम्राट् वृत्रवध करता है।⁹⁵ इसका अर्थ है कि 'जन्तवः' नाम से जो प्राण निघण्टु के मनुष्यव्यक्तित्व में प्रकटित होते हैं, वे मरुतों के जन्तु (जीव) को योगाम्यास द्वारा प्राप्त होने वाली दिव्य शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा

अहंकाररूप वृत्र का वध होता है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी ज्ञात हुआ कि ये जन्तवः वस्तुतः मरुतः के ही कोई रूपान्तर (जनुः) हैं, जो जन्तु को योग द्वारा प्राप्त हुए हैं।

दूसरे शब्दों में, जिन्हें 'जन्तवः' कहा गया वे वस्तुतः जन्तु (जीव) को प्राप्त होने वाली वही दिव्य मरुतः रश्मियाँ हैं जिनसे युक्त इन्द्र मरुत्वान्, सम्राट् तथा ऊर्ती (ऊर्तियों से युक्त) कहलाता है तथा अपने सभी सुप्रसिद्ध पराक्रम करता है⁹⁶। इसका तात्पर्य है कि जीव को प्राप्त होने वाले 'जन्तवः' मूलतः परमेश्वर इन्द्र की वही 'रश्मयः' हैं जिन्हें 'मरुतः' कहा जाता है। इसी दृष्टि से, व्यष्टिगत इन्द्र को द्यु, पृथिवी तथा आपः के जन्तवः अपने में देवता इन्द्र (परमेश्वर) को धारण करने वाले कहे जाते हैं :-

मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च गमश्चापां च जन्तवः।

अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्णा ददे॥ ऋ.10.49.2

जन्तवः भी व्यष्टिगत वैकुण्ठ इन्द्र को पिता के समान (पितरं न) ही समझते हैं।⁹⁷ इन्हीं दिव्य जन्तुओं को प्राप्त करके यह व्यष्टिगत इन्द्र भी 'अहि' से गायों तथा दस्यु से 'नृम्ण' का अपहरण करने में समर्थ होता है,⁹⁸ क्योंकि उसे भी त्वष्टा तथा अन्य देवों का सहयोग प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार, यद्यपि सभी कार्य देवशक्तियाँ ही उसमें सम्पन्न करती हैं, परन्तु वे कृत (किये हुए) एवं कृत्व (करणीय) द्वारा उसी के 'दुष्टरं अनीकं' को सूर्य के समान महिमामण्डित कर देती हैं।⁹⁹ ये देवशक्तियाँ ही वे 'दिव्य जन्तु' हैं जिनके द्वारा अग्नि हमारे 'मनुस्' स्तर के यज्ञ को विस्तारित करता हुआ, धी द्वारा उसे 'पुरुपेशस्' (पुरु प्राण रूप) बनाता है।¹⁰⁰ इन्हीं के द्वारा अमर्त्य अग्नि हमारे लिये 'रायः' का विस्तार करने वाला माना जाता है।¹⁰¹

पूर्व और नूतन (जन्तु)

वेद में जन्तु (जीव) के पूर्व और नूतन दो रूप प्रतीत होते हैं, तदनुसार जीव से सम्बन्धित ऋतं आदि को भी दो रूपों में वर्णित किया गया है - उदाहरण के लिये, जब पूर्व्य ऋतम् का अन्त होने पर उसके किसी नूतन रूप को कोई (कः) धारण करने वाला कहा जाता है, तो इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि न केवल जीव का ही रूपान्तर होता है, अपितु वह ऋत के जिस रूप को धारण करता है वह भी एक नव्य रूप ग्रहण करता है।¹⁰² प्रथम रूप में सम्पादित कर्मों को 'प्रथमा कृतानि' तथा द्वितीय रूप में होने वाले नूतन कर्मों को 'मघवा' (परमेश्वर इन्द्र) द्वारा सम्पादित माना जाता है, क्योंकि तब तक अदेवी माया परास्त हो चुकती है और उसे 'केवल सोम' प्राप्त हो जाता है।¹⁰³ तब वह समस्त 'विश्वं पशव्यं' को सूर्य-चक्षु द्वारा देखने लगता है।¹⁰⁴ इसी अनुभूति की अभिव्यक्ति ऋ. 9.63.13 में इस प्रकार की गई है -

सोमो देवा न सूर्योऽद्रिभिः।

अर्थात् सोम देव के रूप में मानों सूर्य ही अभिषुत होकर देह रूपी कलश में 'रस' का आधान करता है। व्यक्तिगत इन्द्र (जन्तु) का यह योगसाधना द्वारा सम्पन्न होने वाला नूतन रूप है। इसके कर्मों को औपचारिकतावश मधवा द्वारा सम्पादित भले ही कह दिया जाय, परन्तु यह सत्य है कि कोई 'नूतन' (योगसिद्ध) व्यक्तित्व मरुत्वान् जिष्णु (परमेश्वर इन्द्र) के 'वीर्य' के समकक्ष नहीं हो सकता। उसकी समता न तो पूर्व (सहज) शक्तियाँ ही कर सकती हैं, और न 'अपर' शक्तियाँ ही।¹⁰⁵ फिर भी यह निश्चित है कि 'पूर्व' हो या 'नूतन' दोनों के 'नवेदसः' (ज्ञाता) मरुतः¹⁰⁶ ही हैं।

षड्वृक्षीया अरुन्धती

वास्तविकता यह है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार व्यक्ति और समष्टि के लिए अनेक प्रसंगों में समान शब्दावली का प्रयोग होता है, उदाहरणार्थ, समाधि के एकीभूत व्यक्तिगत इन्दु (सोमरस) को समष्टिगत इन्द्र, आयु के लिये क्षरण करने वाला 'आयुः' कहा जाता है¹⁰⁷। यही सोम कवियों की वाक् शक्ति का एक ऐसा जन्तु कहलाता है, जो प्राण देवों में धारासम्पात क्षरित होने वाला 'रत्नधा' है :-

वाचो जन्तुः कवीनां पवस्व सोम धारया ।

देवेषु रत्नधा असि ॥ ऋ. 9.67.13

यही प्रत्न (पूर्व) स्तर पर आयु इन्दु से 'आयवः इन्दवः'¹⁰⁸ होकर 'ऋतस्य योनिं' कहलाने वाले समाधि (नव) स्तर पर पंहुचता है।¹⁰⁹ साधनाजन्य व्यक्तित्व को प्लक्ष अथवा खदिर धव¹¹⁰ कहा जाता है। प्लक्ष (प्र+क्ष) का अर्थ प्रकृष्ट ऊँचाई पर स्थित। यह ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा समाधि की वह आध्यात्मिक उच्चता है जिसे प्राप्त करके वह प्लक्ष कहलाता है। परन्तु, इस ऊँचाई पर अर्जित जो शक्तिबीज व्युत्थानावस्था के सृष्टिवृक्ष के रूप में प्रकट होता है, वह अश्वत्थ वृक्ष कहलाता है क्योंकि उसके भीतर अश्व रूप प्रजापति ब्रह्म स्थित¹¹¹ रहता है, यही गीता और उपनिषदों में वर्णित ऊर्ध्वमूल अघोशाखा वाला अश्वत्थ वृक्ष है। ब्रह्म रेतस् से उत्पन्न होकर इस सृष्टि वृक्ष की ब्रह्माग्नि इसका ऊर्ध्ववर्ती मूल है और उसी की 'अग्निजिह्वा' कहलाने वाले मरुतः नामक रश्मियाँ ही शाखाएँ हैं। इसी कारण इस अश्वत्थ को 'मारुत'¹¹² अथवा 'मरुतों का ओज'¹¹³ कहा जाता है। अश्वत्थ रूप इस आध्यात्मिक सृष्टि वृक्ष द्वारा ही साधक ब्रह्मानन्द रूप सोम का खनन करता है; अतः इसका नाम 'खदिर' हुआ:-

खदिरेण ह सोममा चखाद । तस्मात्खदिरो यदेनेनाखिदत् ॥ माश.3.6.2.12

यह खनन कार्य मरुतः रूप रश्मियों द्वारा होता है। वेद में मरुतों की 'खादिनः'¹¹⁴ तथा उनके उपकरणों की 'खादयः'¹¹⁵ संज्ञा है। अथर्ववेद के रहस्यवादी 'एतश्च प्रलाप' से 'अश्वत्थो खदिरो युवा'¹¹⁶ द्वारा इसी साधक व्यक्तित्व की ओर संकेत है। ~~साधनाजन्य योग के कारण~~ ^{उस} ही विप्र अथवा 'धृज्'

कम्पने धातु से निष्पन्न धवः नाम दिया गया है और उससे उद्भूत रश्मियों के विप्राः, तथा 'धुनयः, धूतयः अथवा धवाः' नामों का प्रयोग मरुतों के लिये हुआ है। इनमें से 'धवाः' मनुष्यनामों में भी पठित है।

अथर्ववेद में साधनाजन्य उक्त रश्मियों के संदर्भ में, मनुष्यव्यक्तित्व की कल्पना क्रमशः प्लक्ष, अश्वत्थ, खदिर, धव, न्यग्रोध तथा पर्ण रूप में की गई प्रतीत होती है और उनमें 'अरुन्धती' नामक शक्ति पूर्णरूपेण स्थित होती है :-

भद्रात् प्लक्षात् निस्तिष्ठसि अश्वत्थात् खदिरात् धवात् ।

भद्रात् न्यग्रोधात् पर्णात् सा नः एहि अरुन्धति ।। शौ.5.5.5

इन छह वृक्षों को क्रमशः हिरण्यय, आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय कोशों का प्रतीक मान सकते हैं जिन पर यह क्रमशः आरोहण करती है—

वृक्षं वृक्षमारोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।

जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्पर्णी नाम वा असि ।। शौ.5.5.3

इस शक्ति को जो पीता है वह जीता है, क्योंकि वह शाश्वत युगों का भरण—पोषण करती है और नवजातों को गतिशील करती है:-

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।

भर्त्री हि शश्वतामसि जनानाम् च न्यञ्चनी ।। शौ.5.5.2

अरुन्धति का नामकरण साधनामार्ग के 'अरु' (कण्टक) के उस कर्तन के कारण हुआ है, जो क्रमशः दण्ड, इषु तथा हरस् नामों द्वारा तीन स्तरों (अन्नमय, प्राणमय और मनोमय) में कल्पित किया गया प्रतीत होता है:-

यद् दण्डेन यद् इष्वा यद् वा अरुः हरसा कृतम् ।

तस्य त्वमसि निष्कृतिः सा इमं निष्कृधि पूरुषम् ।। शौ.5.5.4

इस वैदिक अरुन्धती की तुलना कुण्डलिनी (वैदिक सर्पराज्ञी) से कर सकते हैं, जो मूलाधार से उठती हुई कही गई है और जिसके उत्थान से जीव अधिकाधिक सिद्धि सम्पन्न होता है। विभिन्न कोशों की दृष्टि से उसके अनेक रूपान्तरों की कल्पना की जाय, तो उन सबको ऋषि कहा जा सकता है। अतः जब ब्राह्मणग्रन्थों में अरुन्धती का सम्बन्ध अनेक ऋषियों से बताया जाता है¹¹⁷ तो उससे यही ऋषि अभिप्रेत हो सकते हैं। वास्तव में, अरुन्धती साधक की उत्तरोत्तर वर्धमान दक्षता¹¹⁸ है। इस शक्ति द्वारा 'वस्तूतमः' होने वाले प्राण (आत्मा) को जब वसिष्ठ कहा गया¹¹⁹ तो उस पौराणिक कल्पना को आधार मिल गया जिसके अनुसार अरुन्धती वसिष्ठ—पत्नी बनी।

मरुतों की ऋष्टि

अरुन्धति की तुलना उस ब्राह्मी शक्ति से की जा सकती है, जो सभी प्रकार के मरुतों की ऋष्टि रूप में कल्पित होकर सभावती विदथ्या वाक् अथवा 'साधारणी' के समान कही जाती है।¹²⁰ इसी शक्ति को इन्द्राणी और सरस्वती के रूप में भी मान सकते हैं। ये दोनों ही 'मरुत्सखा'¹²¹ मानी गई हैं। यही वह रोदसी देवी हो सकती है, जो मरुतों के मध्य (मरुत्सु) स्थित अथवा उनकी निजी दीप्ति (स्वशोचिः) कही जाती है।¹²² ब्राह्मी ऋष्टि सभी मरुतों में 'साधारणी' होने के कारण ही वे (मरुद्गण) सर्व ऋष्टि-विद्युतः कवयः वेधसः हैं और 'मारुद्-गण' को ऋषि के लिये रमणीय विज्ञानगिरा द्वारा नमस्य माना जाता है।¹²³ जिस प्रकार पूर्वोक्त अरुन्धति प्रत्येक वृक्ष पर आरोहण करती कही गयी है उसी प्रकार मरुतों की यह साधारणी ऋष्टि भी मरुतों के प्रत्येक शर्ध, व्रात तथा गण में विद्यमान होती है जिसकी प्राप्ति के लिये साधक को भी ध्यान-प्रक्रियाओं द्वारा (धीतिभिः) क्रमशः आरोहण करना पड़ता है :-

शर्धशर्ध व एषां व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः ।

अनु क्रामेम धीतिभिः ॥ ऋ. 5.53.11

प्रत्येक आरोहण प्रयास अथवा अनुक्रमण में साधक को मरुतों का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह 'स्थानाम् शर्धम् त्वेषम्' तथा 'नव्यसीनाम् मारुतं गणं' के रूप में कल्पित हुआ है।¹²⁴ परन्तु, उसका जो स्वरूप सर्वाधिक स्पृहणीय है उसका नाम 'व्रात' है, क्योंकि वह जीव का ब्रह्मानन्द रूप सोम का व्रती रूप है।¹²⁵ जीव के इस व्रात रूप में, पञ्चज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध मरुतों को 'पञ्चव्रातः अपस्यवः' कहा जाता है, जो विज्ञानमयकोश में 'सबन्धवः' होकर विज्ञान-गिरा द्वारा धारक आनन्द-सोम के परिष्कार में समर्थ होते हैं।¹²⁶ उनके इस सामर्थ्य का कारण उनका वह संकल्प है, जो उन्होंने दिव्य कर्म¹²⁷ (अपः) करने के लिये किया है, इसीलिए उनकी 'अपस्यवः' संज्ञा हुई। यह 'व्रातः' ही निघण्टु के मनुष्यनामानि में परिगणित मनुष्यप्राण है, जो जीव को 'व्रात' अथवा ब्रह्मानन्द (सोम) का व्रती बनाने में समर्थ होते हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा क्रमशः अग्नि का तेजस् और मरुतों का ओज उनके प्रत्येक व्रात तथा प्रत्येक गण में बढ़ता जाता है।¹²⁸ अन्त में वे 'वृष्टयः मरुतः' होकर ब्रह्मानन्द रस (सोम) की वृष्टि करने लगते हैं।¹²⁹ इस वृष्टि का पात्र जो पूर्वोक्त 'सुदास्'¹³⁰ है, वही इस प्रसंग में ऊपर 'जीव व्रात' रूप में माना गया है।

व्रत्याः और सोम

इस प्रकार, यहाँ सुदास् अथवा 'जीव' को सोमव्रती बनाने में मरुतों की जो भूमिका प्रतीत होती है उसका एक सुन्दर प्रसंग ऋ. 8.48 में प्राप्त होता है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही अमृता मरुतों के लिये 'विश्वेदेवा' कहकर तथा मर्य, मर्त्य और मर्त मरुतों के प्रति, 'मर्तासः' का प्रयोग करके सभी मरुतों को 'स्वादु' (सोम) से जोड़ते हुए उन्हें 'मधु ब्रुवन्तः' कहकर उनके सोमानसक रूप को वरीयता प्रदान की गई है। द्वितीय मन्त्र में, बिखरे हुए बहिर्मुखी मर्त्य-मरुतों से अन्तर्मुखी

होकर 'अदिति' (अखण्डित) रूप ग्रहण करने के लिये आग्रह किया गया है। तत्पश्चात् दैव्यकोप (हरस) का निवारण करने एवं इन्दु से परमेश्वर इन्द्र का सख्य प्राप्त करने का अनुरोध किया गया है। तृतीय मन्त्र में बतलाया गया है कि सोमपान करने से अमृत हुआ जा सकता है और ज्योति प्राप्त करके देवों तक पहुँचा जा सकता है। चतुर्थ मन्त्र में सोम से प्रार्थना है कि वह हमारे हृदय को शान्ति दे और सच्चे जीवन के लिये हमारी आयु का विस्तार करे। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रार्थना किसी भौतिक पेय के लिये नहीं, अपितु ब्रह्मानन्द रूप सोम से की गई है। जो मनुष्य को भ्रष्ट चरित्र से बचाने वाला तथा व्याधि से रक्षा करने वाला है और ऐसा करने के लिये वह शरीर के पर्व-पर्व में प्रविष्ट कर जाता है।¹³¹ सोम पूर्वोक्त 'इष' नामक दिव्य अन्न की ओर उन्मुख मन द्वारा अभिषुत किया हुआ वर्णित है।¹³² इसके द्वारा सभी 'अमीबा' (रोग) तथा तामसी विकार नष्ट होकर आयु का विस्तार होता है।¹³³ सोम ही शरीर का रक्षक है, जो अंग-अंग में आसीन होकर तथा 'नृचक्षा' बनकर यह भी देखता है कि हम किन व्रतों को तोड़ रहे हैं।¹³⁴

अतः सोम राजा से प्रार्थना है कि जो सोम के 'व्रत्याः' (व्रती) हैं उन पर वह दया करे और स्वस्ति प्रदान करे, अहंकारवश बल और मनु भी शत्रुवत् कार्य करने लगता है; इसीलिये इन्दु सोम से निवेदन¹³⁵ है कि वह हमें इन शत्रुओं की इच्छा पर न छोड़े, अपितु हमारे हृदयों में प्रविष्ट वह अमर्त्य सोम हमारे सभी मर्त्यप्राणों में भी सर्वत्र प्रवेश करे, जिससे रक्षक देवशक्तियाँ हमारा मार्गदर्शन करें तथा हमें न निद्रा अभिभूत करे और न प्रलाप। अन्त में, ब्रह्मानन्दरूप इन्दु से प्रार्थना है¹³⁶ कि हमारे लिये वयोध, स्वर्विद तथा नृचक्षा होकर दिव्य रक्षणोपायों द्वारा (ऊतिभिः) आगे पीछे (पश्चातादुत वा पुरस्तात्) सर्वत्र हमारी रक्षा करे। सोम को वयोधा तथा स्वर्विद कहकर ब्रह्मानन्द को 'वयः' नामक दिव्य अन्न तथा स्वः नामक दिव्य ज्योति का स्रोत स्वीकार किया गया है, जबकि नृचक्षा से अभिप्रेत है कि नरः (नृ का ब.व.) मरुतः ही उसके चक्षु स्वरूप माने जाते हैं। इसका अर्थ है जब हम सोम के 'व्रत्याः' बन जाते हैं तो हमारी 'नरः मरुतः' नामक आन्तरिक रश्मियाँ प्रज्ञाननेत्र बन जाती हैं। मरुतों का यही महत्त्व स्वीकार करके प्रस्तुत सूक्त का प्रारम्भ विश्वेदेवा मर्त्यासः (मरुतः) के उल्लेख से हुआ।

उक्त निष्कर्ष की पुष्टि, नवम मण्डल के सोम सूक्तों से भी होती है। नृचक्षसः, सुदृशः, स्वञ्चः, अद्रुह, इषिरासः तथा कवयः मनीषिणः कहलाने वाले रुद्रासः मरुतः ही 'वितत सहस्रधार पवित्र' में 'वाक्' शक्ति को शुद्ध करते हैं।¹³⁷ साथ ही, यह भी रहस्योद्घाटन किया गया है कि उक्त 'पवित्र' वस्तुतः ऋतस्य तन्तुर्विततः¹³⁸ है जिसे समेटने वाले 'धीराः मरुतः' हैं, जबकि ऋतस्य गोपा (सोम) हृदय के भीतर 'त्री पवित्रा' को धारण करता हुआ 'अव्रतान्' को नष्ट करने वाला कहा गया है।¹³⁹ ये मरुतः ही वे 'नृचक्षसः पितरः' हैं जो सोम को गर्भ रूप में धारण करते हैं।¹⁴⁰ अतः कोई आश्चर्य नहीं कि मरुतः इन्दु पवमान को व्याप्त करने वाले अथवा उसके रस को पीने वाले कहे जायें¹⁴¹ तथा 'पवमानाः' (सोम बिन्दवः) को 'मरुत्तन्तः' के ही जलाने वाले मरुतः के आदेश पर प्रादुर्भात होते हुए ब्रह्मानन्द रूप 'शिशु' का मार्जन तथा अलंकरण करते हैं।¹⁴³ जब पवमान ऋतं बृहत् शुक्रं

ज्योतिः' को जन्म देता है और उसकी अन्धकार-विनाशक चन्द्रधाराओं की सृष्टि हो जाती है, तब तो उसे उन शुभ्र-धाराओं के कारण 'शुभ्रस्तमः हरिश्चन्द्रः मरुद्गण' ही घोषित किया जाता है।¹⁴⁴

इस प्रकार, जब सोम और मरुद्गण के तादात्म्य अथवा अन्योन्याश्रयत्व की निश्चित अवधारणा प्राप्त होती है, तो स्वीकार करना ही होगा कि आध्यात्मिक साधना के किसी स्तर पर मरुतः तथा ब्रह्मानन्द रूप सोम का वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि सूर्य रश्मियों का सूर्य से होता है अतः जिन नरों द्वारा नियम्यमान होता हुआ सोम इन्द्र की कुक्षि में पहुँचता है,¹⁴⁵ उन्हें भी नरः मरुतः मानना होगा। इन्हीं नरों से नियम्यमान स्वर्विद् सोम जायमान होता है;¹⁴⁶ अतः वह इन्हीं के द्वारा अभिषुत¹⁴⁷ अथवा नियन्त्रित (यतः)¹⁴⁸ माना जाता है। अतः यह भी विचारणीय हो जाता है कि पुनः पुनः ऋत बृहत् तथा 'विचक्षणः' कहा जाने वाला 'समुद्रियः राजा' (सोम) जब इन नरों द्वारा नियमित होता हुआ (येमानः) कहलाता है, तो वह जिस समुद्र में ऊर्मि द्वारा तैरता है और मित्रावरुण के धर्म द्वारा गतिशील¹⁴⁹ होता है, वह समुद्र 'ब्रह्म' ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब 'जागुविः' सोम को अपनी बाढ़ के साथ मधुश्चुतकोश की ओर गतिशील कहा जाता है,¹⁵⁰ तो क्या उसे हिरण्यकोश से आनन्दमयकोश में प्रवाहित होने वाले ब्रह्मानन्द रस के रूप में नहीं माना जा सकता? साथ ही, उस रहस्यमय 'ऊधः दिव्यं मधुप्रियं सधस्थम् आपृच्छयम् धरुणम्' को क्यों न 'ब्रह्मात्मसायुज्य' वाला हिरण्यकोश माना जाये जिसका दोहन करता हुआ तथा उक्त नरों द्वारा कम्पित (धूतः) होता हुआ 'विचक्षणम् सोम' गतिशील होता है;¹⁵¹ जबकि पूर्वमन्त्र में उसे 'उत्सो देवः हिरण्ययः'¹⁵² कहा गया है।

कृशानु अस्ता

वास्तव में, जो इन्दु सोम इन्द्र के लिये सहस्रधार होकर गतिशील¹⁵³ होता है उसे वह 'पूर्व्यः' सोम राजा मानना होगा जो उत्तरोत्तर 'पूयमान' होकर ब्रह्म के लिये 'गातुं' (योगमार्ग) प्राप्त करता है।¹⁵⁴ यह साधक का भक्तिरस रूप सोम है, परन्तु इसके अतिरिक्त एक 'उपर' सोम भी है जिसे श्येन हिरण्यकोश रूप द्यौ से मथकर प्राप्त करता है और फिर द्विविध सोम का मिश्रण करके भयभीत हुए मनस् के माध्यम से नीचे लाता है।¹⁵⁵ तभी हमारे 'पूर्वासः उपरासः इन्दवः' प्रभूत बल के निमित्त (महे वाजाय) नानात्व प्राप्त ब्रह्म के प्रत्येक स्वरूप ब्रह्म-ब्रह्म की सेवा अलग-अलग हवि रूप ग्रहण करके करते हैं।¹⁵⁶ इसका अर्थ यह हो सकता है कि समाधि के पश्चात् व्युत्थान की अवस्था में आनन्दरस मन के द्वारा अत्यन्त वेग के साथ सहस्रधार होकर एकाएक बरसता है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों किसी सोमरक्षक कृशानु अस्ता (धनुर्धारी) ने श्येन पर तीर चलाया हो।¹⁵⁷

कृशानु अस्ता की कल्पना यद्यपि श्येन द्वारा स्वर्गस्थ सोम या अमृत लाने के प्रसंग में पुनःपुनः आती है परन्तु विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया कि यह कृशानु एक होते हुए भी किसी 'सधस्थ' में अनेक 'अस्तृन्' के रूप में कल्पित 'रुद्रेषु रुद्र रुद्रियं' भी कहा जा सकता है।¹⁵⁸ अतः यह कहना असंगत न होगा कि ये अनेक तीरन्दाजों के रूप में सोम नरः मरुतः नरः ह, जो इसी प्रसंग में न

केवल इषु (तीर) धारण करने वाले 'अस्तारः'¹⁵⁹ हैं, अपितु 'रुद्रस्य मर्याः असुराः अरेपसः'¹⁶⁰ तथा 'युवानो रुद्रः'¹⁶¹ भी कहे गये हैं। ऋ.1.64.12 में 'रुद्रस्य सूनूं मारुतं गणम्' के उल्लेख द्वारा जहाँ एक 'कृशानु' की ओर संकेत कर दिया गया, वहीं इस गण में सम्मिलित अनेक मरुतों की चर्चा भी रक्षकों के रूप में कर दी गई है।¹⁶² अगले मन्त्र में¹⁶³ एक 'द्युमन्तं शुष्मं' तथा 'विश्वचर्षणि' का भी उल्लेख है जिसे प्रदान करने के लिये मरुतों से प्रार्थना की गई है। यह शुष्म वस्तुतः वह पवमान सोम ही है जिसे 'विश्वचर्षणे' कहकर सम्बोधित किया गया है और सखाओं (मरुतों) द्वारा ईड्य¹⁶⁴ कहा गया है तथा स्वयं पवमान सोम को मरुद्गण ही कह दिया गया।¹⁶⁵

अतः निष्कर्षतः यह कहना सम्भव है कि निघण्टु के मनुष्यनामों में परिगणित रुद्राः, विशः, हरयः आदि नामों से मरुतः नामक प्राण ही अभिप्रेत हैं, जो मर्त्याः एवं अमृताः भेद से सामान्यतः द्विविध होते हुए भी अनेक प्रकार के हैं और वही अपने उत्कृष्टतम गण-रूप में उस सोम पवमान का रूप ग्रहण करते हैं, जो हिरण्यकोश में 'उत्सो देवो हिरण्ययः' कहलाता है, जबकि निम्नतर स्तर में वही अनेक रश्मियों के रूप में प्रकट होता है; अतः ऊपर सोम के जिन व्रतों के प्रसंग में 'व्रत्याः' होने का प्रसंग आया, वह वस्तुतः 'पवमान मरुद्गण' के रूप में कल्पित वही ज्योतिर्मय ब्रह्मानन्दरस है, जिसकी अनुभूति साधक को समाधि में होती है और व्युत्थान अवस्था में वह उसका उपयोग अपने जीवन के लिये करता है।

सन्दर्भ

1. द्र. सा. भा. ऋ. 1.86
2. वही
3. निघण्टु के रश्मिनामों में पठित।
4. ऋ. 6.49.15; 7.31.10 आदि
5. ऋ. 4.38.9
6. ऋ. 2.2.10
7. ऋ. 5.86.2
8. ऋ. 1.59.7
9. ऋ. 1.27.9
10. द्र. तारानाथकृत 'वाचस्पत्यम्' में चर्षणि शब्द
11. ऋ. 3.26.5
12. ऋ. 10.92.6
13. ऋ. 3.55.22; तु. आपो वै मरुतः। ऐ. 6.30; आपो ओषधयः। मै.स. 2.5.4
14. ऋ. 10. 87. 1-3
15. ऋ. 10. 87. 4-25
16. ऋ. 8. 1. 2
17. ऋ. 9. 81. 2
18. ऋ. 9.67.25

- 19 ऋ. 9.24.4
- 20 ऋ. 7.94.7
- 21 तैसं 1.2.4.2; मैसं. 1.2.4; काठ. 2.5; क 1.10; माश. 3.2.4.16-17
- 22 इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुति इत्येतानि ते अघ्निये नामानि तैसं. 7.1.6.8; तु. माश. 4.5.8.10
- 23 त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्पसि। त्वां हि ष्वा चर्षणयो यज्ञेभिः गीर्भिरीडते॥ त्वां वाजी यात्यवृको रजस्तूर्विश्वचर्षणि। ऋ. 6.2.1-2; तु. 8.23. 1-2
- 24 पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण। उषाः सूर्यो न रश्मिभिः। ऋ. 9.41.5
- 25 ऋ. 9.66.1
- 26 ऋ. 8.17.7
- 27 ऋ. 8.17.9
- 28 ऋ. 3.2.15
- 29 ऋ. 2.31.3
- 30 भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्। ऋ. 10.50.4
- 31 तु. सा. भा. ऋ. 1.109. 5
- 32 पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार आनन्दमयकोश में स्थित जातवेदस्, वस्तुतः इन्द्र, अग्नि और सोम की संयुक्त इकाई है।
- 33 निघण्टु के मेघनामों में पठित।
- 34 ऋ. 1.46.4, वेद में कुट तथा कूट दोनों रूप प्राप्त होते हैं।
- 35 ऋ. 8.35.13-15
- 36 ऋ. 1.109.3
- 37 ऋ. 1.20.3-4
- 38 ऋ. 8.35.22-24
- 39 ऋ. 10.102.4
- 40 ऋ. 10.102.1
- 41 उत स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं अस्या अधिरथं यदजयत् सहस्रम्। रथीरभून्मुदगलानी गविष्ठौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना॥ ऋ. 10. 102 .2
- 42 ऋ. 10.103
- 43 'गृध्' अभिकाङ्क्षायाम् + 'मद्' हर्षग्लेपनयोः से व्युत्पन्न।
- 44 अयं सुतः सुमख मा मृधस्कः। ऋ. 2.18.4
- 45 मम ब्रह्मेन्द्र याहि अच्छा विश्वा हरी धुरि धिष्वा रथस्य। ऋ. 2.18.7
- 46 वही 2-6
- 47 द्र. सा. भा. 2.12
- 48 ऋ. 4.18.13
- 49 जै. 2.194; व्यानो वामदेव्यम्। जै. 2.194
- 50 वामदेव्यम् अमृतलोकः स्वर्गलोकः। ऐ. 3.46
- 51 ऋ. 4.27.1
- 52 ऋ. 4.26.1
- 53 क्रतूयन्ति क्षितयो योगे उग्राऽऽशुषाणासो मिथो अर्णसातो। सं यद् विशोऽववृत्रन्त युध्मा आदिन्नेमे इन्द्रयन्ते अभीके॥ ऋ. 4.24.4
- 54 ऋ. 1.5. 2

- 55 ऋ. 1.5 .3
 56 ऋ. 1.5 .4
 57 ऋ. 5. 37.4
 58 ऋ. 5. 37.5
 59 ऋ. 1.65.3
 60 ऋ. 4.5.15
 61 ऋ. 1.151.3-4
 62 ऋ. 7.65.2
 63 ऋ. 6.65.1
 64 ऋ. 6.75.4
 65 ऋ. 8.6.26
 66 ऋ. 1.7. 9
 67 ऋ. 7.79.1
 68 यदिन्द्र ते चतस्रो यच्छूर सन्ति तिस्रः। यद् वा पञ्च क्षितीनामवस्तत् सु न आ
 भर॥ ऋ. 5.35. 2
 69 ऋ. 10.48.5
 70 ऋ. 5.17.1
 71 ऋ. 5.18.1
 72 ऋ. 5.18.2
 73 वही
 74 ऋ. 5.19.1
 75 ऋ. 5.19.2
 76 ऋ. 5.19.3
 77 ऋ. 9.107.4; 85.11 आदि
 78 सोमो वै शुक्रो ब्रह्मवर्चसम्। मैसं. 1.6.8
 79 तु. अभि अवस्थाः प्रजायन्ते वद्रेः। ऋ. 5.19.1
 80 वर्ष वा इषे, यदुपरिष्ठाद् वर्षस्यैधते तदूर्जे। जै. 1.80.88
 81 पुरुणि यत्र ययुनानि भोजना। ऋ. 10.44.7
 82 ऋ. 7.19.6
 83 ऋ. 7.18.15
 84 ऋ. 5.7
 85 ऋ. 1.45.5-6
 86 अर्वाञ्च दैव्यं जनमग्ने यक्ष्व सहृतिभिः। ऋ. 1.45.10
 87 ऋ. 1.45.1
 88 ऋ. 1.81.9
 89 ऋ. 10.49.2
 90 आपो वै मरुतः। ऐ. 6.30; कौ. 12.8; माश. 6.4.1.9
 91 ऋ. 5. 7 .2
 92 ऋ. 1.44.14; 89.7; 3.54.10
 93 ऋ. 7.58.2
 94 वही, 3
 95 वही, 4

- 96 मरुत्वान् नो भवत्विन्द्र ऊती । ऋ. 1.100.1-15
 97 माम् हवन्ते पितरं न जन्तवः । ऋ. 10.48.1
 98 ऋ. 10.48.2
 99 वही, 3
 100 अग्निर्देवेभिर्मनुषश्च जन्तुभिस्तन्वानो यज्ञं पुरुपेशसं धिया । ऋ. 3.3.6
 101 ऋ. 10.140.4
 102 ऋ. 1.105.4
 103 प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्रनूतना मघवा या चकार । यदेददेवीरसहिष्ट माया
 अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥ ऋ. 7.98.5
 104 ऋ. 7.98.6
 105 ऋ. 5.42.6
 106 ऋ. 5.55.8
 107 ऋ. 9.67.8
 108 ऋ. 9.64.12
 109 वही 11
 110 शौ. 5. 5. 5
 111 प्रजापतिः—अश्वो रूपं कृत्वा अश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत् तदश्वत्थस्य अश्वत्थत्वम् ।
 तै. 3.8.12.2
 112 मारुतो अश्वत्थः । तै. 3.5.7
 113 मरुतां वा एतदोजः यदश्वत्थः । तै. 2.3.1.5-6
 114 ऋ. 2.34.2
 115 ऋ. 5.53.4
 116 शौ. 20.131.14
 117 ऋषीणामरुन्धती । तैआ. 3.9.2
 118 दक्षिणाऽरुन्धती । काठ. 37.10
 119 यदवस्तृतमो वसति तेन एव वसिष्ठः । माश. 8.1.1.6
 120 ऋ. 1.167.3-4
 121 ऋ. 10.86.9; 7.96.2
 122 ऋ. 5.56.8 ; 6.66.6
 123 ऋ. 5.52.13
 124 ऋ. 5.53.10
 125 पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातं सचेमहि । ऋ. 10.57.5
 वयं—सोम व्रते तव मनस्तनुषु विभ्रतः । प्रजावन्तः सचेमहि । ऋ. 10.57.6
 126 ऋ. 9.14.2
 127 तु. ऋ. 1.110.1
 128 ऋ. 3.26.6
 129 तु. ऋ. 5.53.6
 130 ऋ. 5.53.2
 131 ऋ. 8.48.5
 132 वही, 7
 133 वही, 11
 134 वही, 9

- 135 वही.12-14
 136 वही.15
 137 सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः । रुद्रास एषाभिषिरासो
 अद्रुहः स्पशः स्वञ्चसुदृशो नृचक्षसः ॥ ऋ. 9.73.7
 138 ऋ. 9.73.9
 139 ऋ. 9.73.8
 140 ऋ. 9.83.8
 141 ऋ. 9.51.3
 142 ऋ. 9.107.25
 143 शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन । ऋ.9.96.17
 144 ऋ. 9.66.24-26
 145 ऋ. 9.109.18
 146 वही 8
 147 ऋ. 9.109.15
 148 ऋ. 9.108.15
 149 ऋ. 9.107.15-16
 150 ऋ. 9.107.6
 151 ऋ. 9.107.5
 152 ऋ. 9.107.4
 153 ऋ. 9.96.9
 154 ऋ. 9.96.10
 155 ऋ. 9.77.2
 156 ऋ. 9.77.3
 157 ऋ. 9.77.2 में 'कृशानो अस्तुः मनसा विभ्युषा' कहकर इसी ओर संकेत किया
 गया है ।
 158 ऋ. 10.64.8
 159 ऋ. 1.64.10
 160 ऋ. 1.64.2
 161 वही 3
 162 वही 13
 163 वही 14
 164 ऋ. 9.66.1
 165 पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः । हरिश्चन्द्रो मरुद्रगणः ॥ ऋ. 9.66.

षष्ठ अध्याय

अन्तर्जगत् की प्राणसृष्टि और जिष्णुयोग

चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में 'प्राणाः वै विश्वेदेवाः' और 'मनुष्याः वै विश्वेदेवाः' जैसे ब्राह्मणवचनों को देखकर यह सम्भावना व्यक्त की गई थी कि निघण्टु के मनुष्यनामानि में परिगणित सभी शब्द प्राणवाचक हो सकते हैं। उन नामों की विवेचना-सरणि में अग्रसर होते हुए हमारी इस सम्भावना की पुष्टि होती रही, अन्त में निष्कर्ष यह प्राप्त हुआ कि इन नामों में पठित 'व्राताः' पद से व्रत को पूर्ण करने वाले मरुतः अभिप्रेत हैं, जो मनुष्यव्यक्तित्व को 'एक व्रात्य' नामक योगनिष्ठ स्वरूप प्रदान करते हैं। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में जो बाधक प्राण हैं उन्हीं को द्रुह्यवः तथा पूतनाः कहा गया है। इन के अतिरिक्त यदवः, तुर्वशः जैसे प्राण सहयोगी तथा विरोधी प्राणों के मध्यवर्ती माने जा सकते हैं। इसका अर्थ है कि मनुष्यव्यक्तित्व को उत्थान-पतन और सामान्य (मध्य) स्थिति में रखने में प्राण-तत्त्व की महती भूमिका है। सम्भवतः, इसीलिए वैदिक साहित्य में प्राणविद्या को अत्यन्त महनीय स्थान प्रदान किया गया है।

अथर्ववेद का प्राणसूक्त

इस दिशा में शौनकसंहिता का प्राण-सूक्त¹ हमें संक्षिप्त, परन्तु मूल्यवान् सूचना प्रदान करता है। इस सूक्त के अनुसार प्राण मूलतः एक व्यापक तत्त्व है, जिसके वश में 'इदं सर्वम्' है और जो सबका ईश्वर है।² यही प्राण 'मातरिश्वा-वात' कहलाता है जिसके भीतर भूत और भव्य सभी कुछ प्रतिष्ठित रहता है।³ जो इस प्राण को जानता है वही उस तत्त्व को भी जानता है जिसमें प्राण प्रतिष्ठित है; उसे समस्त प्राण उत्तम लोक में भेंट पहुँचाते हैं।⁴ यह चेष्टाशील विश्व का विश्वजन्मा-प्राण⁵ तथा चेष्टायुक्त सर्व का सर्वजन्मा प्राण कहा जाता है।⁶ यह (प्राण) प्राणापानों के रूप में द्विविध गति करता है।⁷ महत्, अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के अष्टक को मनुष्यव्यक्तित्व की परिधि के भीतर एकनेमि, अष्टाचक्रं के रूप में गतिशील माना गया है। इस दृष्टि से वह प्राण अष्टविध है, परन्तु वही समष्टि की दृष्टि से 'सहस्राक्षरम्' भी; यह अपने अर्धभाग से विश्व को उत्पन्न करता है, जबकि शेषार्ध में एक अज्ञात रहस्य है।

प्राण का यह अज्ञात और रहस्यमय अर्धभाग ही पूर्वोक्त उत्तमलोक में स्थित वह तत्त्व प्रतीत होता है जिसको नानारूपात्मक अधोवर्ती प्राण अपनी भेंट देने वाले कहे गये हैं।⁸ इस उत्तम लोकवासी प्राण के जो अनेक रूपान्तर हैं उन्हीं को लक्ष्य करके 'प्राणाः रश्मयः'⁹ कथन प्रचलित हुआ। इन्हीं प्राणरश्मियों के सन्दर्भ में उनके स्रोतस्वरूप प्राण को वेद में सूर्य, चन्द्रमा, सविता आदि के रूप में कल्पित किया गया है।¹⁰ आत्मा अथवा परमात्मा स्वयं को जिस शक्ति द्वारा नाना रूप में अभिव्यक्त करता है उसे वाक् कहते हैं और जो 'प्राणानामुत्तमा ज्योतिः' कहलाती है।¹¹ इसी दृष्टि से वाक् का ऋ. 10.125 में वर्णित सर्वशक्तिमान् स्वरूप योग्यमान् के अन्तर्गत है, जिसके अनुसार वह रुद्रों, आदित्यों, विश्वदेवों जैसे देवगणों के अतिरिक्त मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी और अश्विनौ

जैसे देवयुग्मों के द्वारा सक्रिय की गई वर्णित हुई है। मैत्रायणीसंहिता वाक् को 'जन्मना वशा' गाय कहती है, जिसने प्राण को गर्भ रूप में धारण किया था।¹² अथर्ववेद का वशा सूक्त भी इसी वाक् रूप वशा को सविस्तार प्रस्तुत करता है।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार प्राण ही वह "कः" नामक प्रजापति है जिसको ऋ.10.121 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की टेक से युक्त दस मन्त्रों में नानारूपात्मक सृष्टि का आदिसृष्टा घोषित करता है। अथर्ववेद सहित अनेक संहिताओं एवं ब्राह्मणों ने प्राण के इसी स्वरूप को सृष्टि का मूलस्रोत स्वीकार किया है।¹³ यह प्राणरूप कः प्रजापति ही वह ब्रह्म है जिससे प्रजाओं का जन्म माना जाता है।¹⁴ 'तद् यद् वै ब्रह्म स प्राणः' की उक्ति भी प्राण, प्रजापति और ब्रह्म के समीकरण की पुष्टि करती है।¹⁵

इस प्रकार सृष्टिकर्ता प्रजापति अथवा ब्रह्मा प्राण से होने वाली सृष्टि का मूलाधार एक अतिमानसिक तत्त्व से प्रसूत अनेकता की मनोवैज्ञानिकता है। अतः उसे मानवव्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक विकास के सन्दर्भ में ही समझना होगा। मनुष्य का अतिमानसिक स्तर एकत्व से जिस अनेकत्व की ओर अग्रसर होता है वही वेद में वर्णित सृष्टि है। व्यक्तिगत पुरुष की यह सृष्टि ब्रह्माण्डीय पुरुष-सृष्टि का लघु संस्करण है। अतएव भारतीय (वैदिक) सृष्टि-विद्या का विवेचन मानव व्यक्तित्व में होने वाली सृष्टि के माध्यम से प्रारम्भ होता है। अतः उसके लिये सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि जिन भौतिक प्रतीकों का प्रयोग होता है उन्हें मूलतः मानव व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की उक्ति इसी ओर संकेत करती है कि व्यक्तिगत सृष्टि से जो ज्ञान प्राप्त हो उसके आलोक में ही वेदोक्त विज्ञान को समझने का प्रयास उचित होगा। इस दृष्टि से वैदिक ग्रन्थों के सृष्टि-वर्णन वेदार्थ के लिये उत्तम साधन बन सकते हैं।

गोपथब्राह्मण का सृष्टि-वर्णन

इस प्रसंग में गोपथब्राह्मण का सृष्टि-वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।¹⁶ तदनुसार, मानव के भीतर देशकालातीत चेतना की अग्रभूमि में एकमात्र ब्रह्म ही था। उसने स्वयं को 'महद् यक्षम्' के रूप में देखा, तो अपने समान 'द्वितीय यक्ष' को उत्पन्न करने के लिये उसने तप प्रारम्भ किया। द्वितीय यक्ष का नाम सुवेद है जिसे परोक्षवादी दृष्टि से 'स्वेद' भी कहा गया, जिसका अभिधामूलक प्रत्यक्ष अर्थ पसीना है, परन्तु वेद की देवदृष्टि इस अभिधा अर्थ को स्वीकार नहीं करती उसे तो प्रत्यक्ष की ओट में छिपे हुए परोक्ष अर्थ की ही अपेक्षा है जिसका बोध 'सुवेद' से होता है। अतः गोपथ में जिन स्वेदप्रवाहों के लिये बहुवचनान्त 'धाराः', 'जाया' और 'आपः' नाम दिये गए, वे वस्तुतः 'सुवेद' नामक 'सु' का वेदन कराने वाली चेतना की धारायें हैं।

उत्सर्गबहुवचनान्त रूपों में वे 'आपः' जिसका अर्थ 'प्रवाह' ही है। अतः, जब आपः को आद्या सृष्टि माना गया तो अभिप्राय उन्हीं प्राणों से होता है जिन्हें गोपथ

ने 'सुवेद' नामक चेतना की धारार्ये माना है। ऋग्वेद के अनुसार यह सुवेद¹⁷ वस्तुतः 'गुहाहित' प्रथम¹⁸ अग्नि है जिसे इन्द्र मनुष्य के 'मर्त्य'¹⁹ स्तर तक पहुँचाकर उसे ब्रह्म के लिये 'आयु' रूप मनुष्य की सुवेदना-रूप गाय²⁰ बना देता है जिसके फलस्वरूप गणपति इन्द्र समस्त गणों में आसीन होकर कवियों में विप्रतम कहलाता है :-

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।

न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्क मधवञ्चित्रमर्च ॥ ऋ.10.112.9

इस प्रकार मर्त्यस्तर पर उक्त सुवेद अथवा सुवेदना को जो अनेकता ग्रहण करनी पड़ती है उसी को अनेक 'सुवेद' वस्तुओं का आविष्कार कहा जाता है।²¹ अतः एक से अनेक होने वाला प्राणरूप 'आपः'²² उस वेद से भी तुलनीय है, जो मनुष्य के अन्तस्तमकोश से उद्भरित होकर मर्त्यस्तर पर 'इष्टकर्म' में अभिव्यक्त होता है।²³

गोपथब्राह्मण में सुवेद के रूपान्तर स्वरूप उक्त आपः शान्त और अशान्त भेद से दो रूप ग्रहण करते हैं। शान्ताः आपः में निहित 'ब्रह्मवीर्य' भृगु प्राण के रूप में उद्भूत होता है जबकि अशान्तः आपः में गिरकर वही शान्त समुद्र को आवृत कर लेता है। शान्त स्तर पर सुवेद को ब्रह्मवेद कह सकते हैं, तो अशान्त स्तर पर उसे अथर्ववेद कहा जा सकता है। गोपथीय सृष्टि वर्णन में शान्तपक्ष के सन्दर्भ में जिस प्राण-पुरुष को भृगु कहा गया है उसकी तुलना 'चेतनम्'²⁴ 'भृगवाणम्'²⁵ अग्नि से की जा सकती है। गोपथब्राह्मण²⁶ में भृगु के वायु, मातरिश्वा, पवमान और वात नामक चार पक्ष माने गये हैं, साथ ही कहा गया है कि शान्त पक्ष की सृष्टि में अहं की अनुभूति नहीं होती — न नु अविदमहम् इति। अतः इसको पूर्वोक्त अहमुत्तरत्व पक्ष कह सकते हैं, जबकि अशान्त पक्ष को अहम् पक्ष कह सकते हैं जो मनोमय की नानारूपात्मक सृष्टि करने में सक्षम है।

मनोमय-सृष्टि से पूर्व बीस आथर्वण ऋषियों और बीस आथर्वण वेदमन्त्रों के द्वारा आथर्वण वेदसृष्टि का उल्लेख है जिसे 'ऊर्ध्वमक्षरं मनः' भी कहा गया है। इसमें 'ओम्' नामक महाव्याहृति²⁷ अथवा विज्ञानमय की समनी शक्ति का निवास है, जो मनोमयादि सृष्टि के लिये तत्पर है। आनन्दमयकोश में जहाँ अहमुत्तर और अहम् पक्ष अभिन्नरूपेण एकत्व सम्पन्न हो जाते हैं वहीं विज्ञानमय के स्तर पर उसका उन्नती शक्तियुक्त पक्ष चिरशान्ति के लिये लालायित होता है और समनी शक्ति सम्पन्न द्वितीय पक्ष सतत अशान्तिमय परिवर्तन के लिये प्रयत्नशील रहता है। ये दोनों पक्ष मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों के स्तर पर परस्पर स्पर्धा में रत रहते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रथम स्तर शान्त आपः का प्रतीक है, तो द्वितीय अशान्त आपः का सूचक है।

यद्यपि, विज्ञानमयस्तर पर दोनों पक्ष समन्वित साम्यावस्था में होते हैं, परन्तु मनोमय स्तर पर अहंकार के उदित होने से अज्ञानान्धकार की महानिशा व्याप्त हो जाती है जिसे ऋ. 1.32.10 में 'दीर्घतमः' रूप वृत्र कहा गया है। अहंकार रूप में वृत्र के प्रभाव से दिव्य-स्वः नामक ज्योति सर्वथा लुप्त हो जाती है उसकी

पुनः सृष्टि के लिये प्रजापति उस महाव्याहृति को जन्म देता है जिसे पहले 'ऊर्ध्व मनःअक्षरम्' कहा गया है। इसके पश्चात् अन्नमय (पृथिवी), प्राणमय (अन्तरिक्ष) और मनोमय (द्यौ) में क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य तथा उनसे सम्बन्धित ऋक्, यजु और साम सहित भूः, भुवः एवं स्वः नामक व्याहृतियों का प्रादुर्भाव होता है।²⁸

वेद और महाव्याहृति

इस वांछित सृष्टि की प्राप्ति तभी होती है जब अशान्त आपः रूप समुद्र भगवान् का राजा के रूप में 'वरण' होता है। अशान्त आपः रूप समुद्र से मुक्त होने के कारण वरुण को ही 'मुञ्च' धातु से निष्पन्न 'मुच्यु' नाम दिया जाता है और उसी को परोक्ष रूप से मृत्यु भी कहा जाता है। मृत्यु के अंगों से जो रस निस्सृत हुआ उसे अंगों के सम्बन्ध से अंगिरा कहा गया। अंगिरा से बीस आंगिरस और बीस आर्षेय आंगिरस उत्पन्न हुए। इन्हीं के मन्त्रों से आंगिरस वेद बना, जिससे 'जनत्' नामक महाव्याहृति उद्भूत हुई। तब अंगिरा ने प्राची, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशाओं के दर्शन किये और उनकी सहायता से निम्नलिखित पञ्चवेदों और उनकी पञ्च महाव्याहृतियों को जन्म दिया—

पञ्चवेद	पञ्च महाव्याहृति
1. सर्पवेद	वर्धत्
2. पिशाचवेद	करत्
3. असुरवेद	गुहत्
4. इतिहासवेद	महत्
5. पुराणवेद	तत्

इसी प्रसंग में गोपथब्राह्मण²⁹ आवत् और परावत् नामक द्विविध आपः से 'शम्' नामक 'ऊर्ध्व अक्षर' तत्त्व के जन्म का उल्लेख करता है। उसी से उपर्युक्त 'तत्' नामक महाव्याहृति का उद्भव बताया गया है। तत्पश्चात् मन से चन्द्रमा, नखों से नक्षत्र, लोमों से औषधि, वनस्पतियाँ एवं दृक्षु नामक प्राणों से देवों का जन्म होता है, तभी त्रिवृत्, सप्ततन्तु एवं एकविंशत् संस्था वाला यज्ञ अस्तित्व में आता है।³⁰ शम् सहित उक्त पञ्च व्याहृतियों के उद्भव के पश्चात् ब्रह्म पुष्कर में ब्रह्मा को जन्म देता है, जो ओम् नामक एकाक्षर ऋक् को उत्पन्न करता है।³¹ यह एकाक्षर (ओम्) ऋक् में ऋक्, यजुः में यजुः, साम में साम, सूत्र में सूत्र, ब्राह्मण में ब्राह्मण, श्लोक में श्लोक और प्रणव में प्रणव कहा गया है।³²

वेदों और व्याहृतियों का मनोविज्ञान

उपर्युक्त सृष्टि वर्णन में वेदों और उनकी महाव्याहृतियों का उल्लेख और उनका 'प्राणाः आपः' के रूप में सम्बन्ध उनके मनोवैज्ञानिक स्वरूप की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। इस संकेत को हम तभी ग्रहण कर सकते हैं जब सुप्रसिद्ध 'आपो वै प्राणाः'³³ की उक्ति को ध्यान में रखें। इन आपः के समान प्राणों को भी 'इदं सर्वम्' को व्याप्त करने वाला कहा जाता है। यही प्राण रूप आपः विज्ञानमय की ऊर्ध्वमुखी उन्नमनी शक्ति द्वारा आनन्दमय में शान्त होने का प्रयत्न करते हैं, तो

समनी शक्ति द्वारा मनोमय में अशान्त रूप ग्रहण करते हैं। मनोमय में वे शरीरकेन्द्रित अहंकार रूप अहि (वृत्र) को वरण करके अशान्त विषधर होते हैं; परन्तु जब भगवान् को वरण करते³⁵ हैं तो 'वरण' नाम ग्रहण करने वाले आपः परोक्ष दृष्टि से वरुण कहलाते हैं। सत्यानृतविवेकी वरुण रूप में वे अपने अशान्त रूप से मुक्त हो गये (अमुञ्चत); अतः उन्हें 'मुच्यु' नाम दिया गया। परोक्षरूपेण यही मुच्यु, मृत्यु हो गया। इस अद्भुत निर्वचन से मनोमय आपः (प्राणः) की वह अवस्था अभिप्रेत है जहाँ मनोमय की अशान्तावस्था से उनको मुक्ति प्राप्त होती है। इसे ही एक अन्य आख्यान में 'मनोनाश' अथवा 'विनशन' भी कहा गया है जहाँ मनु घोर अशान्त जल-प्लावन³⁶ से पार होकर शान्त, शीतल हिमालय पर अपनी नौका ठहराते हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्ति अशान्त स्तर को पार करके शान्त स्तर का स्पर्श करता है।

उक्त परिवर्तन तभी सम्भव है जब पूर्वोक्त अशान्त आपः का वरुण शान्त आपः के भृगु अग्नि को वारुणि (वरुण-शिष्य) बना लेता है और स्वयं, मनोमय से लेकर अन्नमय तक के समस्त अंगों के रसों (अगिरस प्राणों) को अपना अंगभूत करके तथा उन सबको अपनी राति (देन) प्रदान कर 'अगिरा' (राति दान करने वाला अंगी) उपाधि ग्रहण करता है।³⁷

इस घटना के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को गोपथ ने सर्पवेदादि वेदों एवं वर्धत् आदि व्याहृतियों के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है। अगिरा 'शम्' की राति को जिन विभिन्न स्तरों पर पहुँचाता है उसी स्तर का वृत्र, स्वरूप परिवर्तन से वारुण (विवेकशील) वृत्त हो जाता है, फलतः जो वृत्तियाँ पहले अशान्ति का कारण थीं उनका सदुपयोग अब शान्ति सम्पादन में होने लगता है। इसीलिये उन वृत्तियों को अब वेद कहा जाता है। जो पहले विष उगलने वाला क्रोध रूप सर्प था वही अब शुभ की रक्षा के लिये अशुभद्वेष्टा बनकर हास के स्थान पर वृद्धि का कारण बनता है, सर्पवेद की 'वर्धत्' व्याहृति का यही संकेत है। पेश (रूप) लोभी कामरूप पिशाच अब मांसल भोगों की लोलुपता छोड़कर सुन्दर कृतियों के निर्माण में लग जाता है, इसीलिये पिशाचवेद की व्याहृति को 'करत्' संज्ञा प्राप्त हुई। 'असु' का लोभी स्वार्थवादी भौतिकबल अब परपीडन के स्थान पर आध्यात्मिक 'रोहण' के लिये प्रयुक्त होने लगता है, अतः असुरवेद की 'रुहत्' व्याहृति है। इतिहासप्रेमी अन्धरुद्धिवाद अब अहंवादी स्थूल दृष्टि को त्यागकर विवेकशील इतिहास प्रेम में अहंता के स्थान पर महत्ता का पोषक होता है। इसी दृष्टि से इतिहासवेद की व्याहृति 'महत्' नाम धारण करती है। शरीररूपी पुर के 'अन' (प्राण) का प्रेमी भौतिकवाद अब अध्यात्मवाद में परिवर्तित होकर शारीरिक प्राण बल को 'तत् सत्यम्' के अन्वेषण में लगाता है। अतः अब वह पुराणवेद कहलाता है और उसकी व्याहृति 'तत्' नाम से अभिव्यक्त हुई है। इस प्रकार अशान्त आपः में 'तत्' नामक व्याहृति के अवतरण में 'शम्' नामक व्याहृति की ही मुख्य भूमिका है।

पञ्चव्याहृतियों के रूप में शम् का अधिकाधिक प्रसार होने के परिणाम — स्वरूप सहस्रार रूप पुष्कर में ब्रह्म अपने ज्येष्ठ³⁸ पुत्र 'ओम्' को जन्म देता है। यही एकाक्षर तत्त्व अथवा एकाक्षर मन्त्र ब्रह्म नामक व्याहृति है। इसे ही ज्येष्ठ³⁹ प्राण भी कहा जाता है। यही ब्रह्मवेद का आथर्वण

शुक्र है जिससे सभी मन्त्र प्रादुर्भूत होते हैं।⁴⁰ इसी को एक ऐसी ऋक् कहा गया है, जो मानव व्यक्तित्व में स्थित यज्ञ के आगे, पीछे, विश्वतः और सर्वतः युक्त होकर उसे विस्तार प्रदान करती है।⁴¹ ऋग्वेद के अनुसार⁴² इसी ऋक् के अक्षर में सभी विश्वेदेवाः समासीन होते हैं।

प्राणरूप देव

उक्त विश्वेदेवाः⁴³ अनेक प्राण ही कहे गये हैं। प्राण रूप आपः को भी 'वैश्वदेवीः'⁴⁴ कहा जाता है। प्राण रूप आपः की केन्द्रीभूत स्थिति का नाम 'विश्'⁴⁵ भी है। विश् ही नानात्व ग्रहण करके 'विशो वै विश्वेदेवा'⁴⁶ की उक्ति का सृजन करती है। उससे वे पाँच देवगण प्रादुर्भूत माने गये हैं जिन्हें वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवा और मरुतः कहा गया है⁴⁷। इनमें से मरुतः 'स्वापयः प्राणः'⁴⁸ कहे जाते हैं। स्वापयः का अर्थ है सु से सम्बन्धित प्राण। इसीलिये मरुतों को देवों का अपराजित-आयतन⁴⁹ कहा गया है। आदित्यों को भी प्राण कहा जाता है⁵⁰, क्योंकि वे सर्व का आदान करते हैं। आत्मा सहित दस प्राणों को ग्यारह रुद्रों के रूप में स्वीकार किया गया है। ये प्राण वसु नामक आध्यात्मिक धन का आदान प्रदान करते हैं अतः 'प्राणाः वै वसवः' की उक्ति प्रचलित हुई। इस प्रकार उपर्युक्त पाँच देवगण तो निस्संदेह प्राण ही सिद्ध हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त 'द्रविणोदाः देवाः' (मैसं. 3.2.1), आपात्याः देवाः (मै. 3.2.1; तै. 3.8.17.5); धिष्याः देवाः (माश. 7. 1.1.24); मनोजाताः देवाः (काठ. 23.5) मनोजाताः, मनोयुजः देवाः (तैसं. 6.1.4.5; काठ. 23.5); मरीचिपाः देवाः (काठ. 27.1) तथा वयोनाधाः देवाः (माश. 8.2.2.8) को भी यत्र तत्र 'प्राणाः' कहा गया है। साध्याः (माश. 10.2.2.3) और स्वभवसः (तैसं. 6.4.5.5) देव भी प्राण ही कहे गये हैं। एक स्थान पर माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण सभी प्राणों को देव ही मानता है।

कतिपय देवयुग्मों को भी प्राणवर्ग में ही स्वीकार किया गया है; यथा प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां. 6.10.5; तै. 3.3.6.9), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (काठ. 29. 1; 30.3; जैब्रा. 1.374) अश्विनौ को भी प्राणापानौ कहा गया है, मित्रावरुणौ जिसके अपरपाद हैं अश्विनौ उसी के दो पूर्वपाद हैं (तै.आ. 2.19.2)। जैमिनीयब्राह्मण⁵¹ के अनुसार द्यावापृथिवी, अहोरात्र आदि प्राणापानौ का ही रूपान्तर है। इसके अतिरिक्त प्राण को पृथक्तया वायु (माश. 8.4.1.8), वैश्वानर (काठ. 27.1), बृहस्पति (माश. 14.4.1.22); ब्रह्मणस्पति (माश. 14.4.1.23), सोम (कौ. 9.6; माश. 7.3.1.2); मित्र (तै. 5.3.4.2), सविता (गो. 1.1.33; माश. 12.9.1.2.16), वरुण (गो. 2.4.11) और वात (माश. 5.2.4.9) कहा गया है। 'धर्मधृत्'⁵² उपाधि धारण करने वाले सोम, इन्द्र, वरुण, मित्र और अग्नि को भी प्राण कहा गया है। ब्रह्म और प्रजापति के साथ प्राण का समीकरण पहले ही बताया जा चुका है।

अब यह शंका उद्भूत होती है कि क्या प्राण ही वह एक 'सत्' है जिसका विप्र अनेकधा वर्णन करते हुए कहे गये हैं?⁵³ क्या प्राण ही सब देवों का 'नामधा' एक देव है?⁵⁴ क्या प्राण ही वह अग्नि, सूर्य अथवा उषा है जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'।⁵⁵ इन समस्त प्रश्नों का उत्तर अथर्ववेद 11.6 (20.22) का निम्नलिखित उक्त्यादिबन्ध देता है।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥

मनुष्यव्यक्तित्व की परिधि के भीतर चलने वाले प्राणचक्र का अर्धभाग 'सहस्राक्षर' सहस्राक्षरचक्र पर केन्द्रित हो परोक्ष ही रहता है। उसी का अष्टविध रूप महत्, अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के स्तर पर प्रत्यक्ष होने वाला द्वितीय पुरोवर्ती अर्ध समस्त मानसिक 'विश्व भुवन' की सृष्टि कर देता है, जबकि प्रथमार्ध पश्चाद्वर्ती परोक्ष ही रहता है। उसी को लक्ष्य करके प्रश्न है— 'कतमः सः केतुः'?

अद्वैत सलिलम्

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सहस्राक्षर स्तर पर ब्रह्म और आत्मा की शक्ति सहस्रवर्ण करती है। अतः वही ब्रह्मात्म-सायुज्य का शान्त 'सलिल' नामक स्तर है। आत्मा इस स्तर पर ब्रह्मसायुज्य रखते हुए भी उक्त अष्टविध प्राणचक्र के रूप में इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक नानात्व को जन्म देता है। आत्मा की इसी द्विविध सत्ता को लक्ष्य कर आत्मा रूप हंस के दो पादों की कल्पना की गई है जिनमें से एक सदा उक्त 'सलिल' में ही रहता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलात् हंस उच्चरन् ।

यदङ्ग सतमुत्खिदेन्नेवाद्य न श्वः स्यात्

न रात्री नाहः स्यान् वयुच्छेत् कदाचन ॥

शौ.11.6(4).21

ब्रह्मात्म सायुज्य के स्तर के लिये जलवाचक 'सलिलम्' का प्रयोग वस्तुतः 'प्राणो वा आपः' की उक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। प्राण रूपी अनेक आपः प्रारम्भ में 'सलिल' रूप में एक ही थे — आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्⁵⁶ यह सलिल रूप आपः ही इच्छा करते हैं कि किसी प्रकार प्रजनन (प्रजायेमही) होना चाहिये।⁵⁷ सलिल रूप आपः (प्राणाः) ही पुष्करपर्ण पर उद्भूत प्रजापति है, जो चिन्ता करता है कि सृष्टि कैसे हो,⁵⁸ जबकि आपः (सलिल का अनेकतामय रूप) को ही 'पुष्करपर्ण'⁵⁹ कहा जाता है। सलिल रूप से स्थित प्राणों रूपी आपः को परम स्थान में स्थित होने से परमेष्ठी प्रजापति कहा गया है,⁶⁰ जबकि नानात्वमय 'आपः' उस प्रजापति का 'सर्वता तनू'⁶¹ है।

प्राणों रूपी आपः की सलिलावस्था निश्चय ही नानात्व का आदिस्रोत है। यह प्रसिद्ध नासदीय सूक्त में 'अप्रकेत सलिलं सर्वम् आ इदम्' कहकर वर्णित हुआ है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार, यहाँ प्रयुक्त 'आः' उस तत्त्व का बोधक है जहाँ से सब आते हैं और जहाँ सब जाते हैं।⁶² ऋग्वेद 10.129.3 में सलिल शब्द का निर्वचन 'षल्' धातु से करते हुए सायण ने भी उसे समस्त दृश्यमान जगत् के उस 'अविभागापन्नम्' अवस्था का द्योतक माना है, जो अपने कारण से संगत (कारणेन संगतम्) हो रहा है। यही वह आदि सलिल⁶³ है जिससे अनेक 'सलिलानि' (आपः प्राणाः) की सृष्टि होती है और यह सृष्टि करने वाली वाक् वही है, जो 'प्राणानाम् उत्तमा' कहलाती है। सलिलानि की सृष्टि करके वह सलिल⁶⁴ को जगती है, क्योंकि उक्त सृष्टि का अर्थ है वाक् (मूल प्रकृति) द्वारा अपने मूल पद के अतिरिक्त महत्,

अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के उन अष्टपदों को भी अस्तित्व सम्पन्न करना जो पूर्वोक्त अष्टविध प्राणचक्र के रूप में वर्णित हो चुके हैं।

प्राणदृष्टि का त्रिविध रूप

इसी प्रकार वेद की एक प्राणदृष्टि का उल्लेख बृहद्देवताकार वेदमन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द के प्रसंग में करता है।⁶⁵ यहाँ ऋषि, देवता आदि के साथ योग का उल्लेख एक विशेष महत्त्व रखता है। इसकी महत्ता वेदव्याख्या के लिये भी है, क्योंकि वेदमन्त्रों में निहित तत्त्वज्ञान, ऋषि देवता और छन्दविज्ञान के बिना बोधगम्य नहीं माना गया। इसीलिये प्रत्येक सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द का उल्लेख करने की परम्परा रही है। स्वयं बृहद्देवताकार ने मन्त्रों के तत्त्वबोधार्थ विनियोगों के साथ-साथ योग, दक्षता, दम, बुद्धि, बाहुश्रुत्य और तप को भी उपयोगी मानते हुए कहा है—

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।

उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता या ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्।

यजूषि यो वेद स वेद यज्ञान् सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम्॥ बृ.8.130

दूसरे शब्दों में, वेद मन्त्रों के तत्त्व को हृदयंगम करने के लिये उनका पाठ अथवा यज्ञ में विनियोग कर लेना आवश्यक नहीं, अपितु बुद्धिपूर्वक योगसाधना रूप तप अत्यन्तावश्यक है, क्योंकि अन्ततोगत्वा वेदविज्ञान का लक्ष्य साधक को उस 'विश्वेशं ज्योतिरुत्तमम्' की उपलब्धि कराना है जिसे सत् और असत् की ब्रह्मातृ स्वरूप 'ध्रुवयोनि' कहा गया है।

ऋषिं च प्रथमं ब्रूयात् छन्दस्तु तदनन्तरम्।

देवतामथ मन्त्राणां कर्मसु एवमिति श्रुतिः॥

आधारं वाप्यनाधारं विविच्यात्मानमात्मनि।

ईक्षमाणो ह्युभौ सन्धिं ऋचो दैवतवित् पठेत्॥

स ब्रह्मातृमत्पन्तं योनिं सदसतो ध्रुवम्।

महच्चाणु च विश्वेशं विशति ज्योतिरुत्तमम्॥ बृ.8.134-140

इसका अर्थ है कि बृहद्देवता जिस ऋषि, देवता और छन्दविज्ञान की चर्चा करता है वह ध्यानयोग एवं समाधि द्वारा उस 'ब्रह्मातृ' का आस्वादन कराने में समर्थ है, जो आधार सहित एवं निराधार दोनों ही प्रकार से प्राप्य है। आधार से तात्पर्य सम्भवतः यज्ञाग्नि अथवा उस दीपशिखा से है जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता था। यही आधारपूर्वक योग कालान्तर से मूर्तिपूजा में परिवर्तित हो गया। इसके साथ बृहद्देवता ने जिस निराधार उपासना का उल्लेख किया उसी को बाद में 'सूक्ष्म ध्यान' की संज्ञा प्राप्त हुई। इसी ओर संकेत करते हुए घेरण्ड-संहिता में कहा गया है :-

स्थूलं, ज्योतिः तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।

स्थूलमूर्तिमयं प्रोक्तम्, ज्योतिःतेजामयं तथा ॥

सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म, कुण्डली पर देवता ॥

घेसं.5.57

अस्तु, ऋषि-देवता-छन्द विज्ञान की पूर्वोक्त प्राणदृष्टि पर बृहद्देवताकार द्वारा बल देने का यही प्रयोजन हो सकता है कि वह उक्त योग के लिए योगपूर्वक प्राणदृष्टि को उपयोगी मानता है। पातंजलियोग, हठयोग आदि में इसे प्राणायाम के रूप में स्वीकार किया गया है। प्राणायाम का अर्थ मात्र पूरक, कुम्भक और रेचक ही नहीं, अपितु उसके द्वारा मन को ऊर्ध्वमुख करके 'मनोन्मनी' द्वारा चित्त में 'आनन्द' की स्थिति का सृजन करना है :-

प्राणायामात् शक्तिबोधः प्राणायामात् मनोन्मनी।

आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्॥

घेसं. 5.57

परन्तु ऋषि, देवता और छन्द में प्राणदृष्टि रखकर वेदमन्त्रों का अध्ययन, अध्यापन या साधना में उपयोग हो सकता है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक किसी न किसी प्राण का वादक है। इस प्रसंग में, यह तो निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में सुरक्षित परम्परा ने, न केवल देवों और देवताओं को, अपितु ऋषि और छन्दों को भी प्राण माना है। प्रश्न है कि 'कौन-सी एक देवता है? उत्तर मिलता है—'प्राण'।⁶⁶ श्रोत्र, मन आदि इन्द्रिय देवता इसी प्राण देवता को अयाचित ही बलि भेंट करती⁶⁷ हैं और ऐतरेयारण्यक के अनुसार, वे पहले प्राणापानौ में निविष्ट होती हैं और तत्पश्चात् उसी प्राण देवता में लीन हो जाती है।⁶⁸ मैत्रायणी संहिता और काठकसंहिता प्राणों को ही देवता मानती है।⁶⁹ इसी प्रकार 'प्राणा वा ऋषयः'⁷⁰ की घोषणा अनेक बार ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त होती है। छन्दों के विषय में इन ग्रन्थों का मत है कि अनुष्टुप् छन्द को तो 'वाक्' समझना चाहिये और इतर सभी छन्द प्राण के प्रतीक हैं—'प्राणा वा एतानि इतराणि छन्दांसि, वागनुष्टुप्'।⁷¹ कौषीतकी ब्राह्मण⁷² 'प्राणा वै छन्दांसि' दोहराता रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणग्रन्थ भी वाक् को समस्त प्राणों में उत्तम⁷³, प्राणों का रस⁷⁴ तथा वाक् में ही सभी प्राण प्रतिष्ठित⁷⁵ मानते हैं।

ऋषि-देवता-छन्द-विज्ञान और योग

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद में ऋषि, देवता और छन्द मूलतः प्राणों के द्योतक हैं। बृहद्देवता इन तीनों के साथ ही जिस योग को आवश्यक मानता है वह है :- स्वयं में आत्मा का विवेचन करके (विविच्य आत्मानमात्मनि) ब्रह्मामृत की प्राप्ति। श्वेताश्वतरोपनिषद्⁷⁶ भी लगभग इसी प्रकार के ध्यानयोगानुगता साधना को स्वीकार करता है। आधुनिक युग में महर्षि रमण ने भी अपने भीतर ही आत्मा रूप 'मैं' के अन्वेषण को योग माना है। इस जिज्ञासा में अवश्य ही, प्राण-व्यापार त्रिविध हो जाता है। इनमें से प्रथम को आन्तरिक दर्शन का प्रयास कह सकते हैं जिसका संपादन ऋषिप्राण करते हैं। द्वितीय वह प्रकाशन है जिसे देवप्राण करते हैं। प्रथम में दैहिक आत्मा के स्तर से अज्ञात अशरीरी प्रज्ञानात्मा की ओर आरोहण का प्रयास होता है। जिस अनुपात में यह प्रयास होता है उसी अनुपात में प्रज्ञानात्मा की प्राणरश्मियाँ द्योतनकार्य करती हैं। अतः उन्हें देव कहा जाता है।

इस आरोहावरोह के परिणामस्वरूप उद्भूत होने वाले अज्ञान की निवृत्ति होती है, तो आनन्दरश्मियों का प्रवाह निस्सृत होने लगता है। इन्हीं प्राणरश्मियों को 'छन्दांसि' कहा जाता है, क्योंकि वे 'छन्दन' (आह्लादन) करते हैं अथवा छादन करते हैं।⁷⁷ छन्दों में ज्योति भी होती है।⁷⁸ वे देवगृह भी कहे गये⁷⁹ हैं अथवा देव उनमें प्रवेश करके या उनसे आच्छादित होकर निर्भय होते माने गये हैं।⁸⁰ ऋषि, देवता और छन्द में से प्रत्येक अन्ततोगत्वा एकत्व प्राप्त करता है। छन्दों का एकत्व 'अतिच्छन्दा' के रूप में होता है, जो सभी छन्दों का छादन करता है।⁸¹ इसी प्रकार, एकर्षि की भी कल्पना मिलती है। एकर्षि गोतम की उपासना पराञ्चः और अर्वाञ्चः ऋषयः करते हैं जो स्वयं गोतम एकर्षि से उत्पन्न हैं⁸² — 'तत् ये घ ह वै गोतमात् ऋषयः पराञ्चो ये अर्वाञ्चश्च ते गोतममेव ऋषिमुभयम् उपारते।' देव अथवा देवता कहे जाने वाले प्राण भी इसी प्रकार एक ही ब्रह्म के रूपान्तर हैं। ब्रह्म—वाचक ओम् से उत्पन्न शक्ति का नाम 'ओज' है। इसी ओज से युक्त होकर जन्मे इन्द्राग्नी 'ओजिष्ठौ, बलिष्ठौ सहिष्ठौ' कहे जाते हैं।⁸³ इन्हीं दोनों से युक्त सभी देवता हैं⁸⁴ — अग्निमनु अन्याः देवताः इन्द्रम् अन्याः। इन सब देवताओं के मूल में प्राण देवता है⁸⁵ — 'क्तमैका देवता प्राण इति'।

सभी देवता मानव—व्यक्तित्व में मानसिक और अतिमानसिक स्तर पर दो भिन्न प्रकार से कार्यरत माने गये हैं। मानसिक स्तर को 'मनुष्य-धुर' कहा जाता है, तो अतिमानसिक स्तर (आपः) को 'देवधुर' माना जाता है।⁸⁶ इन दोनों का सन्धान हिरण्यकोश में होता⁸⁷ है। ऋषिप्राणों के समान देवताप्राणों की भी पराक् और अर्वाक् गति होती है जिसके कारण वे अतिमानसिक जगत् में 'प्राणोदानौ इन्द्राग्नी' कहे जाते हैं तो मानसिक स्तर पर 'प्राणापानौ इन्द्राग्नी'।⁸⁸ प्राणोदानौ के अन्तर्गत वायु, मातरिश्वा, पवमान और वात नामक प्राण देवताओं का समावेश होता है;⁸⁹ जबकि प्राणापानौ के अन्तर्गत जिन प्राणों की गणना होती है उन्हें चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक् कहा जाता है।⁹⁰ प्राणोदानौ ओर प्राणापानौ में से प्रत्येक के लिये मित्रावरुणौ का प्रयोग भी होता है।⁹¹

मानव व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर सभी प्राणदेवता अपनी जिस ज्योति का प्रसार कर अहंकार रूप वृत्रजनिता अंधकार को दूर करते हैं उसमें ऋषि—प्राणों और छन्द—प्राणों का भी योग रहता है। ऋषि—गण को अपने संकट निवारण में देवों की सहायता अपरिहार्य है, इसीलिए वेदमन्त्रों में वे प्रायः देवों से सख्य, ऊति, जूति आदि की याचना करते हैं। देव भी भिन्न—भिन्न प्रकार से उनकी सहायता करते हुए बताये गये हैं। वस्तुतः प्रत्येक देवता मूल देव के किसी न किसी गुण अथवा देवत्व को ग्रहण करके ही देवता कहलाता है। अतः प्रत्येक देवता के रूप में उसी एक देव के किसी भी गुण अथवा देवत्व की कल्पना की जाती है। बृहद्देवताकार ने जब ऋषि, देवता और छन्द के साथ योग को जानने की आवश्यकता बताई⁹² तो उसका मन्तव्य यह हो सकता है कि योग में तीनों का सम्मिलित प्रयास एक ही लक्ष्य की ओर चलता है; कहा जाता है कि जब ऋषि और देवता छन्दों के साथ उस लक्ष्य की ओर दौड़े तो छन्द दोनों के मध्य में थे।

संग्राम, सहयोग और समन्वययोग

छन्द के सन्दर्भ से देवों और असुरों के पारस्परिक विरोध की भी कल्पना की गई, क्योंकि छन्दों का एक स्तर ऐसा है जहाँ पर वे दोनों संग्रामरत माने गये हैं⁹³। इस युद्ध का कारण दोनों के बीच स्थित साधनों की विषमता प्रतीत होती है। देवों के पास अल्प धन और असुरों के पास अपार धन;⁹⁴ देवों के छन्द अति छोटे तो असुरों के बहुत बड़े;⁹⁵ देव दीन-हीन और पराजित मन वाले, असुर अत्यधिक बलवान् और अपराजित मन वाले;⁹⁶ असुर अधिक मनस्वी तो देव मनस्विता रहित;⁹⁷ देवों के पास केवल 'चक्रम्' है जिसके द्वारा श्वासोच्छ्वास, निमेषोन्मेष, रक्तसंचारादि का चक्र चलता रहता है, परन्तु असुरों के पास छाल अथवा जाल है, जो इच्छाओं, विचारों और क्रियाओं से अभिव्यक्त होने वाले असुर प्राणों के महाजाल के रूप में छाया हुआ होने के कारण छाल कहलाता है।⁹⁸ इस प्रकार पृथ्वी (अन्नमय), अन्तरिक्ष (प्राणमय) और आकाश (मनोमय) लोकों पर असुरों का शासन होता है, जहाँ वे अपने पुरों का निर्माण कर लेते हैं⁹⁹ और तमः (इच्छा शक्ति) और माया (निर्माण शक्ति) पर असुरों का आधिपत्य रहता है।¹⁰⁰

अन्यत्र, इस संग्राम के स्थान पर देवों और असुरों में एक स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता की कल्पना भी की गई है, तदनुसार देव और असुर यज्ञ में समान रूप से प्रवृत्त होते हैं,¹⁰¹ जो देव कहते हैं वही असुर करते हैं।¹⁰² यह देवासुर सहयोग पुराणों के अमृतमन्थन में भी प्राप्त होता है। गोपथ के सृष्टिवर्णन में अशान्त आपः के समुद्र पर वरुण का आधिपत्य होना और सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद एवं पुराणवेद द्वारा निरन्तर 'शम्' का उपार्जन करते हुए 'तत्' व्याहृति की ओर अग्रसर होना सम्भवतः इसी सहयोग का परिणाम है। इस सहयोग की परिणति समन्वययोग में उस समय होती है जब उपर्युक्त सहयोग से प्राप्त होने वाले अनेक लघु साम (समन्वय) स्वतः प्रादुर्भूत होने लगते हैं और अन्ततोगत्वा वे उस 'यौधाजय' नामक साम को प्राप्त करते हैं जिसका लय 'ओम्' में होता है। इसे ही साम साम¹⁰³ अथवा पूर्ण समन्वय कहा जाता है। इस प्रकार, जो मानव-व्यक्तित्व, अहंकार रूप वृत्र के नेतृत्व में काम-क्रोधादि अनेक वृत्रों द्वारा एक संग्राम-स्थल बन गया था वेद में उसी को पूर्ण समन्वित रूप देने का नाम योग है। इसी को जिष्णु-योग कहते हैं। काव्यमयी भाषा में, यही वृत्र-वध या इन्द्रविजय है, परन्तु इस प्रसंग में वस्तुतः कोई हिंसा नहीं होती, केवल भ्रातृव्य (शत्रु) भ्राता और सहयोगी बनकर योग-समन्वय की स्थापना में सहभागी बनता है।

उत्तरोत्तर योग-प्रयास

वैदिक मन्त्रों में, इसी योग के लिये उत्तरोत्तर प्रयास की शिक्षा द्वारा पुरुष की विविध शक्तियों (तोकं तनयं) पर सुशासन करने का उपाय बताया है।¹⁰⁴ प्रत्येक ऐसे प्रयास में वाज (आध्यात्मिक बल) की उपलब्धि होती है, परन्तु साथ ही अधिकाधिक बलवान् (तवस्तर) होने की धुन लगी रहती है।¹⁰⁵ इस प्रयास का निम्नतम स्तर वह है जिसमें प्रारम्भिक रूप से वाज और तवस्तर के अन्तर्गत अपने असुरत्व को सर्पवेद में परिवर्तित कर देते हैं। इसी परिवर्तन को ऋग्वेद 10,96 में अर्बुदः

काद्रवेयः सर्पः नामक ऋषि अभिव्यक्त करता है। इससे निम्न स्तरों पर घटित होने वाले परिवर्तन की संज्ञा 'युग' है। क्षेम के इच्छुक 'ध्रुवाः पितरः' (मानव की सहजवृत्तियाँ) प्रत्येक युग में (युगे युगे) किसी सदस् के सदस्यों के समान युक्त होते हैं (युञ्जते)। हरि नामक शुद्ध सोम के सेवनकर्ता 'हरिषाचः'¹⁰⁶ कहे जाते हैं। यह वस्तुतः 'मनुष्य ध्रु' नामक मानसिक स्तर की दौड़ है जिसकी परिणति उस देवध्रु स्तर में होती है जहाँ इन्द्र (आत्मा) मानवव्यक्तित्व को 'समिति' (समत्व, साम) प्रदान करके योग और क्षेम को सदा के लिये निश्चित कर देता है, साथ ही निम्न प्रवृत्तियों से स्पष्ट कह देता है कि अब तुम उदक के मण्डूकों की तरह ऐसे ही बोलते रहो।¹⁰⁷

उक्त हरि नामक सोम देने वाली 'समिति' नामक इस स्थिति को हरियोग¹⁰⁸ नाम दिया जाता है। यह हिरण्यकोश के हिरण्य से सम्बद्ध मानी गई है। हिरण्यय पुरुष रूप आदित्यरश्मियों को ही सैकड़ों और सहस्रों 'हरयः' के रूप में कल्पित किया गया है।¹⁰⁹ वे सभी अन्ततोगत्वा हरियोग में युक्त हो जाते हैं। यही वह 'हारियोजनम्' नामक दिव्यगृह, पात्र, कोश अथवा सोम कहलाता है जिसके लिये पूर्वोक्त सर्पवेद के स्तर से प्रारम्भ हुई साधना विभिन्न युगों (युगे युगे) में चलती रहती है।¹¹⁰ इन सब असंख्य हरियों को मानव के पूर्व पक्ष और अपर पक्ष के सन्दर्भ में द्विविध मानकर 'हरी'¹¹¹ (द्वि.व.) के रूप में कल्पित किया गया है, जिन्हें प्रसंगभेद से अहोरात्र¹¹², ऋक्-साम,¹¹³ दर्शपूर्णमास¹¹⁴ तथा द्यावापृथिवी¹¹⁵ कहा जाता है। यह हरियुग्म वही पराक् और अर्वाक् नामक पक्ष हैं जिनका उल्लेख ऋषियों, देवताओं और छन्दों के प्रसंग में भी हुआ है। यही अन्ततोगत्वा हरियोग में हरि नामक प्राण बन जाते हैं।

दूसरे शब्दों में, वेदार्थ के इच्छुक ऋषि और देवता जब सर्वानुक्रमणी में छन्दों द्वारा दौड़ते हुए बताये जाते हैं, तो उनका गन्तव्य (लक्ष्य) वही हरियोग कहा जा सकता है जिसके लिये ऋषि, देवता और छन्द नामक प्राणों को उक्त एकीभूत प्राण बनना पड़ता है। इसी लक्ष्य की ओर प्रत्येक वेदमन्त्र प्रत्यक्ष या परोक्ष में संकेत करता रहता है। इसी को ऋग्वेद के प्रथम-मण्डल के प्रथम सूक्त में 'तत् सत्यम्',¹¹⁶ द्वितीयसूक्त में सोमपीति,¹¹⁷ तृतीय सूक्त में महोर्णः,¹¹⁸ चतुर्थ में इन्द्रस्य शर्म¹¹⁹ और पञ्चम सूक्त में योग¹²⁰ कहा गया है। इसी मण्डल के षष्ठ सूक्त से 'हरी विपक्षसा' के माध्यम से इस योग से युक्त होने की जो चर्चा चलती है वही 'युज्' धातु के असंख्य प्रयोगों और उससे निष्पन्न विविध शब्दों के माध्यम से सम्पूर्ण ऋग्वेद में व्याप्त परिलक्षित होती है। ऋग्वेद के उपसंहार सूक्त में इसी की परिणति सामाजिक 'सुसहास्तित्व' में भी दृष्टिगत होती है।

वेद व्याख्या और प्राण-दृष्टि

ऋषि-देवता-छन्द की उक्त प्राणदृष्टि, निस्संदेह वेद-मन्त्रों की व्याख्या में सहायक हो सकती, यद्यपि इस तथ्य को, बृहद्देवताकार द्वारा सचेत किये जाने पर भी विस्मृत कर दिया गया। फिर भी, प्रायः सभी प्राचीन भाष्यकारों ने प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का उल्लेख आवश्यक माना है और परम्परा को अस्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रसंग में स्कन्दस्वामी अवश्य एक अपवाद हैं।

उनकी मान्यता है कि छन्द का वेदव्याख्या में कुछ भी उपयोग नहीं। इसलिये वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषि और देवता का उल्लेख तो आवश्यक है, क्योंकि इन दोनों का वेदार्थ में उपयोग है, परन्तु छन्द का इस दृष्टि से कोई उपयोग न होने के कारण उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। स्कन्दस्वामी का यह मत उस मान्यता पर आश्रित है जिसमें कहा गया है कि छन्द केवल अक्षर परिमाणात्मक रचना का ही नाम है, परन्तु जैसा कि उपर्युक्त विवेचन¹²¹ से स्पष्ट है, छन्द को ऋषि और देवता परम्परा से प्राण का भी बोधक माना गया है। अतएव, प्रत्येक मन्त्र को समझने में इन तीनों का कुछ उपयोग अवश्य होना चाहिये।

इस तथ्य को आत्मसात् करने के लिये उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र लेते हैं। इसका छन्द गायत्री, देवता अग्नि और ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है। यद्यपि गायत्री अष्टाक्षरात्मक परिमाण वाली त्रिपदी रचना है, परन्तु साथ ही वह अग्नि¹²² है, एक प्राण¹²³ है और प्राण की त्वक्¹²⁴ है। गायत्री क्रियापरक प्राण होने के कारण स्वर्ग से सोम को लाने वाली श्येन है।¹²⁵ सोम रूप मधु ब्रह्मानन्दरस का वाचक है। मधुच्छन्दा नामक ऋषि उस प्राण का बोधक है, जो इस मधु का ऋषियों के लिये छन्दन करता¹²⁶ है, वांछा करता है। अतः मधुच्छन्दा को इच्छापरक प्राण कह सकते हैं। इसी प्रकार 'ज्योतिर्वै अग्निः'¹²⁷ कहकर अग्नि के जिस स्वरूप की ओर संकेत है, ब्रह्मानन्दरस रूप मधु के इच्छुक (मधुच्छन्दा) की दृष्टि के सन्दर्भ में उसका आध्यात्मिक अर्थ ही लेना होगा। गायत्री के क्रियापरक रूप को भी इसी मधु रस को लाने के प्रसंग में समझना होगा।

इस दृष्टि से, इस मन्त्र में जो ज्ञानपरक अग्नि अभीष्ट है वह परस्तात् से भिन्न पुरस्तात् बसने वाला अग्निप्राण है। वह जिस यज्ञ का प्रकाशक देव है वह वस्तुतः 'श्रेष्ठतम कर्म' है। वह ऋत्विज् अर्थात् ऋत् (ठीक समय) के अनुसार यजन (श्रेष्ठ कार्य) करने वाला है। वह होता अर्थात् वांछित रस का आह्वान करने वाला है। यह रस ही वह रत्न है जिसको प्रदान करने में सर्वाधिक समर्थ होने के कारण उसे रत्नधातम कहा गया है। ऐसा सामर्थ्यवान् अग्निप्राण अभी 'पुरोहित' (पुरस्तात् विद्यमान) रूप में बहिर्मुख है। उसके ईडन का अर्थ है उसे पुरस्तात् से परस्तात् करना अर्थात् बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी कर ध्यानयोगस्थ करना। यह कार्य मुख्यतः उस क्रियापरक प्राण को सम्पन्न करना है, जो अपने में उक्त इच्छापरक तथा ज्ञानपरक प्राण को भी एकत्रित कर स्वयं 'त्रिपदा' हो जाती है। महत्, अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के प्रतीक उसके आठ अक्षर हैं। इन सभी को गमन करना है। अतः यही 'गय' प्राण हैं, जिन्हें अन्तर्जगत् में ऊर्ध्वमुख विस्तार करती हुई 'गायत्री' अपने नाम को सार्थक करती है।¹²⁸ इस प्रकार यह अष्टविध प्राणचक्र बहिर्मुखी 'कृ' को विपरीत कर अन्तर्मुखी ऋक् बनाकर मनोमय पुरुष के दक्षिण (दक्षता-सम्पन्न) पक्ष को तथा बहिर्मुख 'मास्' (इच्छापरक ज्योति) को विलोम रूप देकर 'साम' नामक उत्तर (श्रेष्ठता सम्पन्न) पक्ष का निर्माण करता है। इन दोनों पक्षों को अपने में अनुस्यूत करने वाला 'शिर'¹²⁹ होकर गायत्री ऊर्ध्वमुखी यात्रा करती हुई स्वयं 'ब्रह्म' हो जाती है।¹³⁰ यह गायत्री का एकस्वरीय गान है जिसे वह नानात्व को संगृहीत कर स्वयं को 'सर्वाकृत्स्ना' मानती हुई गाती है।¹³¹

वैदिक योग अथवा जिष्णु योग

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का इस प्रकार अर्थ करने से बृहद्देवताकार के कथन की पृष्टि होती है कि ऋषि, देवता और छन्द की प्राणदृष्टि के साथ योग का ज्ञान भी आवश्यक है। आज वेद के अध्येता बृहद्देवता के इस मत की भले ही उपेक्षा कर दें, परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि योग का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें वेद में ही प्राप्त होता है। जिष्णुयोग के नाम द्वारा इसी ओर पूर्व में ही संकेत किया जा चुका है। इस योग की पृष्ठभूमि में जीवात्मा का जिष्णुत्व निहित है, जो उसे देवासुर संग्राम में विजयश्री से विभूषित करता है। यह संग्राम मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में निरन्तर दो परस्पर विरोधी शक्तियों के मध्य होता रहता है। इन शक्तियों में एक सु की पक्षधर होने के कारण सुर अथवा देव शक्तियाँ हैं और दूसरी ओर उनके विपरीत असु की पक्षधर होने से असुर कही जाती है। इन्हीं द्विविध शक्तियों को क्रमशः शिव और अशिव अथवा भद्र और अभद्र भी कहा जाता है। प्रतीक योजना की दृष्टि से प्रथम मयूर है, तो द्वितीय अहि (सर्प)। इन दोनों परस्पर विरोधियों शक्तियों के मध्य जब विद्वेष समाप्त हो जाता है, तो मनुष्यव्यक्तित्व उस समत्व की स्थिति में पहुँच जाता है जिसे वैरदेय (शत्रुभाव को त्याज्य मानने वाला) 'सम' कहा जाता है।¹³²

दूसरे शब्दों में, वैदिक संग्राम का लक्ष्य वस्तुतः यह समत्व है, जो वैर त्याग पर आधारित है। इसीलिये वेद में कहा गया है कि इन्द्र का कोई शत्रु नहीं। उसके युद्ध वस्तुतः उसकी माया हैं। इसका तात्पर्य है कि जीवात्मा का जिष्णुत्व इसी समत्व की प्राप्ति में निहित है। यही वैदिक जिष्णुयोग का लक्ष्य है। इस तथ्य की पुष्टि में अथर्ववेद के उस दीर्घ सूक्त का संक्षिप्त परिचय देना समीचीन होगा जिसमें इस योग का वर्णन किया गया है। जिष्णु-योग द्वारा पूर्वोक्त 'आपश्चन्द्रा' के उन पाँच रूपों का योग वांछनीय होता है, जो ओजः, सहः, बलम्, वीर्यम् और नृम्णम् नाम से आनन्दमय से अन्नमयकोश पर्यन्त क्रमशः विद्यमान है। इन्हीं पाँचों को लक्ष्य करके ऋषि कहता है कि हे आपश्चन्द्रा! तुम इन्द्र (आत्मा) के ओजः, सहः, बल, वीर्य और नृम्ण हो। मैं तुम सबको जिष्णु-योग के निमित्त ब्रह्मयोगों द्वारा युक्त करता हूँ।¹³³ यहाँ अनेक ब्रह्मयोगों की कल्पना प्रथम तो उस पञ्चविध ब्रह्म पर आश्रित है, जो तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली में 'अन्नं ब्रह्म' 'प्राणं ब्रह्म', 'मनः ब्रह्म', 'विज्ञानं ब्रह्म' तथा 'आनन्दं ब्रह्म' के रूप में उल्लिखित है। इन पाँचों स्तरों पर जो ब्रह्मयोग होगा उसके अनवरत अभ्यास से ही जिष्णु-योग सम्पन्न होगा। परन्तु ब्रह्मयोग का पूरक क्षत्रयोग भी आवश्यक है। इसीलिये, अथर्ववेद¹³⁴ ब्रह्मयोगों के बाद क्षत्रयोगों का भी उल्लेख करता है। क्षत्रयोग आनन्दमय से अवतरित होने वाली उस शक्ति पर आश्रित है, जो मार्ग में आने वाले संकटों से ब्रह्मयोग का त्राण करता है।

ब्रह्मयोग और क्षत्रयोग की परस्पर शृंखलाओं के समान ही इन्द्रयोगों¹³⁵ एवं सोमयोगों¹³⁶ को भी जिष्णु-योग के लिये अपेक्षित माना गया है। इन दोनों में भी इन्द्रयोग नीचे से ऊपर की ओर आरोहण करता है और सोमयोग उसके विपरीत अवरोहण करता हुआ उसका सहयोगी बनता है। इन चार योगशृंखलाओं के फलस्वरूप हमारे सामने आचार्य कोश (ग्रन्थ) प्रकाशित होता है

यही अप्सु योग¹³⁷ या सुकर्म योग है। इस योगाभ्यास द्वारा आनन्दमयकोश का ओज, विज्ञानमयकोश का सहः, मनोमयकोश का बल तथा प्राणमयकोश का वीर्य परस्पर संयुक्त होकर अन्नमयकोश (स्थूल देह) में 'नृम्णम्' नामक शक्ति का रूप ग्रहण करके मनुष्य के आचार-विचार और चिन्तन-मनन को दिव्यता प्रदान कर आसुरी शक्तियों को भी देवशक्तियों का सहयोगी बना देते हैं। पुराणों में इसी प्रक्रिया को देवासुर सहयोग से सम्पन्न होने वाले समुद्रमन्थन में देख सकते हैं जिससे अमृतसहित चौदह रत्न आविर्भूत होते हैं।

अथर्ववेद¹³⁸ में, अमृत-मन्थन क्रिया के स्थान पर 'विष्णु-क्रम' नामक चक्रवत् प्रचलन करने वाली अतिमानसिक चेतना की क्रिया मानी गई है, जो परवर्ती पौराणिक साहित्य में चारों दिशाओं में घूमने वाले सुदर्शन चक्र के रूप में कल्पित हुई है। चक्रवत् भ्रमण प्रारम्भ होने से पूर्व 'विष्णुक्रम' का नाम 'विक्रम' है जिसके आधार पर विष्णु को 'त्रिविक्रम' अर्थात् तीन प्रकार से पादन्यास करने वाला कहा जाता है। यह वस्तुतः उस जीवात्मा की क्रिया है, जो अहंकाररूप वृत्र के प्रभाव के कारण पहले वामन होकर स्थित था। जिष्णुयोग के हेतु किये जाने वाले योगाभ्यास से वह (वामन) शनैः शनैः विराट् रूप धारण करता हुआ पृथिवी (अन्नमयकोश) अन्तरिक्ष (प्राणमयकोश) तथा द्यौ (मनोमय कोश) तक आरोहण करता है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हुए ऋषि कहता है:-

पृष्ठात् पृथिव्याः अहमन्तरिक्षम् आरुहमन्तरिक्षात् दिवमारुहम्।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ग्योतिरगामहम्॥ शौ.4.14.3

पृथिवी की पीठ से अन्तरिक्ष का आरोहण और अन्तरिक्ष से द्यौ पर चढ़ते हुए स्वः नामक ज्योति तक पहुँचना ही 'त्रिविक्रम' है।

यह 'स्वः' नामक अतिमानसिक ज्योति स्वर्ग की विशेषता है। इसी दृष्टि से स्वर्गलोक को 'स्वः' कहा जाता है।¹³⁹ इसे अन्नमयकोश रूपी पृथिवी पर लाने का नाम ही स्वर्ग को पृथिवी पर उतारना है। इसके फलस्वरूप उक्त आपश्चन्द्राः के पाँचों रूप संयुक्त हो जाते हैं और मनुष्य का कर्म दिव्यता ग्रहण करके यज्ञरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार वेद का अप्सुयोग यज्ञ में परिणत होकर गीता में 'योगयज्ञ' कहलाता है।

सन्दर्भ

- 1 शौ. 11.4.6
- 2 वही, 1
- 3 वही 15
- 4 वही 18
- 5 वही 23
- 6 वही 24
- 7 वही 13-14
- 8 शौ. 11.6 (4) 23
- 9 तै. 3.2.5.2
- 10 प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ शौ.11.6(4)12
- 11 प्राणानां वाक् ज्योतिरुत्तमा। तै. 5.3.2.3; वाक् प्राणानामुत्तमा। काठ.19.10; कपि. 30.8
- 12 मैसं. 2.13.15
- 13 शौ. 11.6 (4) 12; तैसं. 1.6.8.5; 7.6.6; मैसं. 1.10.10; माश. 6.4.3.4 ; 7.3.1.20; जैउ. 2.1.22
- 14 ब्रह्मणः प्रजा प्रजायन्ते। काठ 41.5
- 15 जैउ. 1.11.1.2
- 16 गो. 1.1. 39
- 17 चित्रं सन्तं गुहाहितं सुवेदं कूचिदर्थिनम्। ऋ. 4.7.6
- 18 ऋ. 4.7.1
- 19 ऋ. 8.4.16
- 20 प्र त इन्द्र पूर्व्याणि प्र नूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि। सतीन मन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणो गाम्॥ ऋ. 10.112.8
- 21 सुवेदा नो वसू करत। ऋ. 6.48.15; 7.32.25
- 22 आपो वै प्राणाः। माश 3.8.2.4; जैउ 3.10
- 23 शौ. 19.72.1
- 24 ऋ. 4.7.2
- 25 वही 4
- 26 गो. 1.4
- 27 गो. 1-5
- 28 गो. 1-6
- 29 गो. 1. 7-11
- 30 गो. 1.12
- 31 गो. 1.16-17
- 32 गो. 1.23
- 33 माश. 3.8.2.4; जैउ. 3.10.9; तैआ.1.26.5; काश 4 .8. 2. 2
- 34 शौ. 11.4.1; माश.14.8.13.3; 1.1.1.14; 2.1.1. 4; 14.2.2.34
- 35 तु. शौ. 12.1.37; गो.1.1.17

- 36 विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य डॉ. फतहसिंह कृत 'कामायनी सौंदर्य' का 'जलप्लावन' और 'आदिपुरुष' प्रकरण।
- 37 तं वरुणं मृत्युं अभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत् तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत् तं वा एतं अंगरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते। गो. 1.1.7
- 38 तं ओङ्कारं ब्रह्मणः पुत्रं ज्येष्ठं ददशुः। गो. 1.23
- 39 शौ. 10.8
- 40 सैषा एकाक्षरा ऋक् ब्रह्मणः तपसः अग्रे प्रादुर्बभूव। ब्रह्मवेदस्याथर्वणं शुक्रम्। अतएव मन्त्रा प्रादुर्बभूव। गो. 1.22
- 41 शौ. 10.8.10
- 42 ऋ. 1.164.39; तु. गो. 1.14
- 43 प्राणाः वै विश्वेदेवाः तैसं. 5.2.2.1; 4.6.1; मैसं. 1.5.11; काठ 19.2; 21. 8; क. 31.2; माश. 14. 2. 2. 37
- 44 वैश्वदेवीः आपः। मैसं. 4.5.21
- 45 माश. 10.4.1. 9
- 46 माश. 2.4.3.6 ; 3. 9.1.16; 5.5.1.10
- 47 माश. 14.4 .2. 24
- 48 ऐ. 3.16
- 49 मरुतो वै देवानामपराजितमायतनम्। तै. 1.4. 6 .2
- 50 प्राणा वा आदित्याः। प्राणा हि इदं सर्वं आददते। जैउ. 4.2.1.9
- 51 तौ एतौ स्तोमौ अभवताम् च। तौ प्राणापानौ, ते अहोरात्रे, तौ पूर्वापक्षापरपक्षौ, तौ इमौ लोकौ (द्यावापृथिव्यौ), तौ इन्द्राग्नी, तौ मित्रावरुणौ, तौ अश्विनौ, तद् दैव्यं मिथुनं यद् इदं किञ्च द्वन्द्वं तद् अभवताम्। जै. 3.334
- 52 सोमा इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निः ते देवा धर्मधृतो धर्म धारयन्ति एते वै देवा धर्मधृतो यद् इमे प्राणाः। मैसं. 4.4.2
- 53 एकं सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. 1.164.46
- 54 यो देवानां नामधा एकैव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति अन्या। ऋ. 10. 82 .3
- 55 ऋ. 8.58.2
- 56 तै. 1.1.3.5; जैउ. 1.18.1.1
- 57 आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त किं नु प्रजायेमहीति। माश. 11.1.6.1
- 58 आपो वा इदमग्रे सलिलमेव। सः प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्य अन्तर्मनसि कामः समवर्तत। इदं सृजेयमिति। तैआ. 1.23.1
- 59 आपो वै पुष्करपर्णम्। माश 7.3.1.9
- 60 माश. 8.2.3.13
- 61 एषा वै प्रजापतेः सर्वता तनूर्यदापः। मैसं. 1.6.3
- 62 जै. 1.180
- 63 ऋ. 7.49
- 64 ऋ. 1.164.41
- 65 ऋषिछन्दोदैवतादि ज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम्। तदाश्रित्य प्राणदृष्टिर्विहितात्रेति गम्यताम्॥ अविदित्वा ऋषिः छन्दः दैवतं योग एव च। योऽध्यापयेद् जपेद् वापि पापीयान् जायते तु सः॥ बृ. 8.135-136

- 66 जै. 3. 337; 2. 77
 67 शांआ. 4.1; कौ. 3.2.1
 68 ऐआ. 2. 3 .3
 69 प्राणा वै देवताः। मैसं. 2. 3. 5; काठ. 11.8
 70 माश. 8.4.1.5; 7.2.3.5; 8.4.1.5; 6.8.8.1; 8.6.15 ; ऐ. 2.27
 71 मैसं. 3.1..9
 72 कौ. 7.9 ; 11.8
 73 तैसं. 5.1.9.1; 6.6.11.6; काठ. 19.10; क. 30.8
 74 जैउ. 1.1.1. 7
 75 तस्मात् सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिता। माश. 12.8.225
 76 ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्ममुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ श्वे.1.3
 77 छन्दासि छन्दयतीति वा। दै. 3.19; तैसं. 5.6.6.1; नि. 7. 3
 78 तैसं. 5.3. 2. 3
 79 छन्दासि वाव देवानां गृहाः। जै 1.280
 80 तै 2.2.8.7 ऐआ. 2.1.6; मैसं. 3. 4. 7
 81 अति वा एषो अन्यानि छन्दासि यदतिच्छन्दाः। जै. 2.392; तु.माश.8.2.4.5, ऐ.4.3
 82 जै. 3.44
 83 ऐ. 2.66
 84 क. 48.16
 85 जै. 2.77
 86 जै. 1.270
 87 वही
 88 माश. 4.3.1.2 2
 89 माश. 1.11.3. 2
 90 ऐआ. 2. 3. 3
 91 माश. 1.8.3.12; तां. 6.10.5; 9.8
 92 बृ. 7.138
 93 देवासुराः छन्दसु अभिसंयत्तासन्। जै. 1.196
 94 जै. 1.198; तां 12.12.31
 95 मै. 4.7.5
 96 काठ. 10.10; तां. 18.1.2
 97 काठ. 12.2
 98 जैउ. 3.6.7.3; माश. 6 .8.1.1
 99 ऐ. 1.23; माश. 3. 4 .4. 3
 100 माश. 2.4.2.5
 101 काठ. 20.6; क. 31.8
 102 तै. 2.4.5.4
 103 जै. 1.323
 104 ऋ. 4.24.3-4
 105 योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रं ऊतये॥ ऋ.1.30.7
 106 ऋ. 10.94.12

- 107 ऋ. 10.166.4-5
 108 ऋ. 1.56.1
 109 युक्ता हि अस्य हरयः शता दशेति सहस्रं है त आदित्यस्य रश्मयः। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति॥ जै.उ. 1.14.3.5
 110 ऋ. 1.62.13; का. 28.9; मै. 4.7.4; तैसं. 6.5. 9.1; जै.उ. 1.14.3.5
 111 पूर्वापक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी। ष. वि. 1.1
 112 अहोरात्रे वा अस्य हरी। जै. 2.79
 113 ऋक्सामे वै हरी। माश. 4.4.3.6
 114 एतौ वै देवानां हरी ये दर्शपूर्णमासौ। माश. 11 .2.4.1-2
 115 इमे वै हरी विपक्षसा ये द्यावापृथिवी। तै. 3.9.4.2
 116 ऋ. 1.1. 6
 117 ऋ. 1.2. 3
 118 ऋ. 1.3.12
 119 ऋ. 1.4. 6
 120 ऋ. 1.5. 3
 121 विस्तृत विवेचनार्थं द्र. 'वैदिक मन्त्रों में छन्द' दयानन्द स्वप्नांक. (1993) पृ. 83-87
 122 अग्निर्हिगायत्री। जै. 3.184; 191 तु. माश. 1.8.2.13 ;तै. 1.1.5.3
 123 गायत्री वै प्राणः। माश. 1.3.5.15
 124 तस्य (प्राणस्य) त्वग्गायत्री। ऐ.आ. 2.1. 6
 125 गायत्री वै श्येनः सोमभूत। मैसं. 3.7. 9
 126 मधु ह स्म ऋषिभ्यो मधुच्छन्दाश्छन्दति तन्मधुच्छन्दसो मधुच्छन्दस्त्वम्। ऐ.आ.1.1.3
 127 माश. 7.4.1.34; तैसं 1.5.9.5
 128 सा हैषा (गायत्री) गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे। तद् यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम। माश. 14.8.15.7
 129 शिरःगायत्री। मैसं. 3.3.5; ष. 2.3
 130 ब्रह्म वै गायत्री। मैसं. 4.7.3; ऐ. 4.11; कौ. 3.5; जै. 1. 263
 131 सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत्, यद् अगायत् तस्मादियं गायत्री। माश. 6.1.1.15
 132 स वैरदेय इत् समः। ऋ. 5.61.8
 133 शौ. 10.5.1
 134 वही 2
 135 वह. 3
 136 4
 137 वही 5
 138 शौ. 10.5.24-35
 139 स्वर्गेलोक स्वः। जै. 3.69

सप्तम अध्याय

षाट्कौशिक व्यक्तित्व में त्रैत और द्वैत

षाट्कौशिक मनुष्य-व्यक्तित्व का जो परिचय हमें पिछले अध्यायों में प्राप्त हुआ उसके अनुसार यह तो स्पष्ट है कि सामान्यतः मनुष्य छह कोशों में से तीन (अन्नमय, प्राणमय और मनोमय) कोशों से ही परिचित होता है। इन कोशों के प्रति ममत्व और अहंकारवश ही उसे अन्य कोशों का ज्ञान नहीं हो पाता। ये तीनों कोश वेद में पार्थिवानि रजांसि¹ के नाम से उल्लिखित हैं। इन्हें क्रमशः अवमा, मध्यमा तथा परमा पृथिवी भी कहा² जाता है। यही तीन पार्थिव भुवन हैं जिनसे भिन्न तीन 'दिव्यानि-भुवनानि'³ अथवा 'दिव्यानि रजांसि'⁴ कहे जाते हैं। अतः वेदमन्त्रों में जब 'तिस्रो दिवः पृथिवीः तिस्रः' का उल्लेख होता है⁵ तो उनसे क्रमशः हिरण्यय, आनन्दमय तथा विज्ञानमय कोश तीन दिवों के रूप में तथा मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय कोश तीन पृथिवियों के रूप में अभिप्रेत होते हैं।

जातवेदस् में इन्द्र, अग्नि और सोम

तीन दिवों तथा पृथिवियों के साथ कभी-कभी तीन ज्योतियों का भी उल्लेख होता है। ये तीन ज्योतियाँ (त्रीणि रोचना) मूलतः उस हिरण्ययकोश से सम्बन्ध रखती हैं, जिसे ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग के रूप में तीन अरों वाला ब्रह्म-निवास⁶ माना जाता है। हिरण्ययकोश के स्तर पर ये 'अर-त्रय' ब्रह्म में लीन रहते हैं, परन्तु आनन्दमयकोश के स्तर पर इन तीनों की सत्ता इन्द्राग्नि सोम की संयुक्त इकाई के रूप में उद्भूत होती है जिसकी अभिव्यक्ति करते हुए ऋषि कहता है:-

अयं सोऽग्निर्यस्मिन् त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः। ऋ.3.22.1

इस संयुक्त इकाई का पारिभाषिक नाम जातवेदस् है, जो 'भानुः अर्णवः नृचक्षाः' होकर अपने वर्चस्व को न केवल द्यौ और पृथिवी में स्थापित करता है, अपितु वह अन्तरिक्ष को उरुत्व प्रदान⁷ करता है। वह उन दिव्य बुद्धियों (देवान् धिष्याः) को भी प्रेरित करता है, जो सूर्य के ऊपर नीचे 'आपः' प्राणों के रूप में विराजमान रहते हैं⁸।

इन्द्र, अग्नि और सोम का पार्थक्य

यद्यपि इन्द्र, अग्नि और सोम में से प्रत्येक उक्त ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग की ज्योति है, परन्तु विलग होने पर उनकी पृथक् पृथक् सत्ता है। अग्नि चैतन्य-प्रज्ञापरक ज्योति है, अतः प्रज्ञा द्वारा जानना और बुद्धिपूर्वक समन्वय करना उसकी विशेषता⁹ है। यद्यपि चेतन विशेषण अग्नि¹⁰ के समान सोम¹¹ के लिये भी प्रयुक्त होता है, परन्तु जहाँ अग्नि 'ऊर्ध्व शोचिष'¹² है, वहाँ सोम धारा रूप में स्पन्दन करने, छवित्वा¹³ होने अथवा क्षरण करने के लिये प्रख्यात है।¹³ इसी प्रकार, इन्द्र भी अग्नि और सोम से पृथक् शतक्रतु, वज्री तथा मरुत्वान् विशेषणों द्वारा

अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए हैं। इन विशेषणों के अतिरिक्त इन्द्र के लिये जब अधिकांश स्थलों पर 'सत्पति' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है,¹⁴ तो उपर्युक्त त्रैत में से इन्द्र को ब्रह्म के क्रियापरक 'सत्' पक्ष का प्रतीक मानना पड़ता है। साथ ही, अग्नि¹⁵ और सोम¹⁶ को ब्रह्म के क्रमशः 'चित्' एवं आनन्द पक्ष का प्रतीक स्वीकार करने के लिये पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। मूलतः यह त्रिविधता सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही अव्यक्त थी जो व्यक्त होती है। इसीलिये ब्रह्म को त्रिवृत्¹⁷ और ब्रह्मवर्चस्¹⁸ भी कहा जाता है।

तीन सुप्रसिद्ध युग्म

अग्नि, इन्द्र और सोम के पृथक् वैशिष्ट्य वर्णन के अतिरिक्त भी अनेक वेदमन्त्रों में इनके युग्मरूपों का भी चित्रण हुआ है। इन्द्राग्नी¹⁹ को 'वृष्णः सोमस्य वृष्णौ' मानकर उन दोनों को सोम-वृष्टि करने के लिये आमन्त्रित किया जाता है। इन्द्रासोमो²⁰ भी 'वृष्णौ' हैं, परन्तु वे दोनों तापकारी और तमोवर्धक 'अचित्' (राक्षस) का विनाश करने वाले हैं। इसके विपरीत 'वृष्णौ अग्नीषोमौ' अपने भक्त के लिये मूर्तिमान् 'मयः' (आनन्द) ही हो जाते हैं,²¹ सुवीर्य धारण करते²² हैं तथा बहुतां के लिये 'ज्योतिरेकम्' प्राप्त कराने वाले होते हैं।²³ स्वर्ग से इन दोनों का पृथक् पृथक् आहरण किया जाता है, परन्तु दोनों ब्रह्म द्वारा वर्धमान होते हुए यज्ञार्थ 'उरु ऊँ लोकम्' का निर्माण करते हैं।²⁴ वे पाप से व्रत की रक्षा करते हैं तथा अन्तःप्रविष्ट जन के लिये (विशे जनाय) सुख प्रदान करते हैं।²⁵

कुत्स और इन्द्र परमेश्वर

उक्त युग्मों और इन्द्राग्निसोम की संयुक्त इकाई से परे हिरण्यकोश में इन्द्र परमेश्वर 'आत्मन्वत् यक्षम्' के रूप में विराजमान है। असुरों के विरुद्ध परमेश्वर — इन्द्र की सहायता का इच्छुक जीवात्मा संशयग्रस्त 'कुत्स' नाम से कल्पित किया गया है। इस कुत्स की सहायता के लिये इन्द्र जिस वज्र द्वारा उसके शत्रुओं का वध करता है उसे भी कुत्स-हितार्थ प्रयुक्त होने से 'कुत्स्य'²⁶ नाम दिया गया है। वसिष्ठ अपने एक सूक्त में व्यक्ति के प्राणों को लक्ष्य कर कहते हैं,²⁷ "ये अनेक संशयग्रस्त प्राण" (एते कुत्साः) व्यष्टिगत इन्द्र में (इन्द्रे) दिव्य 'एषम् सहः' की याचना करने वाले हैं। हे शूर इन्द्र (समष्टिगत परमेश्वर)! तुम शीघ्र ही वृत्रों को सुहन्तव्य (सुहना) करो, जिससे हम संशयों से पार जाकर बल को प्राप्त करें। जीवात्मा के संशयग्रस्त 'कुत्स' पक्ष से पृथक् एक अन्य पक्ष भी है जिसे भूषणार्थक 'लुष्' धातु से निष्पन्न 'लुश' संज्ञा से विभूषित किया गया है। यह कुत्स की अपेक्षा उस श्रेष्ठतर स्तर का द्योतक है जहाँ जीवात्मा को शत्रुविनाश की नहीं, अपितु आध्यात्मिक धनों से स्वयं को अधिकाधिक परिपूर्ण करने की स्पृहा होती है। इस निर्वचन की पुष्टि उन सूक्तों द्वारा होती है जिसका ऋषि 'लुश' है। उदाहरण के लिये, एक सूक्त²⁸ की 'स्वस्त्यग्निं समिधानम् ईमहे' टेक स्पष्ट इंगित कर रही है कि ऋषि जिन उपलब्धियों की कामना कर रहा है वे सभी उसे 'स्वस्ति' नामक सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ऊँचाई तक पहुँचाने वाली हैं। ऋ. 10.36 में तददेवानामवो अद्या वृणीमहे की पुनरावृत्ति द्वारा देवों के जिस संरक्षण (अवः) को प्राप्त करने की कामना की गई है उसके द्वारा भी उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होने वाली हैं।

इसके विपरीत कुत्स नाम अवक्षेपणार्थक कुत्स²⁹ धातु से निष्पन्न है। 'कुत्स श्रुतयं नर्यं' कहलाने वाला वह, ऐसी अनेक कुत्सित परिस्थितियों से आवृत है जिनका अवक्षेपण स्वयं करना चाहता है। इस प्रकार कुत्स एक अति साधारण स्थिति से उदरने का इच्छुक होकर निम्नतम स्थिति से क्रमशः साधना यात्रा करने वाला जीव है। जातवेदस्³⁰ को उपास्य मानकर उससे प्रार्थना है 'सख्ये मा रिषाम वयम् तव'— तेरे सख्य में मेरा कुछ भी अनिष्ट न हो। अपने देवों (प्राणों) से वह कहता है कि वे द्रविणोदा अग्नि को धारण करें, क्योंकि द्रविणोदा अग्नि न केवल 'वीरवतीम् इषम्' का, अपितु दीर्घ आयु का भी दाता³¹ है। साथ ही, उसे चिन्ता है उस 'अघ' की जो उसे घेरे हुए है, अतः एक सम्पूर्ण सूक्त³² में 'अपः नः शोशुचत् अघम्' अर्थात् हे अग्नि ! हमारे अघ को दूर करो। 'विश्वस्य करुणस्य' के ईश्वर (परमेश्वर इन्द्र) से उसका निवेदन है कि वह अंधकार कारक पिप्पु, शम्बर, शुष्ण जैसे सभी दस्युओं का वध करके उसको सूर्य (ज्ञान का प्रतीक) तथा आपः (दिव्य प्राण) प्रदान करे।³³

इसके पश्चात् कुत्स को परमेश्वर इन्द्र का वह मरुत्वान् रूप स्मरण हो आता है, जो 'दस्यून् अधरान्' को अतिक्रान्त कर चुका है। वह चित्तवृत्तियों रूपी गायों को, उन दस्युओं से सर्वप्रथम ब्रह्म के हेतु (ब्रह्मणे) मुक्त करने वाला होने के साथ ही गतिशील तथा प्राणवान् आन्तरिक विश्व का स्वामी भी है।³⁴ उपास्यदेव की यह अनुभूति विज्ञानमयकोश नामक अतिमानसिक स्तर की है। इसीलिये वह उसे 'विक्षण' कहकर सम्बोधित करता है और मनीषा रूपी योषा से, विस्तीर्ण वेग को ग्रहण कर इन्द्रार्चन करने को कहता है,³⁵ क्योंकि ऐसे वेग के बिना उस सत्यराधस् मरुत्वान् इन्द्र तक नहीं पहुँचा जा सकता जो 'अवम' से लेकर 'परम' स्तर³⁶ तक ब्रह्मानन्द को वहन करने वाला सुदक्ष 'ब्रह्मवाह' है। इससे युक्त होकर साधक भी ब्रह्मानन्द रूप सोम का अभिषवण करने में समर्थ होता है³⁷। उत्सव (ऊर्ध्वमुखी अनुभूति) और प्रसव (अधोमुखी उपलब्धि) में समान रूप से विद्यमान (ससहिम) इन्द्र का अनुमदन (अनुभूति) कुत्स के स्थूल प्राण (देवासः) भी तब करते हैं जब वह उस महत् बुद्धि (धियं महीम्) को अपने उपास्य की धिषणा (दिव्य बुद्धि) से संश्लिष्ट कर पाता है।³⁸

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत् त आनजे।

तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु।। ऋ.1.102.1

ऐसा होने पर, परमेश्वर इन्द्र के श्रवः (नाद) को कुत्स की अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों की चेतनाधारा रूप 'सप्तसिधव' धारण करती हैं; अवरोहावरोही 'द्यावाक्षामा' नामक चेतनायुग्म तथा उसकी समन्वित विस्तृत धारा (पृथिवी) एक दर्शनीय आन्तरिक वपु बन जाती है और तब सूर्य एवं चन्द्र स्वरो का युग्म, साक्षात्कार हेतु (अभिचक्षे) पुनः पुनः आवागमन करने वाले अनिर्वचनीय सुख (कम्) की चर्चा करते हैं।³⁹

इस प्रकार इन्द्रशक्ति प्राप्त कर कुत्स स्वयं को ही इन्द्र रूप में सम्बोधित करता है और इस सायुज्य द्वारा उसका व्यक्तित्व जैत्रेय हो जाता है।⁴⁰ तब वह कह उठता है⁴¹— 'वयं जयेम त्वया युजा'। 'रथमातिष्ठ सातये जैत्रम्'⁴² अथवा

विश्वाहेन्द्र अधिवक्ता नो अस्तु।⁴³ अब कुत्स ने अपने अन्तःकरण को इन्द्र के बैठने के लिये 'योनि' बना लिया है; अतः उसकी प्रार्थना है कि इन्द्र यहीं आसीन हों, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वह इन्द्र को बांधकर रखना चाहता है। उसकी कामना है कि इन्द्र कम से कम रात्रि और दिन के संगम-काल में तो अपने घोड़ों को विश्रामार्थ खोलकर बैठे⁴⁴ —

योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमा नि षीद स्वानो नार्वा ।

विमुच्य वयोऽवसायाश्वान् दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ॥

अब कुत्स की यह चाह है कि उसके जो 'नर' (प्राण) इन्द्र के सहायतार्थ जाते हैं वे शीघ्र ही अपना मार्ग प्राप्त कर लें, जिससे वे दिव्यप्राण होकर लौटने पर असुर के क्रोध का भक्षण कर हमें 'वर्ण' (प्रकाश) में ले आयें।⁴⁵ उसकी इच्छा है कि इन्द्र अज्ञाननिशा में 'सुषुप्त' अहि (वृत्र) को बोध प्रदान करे⁴⁶ तथा इन्द्रसूनु (जीवात्मा) स्वयं दस्युवध के लिये वज्री होकर यशस्वी नाम प्राप्त करे।⁴⁷ जब वह इन्द्र के 'परम' बल की याचना असुरों के विरुद्ध करता है, तो उसका लक्ष्य किसी का भी विनाश नहीं, अपितु 'अर्य' बल का वर्धन होता है।⁴⁸

त्रित रूप कुत्स कूप में

कुत्स की उपर्युक्त साधनायात्रा जिस स्तर से प्रारम्भ होती वह मनुष्यव्यक्तित्व का स्थूलस्तर है उसका वर्णन ऋ. 1.105 में प्राप्त होता है। इस सूक्त का ऋषि त्रित आप्त्य है। अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय कोशों की मानुषी त्रिलोकी से सम्बन्धित होने के कारण कुत्स को त्रित संज्ञा से भी विभूषित किया गया है। अज्ञानान्धकार रूप वृत्र से आवृत अन्नमय स्तर को ऐसे भयंकर कूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसमें त्रित (कुत्स) को एकत और द्वित ढकेल⁴⁹ देते हैं। त्रित को कूप में गिराने वाले एकत तथा द्वित मनोमय और प्राणमय पुरुष माने जा सकते हैं। कूप में पड़े हुए त्रित ने अपनी करुण कथा कहते हुए देवों से सहायता के लिए जो याचना की उसके परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा बृहस्पति ने उसे पापी-पतन से (अंहूराणात) उबार कर वह उरु मार्ग⁵⁰ प्रदान किया जिसे कुत्स ने 'आदित्य पथ' तथा 'दिवि प्रवाच्यम्' कहते हुए मर्त्यों के लिये अनतिक्रमणीय माना था।⁵¹ यह वह मार्ग है, जो मनुष्यों को ब्रह्मलोक पहुँचाकर 'इन्द्रवन्तः सर्ववीराः' बना देता है।⁵² इसकी प्राप्ति से त्रित को वृत्रसंहार का यश भी प्राप्त होता है⁵³ और उसके इस कार्य में मरुत भी सहायक हो जाते हैं।⁵⁴

कूपस्थ त्रितकुत्स के बाहर आने पर उसमें दिखाई देने वाले परिवर्तन का कारण है उसके द्वारा स्व आप्त्य (आपः का पुत्र) स्वरूप की प्राप्ति तथा अपने पैतृक आयुधों का ज्ञान। इस ज्ञानप्राप्ति के कारण वह 'इन्द्रेषित' होकर 'त्रिशीर्ष सप्तरश्मि' त्वष्ठापुत्र का वध करके गायों को मुक्त कराने में सक्षम होता है।⁵⁵ यह सब त्रित के 'गुह्य व्रत' का फल है जिसने उसे 'यम' तथा 'आदित्य' की श्रेणी में खड़ा कर दिया।⁵⁶ अब वह कूप में पड़ा हुआ पुराना कुत्स या त्रित नहीं है अब उसे 'त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि' कहा⁵⁷ जाता है। इस कथन से स्पष्ट है कि अब वह मानुषी त्रिलोकी के सम्बन्ध से त्रित नहीं, अपितु (त्रीणि) धर्माणि⁵⁸ का प्रथम धारक होने से वह त्रित है जो 'अनूक्ति' वाच्य का ज्ञाता है। यह वाक्य वही अव्यक्त

परावाक् है, जो व्यक्त होने पर ज्ञान, इच्छा तथा क्रियाशक्ति के रूप में त्रिविध हो जाती है।⁵⁹ यह त्रिविधता उस ब्रह्म की सच्चिदानन्दात्मक त्रिविधता का ही रूपान्तर है जिसमें वह पराशक्ति अपने अव्यक्त रूप में लीन हो जाती है। वस्तुतः यही वे 'तानि धर्माणि प्रथमानि' हैं जिनका उल्लेख पुरुषसूक्त⁶⁰ तथा अस्यवासीय सूक्त⁶¹ में हुआ है और जिनका प्रथम धारक यहाँ त्रित कहा गया है।

आप्त्य त्रित

अतः धर्मत्रय के धर्तारूप में ही त्रित को 'अघन्या' (परमा) वाक् के मूर्धा⁶² अथवा सोम के गुहापद⁶³ में स्थित युवा प्रकाश-केन्द्र (नाभिर्युवा रोचनस्य) माना जाता है। इस दृष्टि से त्रित के इस रूप में आप्त्य त्रित की तुलना उस 'अपां नपात्' से भी कर सकते हैं, जो त्रित के समान न केवल 'आपः' तथा वृत्रवध से सम्बद्ध है, अपितु हिरण्ययोनि पर आसीन होने के पश्चात् हमें अन्न भी दे सकता है।⁶⁴ यदि त्रित का एक गुहा पद है, तो अपांनपात् का 'अपीच्य चारु'⁶⁵ नाम है। इसके अतिरिक्त जहाँ अपां नपात् एकवचनान्त नाम है वहीं त्रित का एक स्थान पर बहुवचनान्त⁶⁶ रूप भी प्राप्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि त्रित अपां-नपात् का ही वह रूप है, जो स्तर भेद से अनेक कहलाता है।

अनेक त्रित और त्रिधातु अमृतम्

इस सम्भावना की पुष्टि उस 'त्रिधातु अमृतम्' की कल्पना से होती है, जो सभी प्रकाशमान त्रितों में निगूढ़ हुआ सोम द्वारा पाया जाता है :-

अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।

अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्दतमृतं निगूढहम्॥ ऋ. 6.44.23

प्रकाशमान त्रितों का द्युलोक में अस्तित्ववान् होना स्वयं इस बात का प्रमाण है कि विभिन्न स्तरों के ये त्रित अब अन्धकूप में पड़े पूर्वोक्त त्रित से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरे, जो सोम इस त्रिधातु अमृत को प्राप्त करता है वह उषाओं को सुपत्नी बनाने वाला तथा सूर्य के भीतर भी ज्योति स्थापित करने वाला है। यही वह इन्दु है, जो इन्द्र से युक्त हुआ सहसा जायमान होते ही पणि को अवरुद्ध कर देता है।⁶⁷ इसका अर्थ है कि यह इन्दु साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप इन्द्र की ज्योति है, जो अहंबुद्धि, मन तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियों की चेतनाधाराओं वाले सप्तरश्मि 'मनुष्यरथ' को जोड़ता है तथा शचीपति इन्द्र (परमेश्वर) की शची द्वारा परिपक्व उस 'दशयन्त्र उत्स'⁶⁸ को भी धारण करता है, जो दश प्राणों के सन्दर्भ में कल्पित प्रतीत होता है।

कुत्स और रथ

इस रथ की तुलना में ऋ. 1.106 के उस मन्त्र⁶⁹ को ले सकते हैं जिसमें रथ के साथ स्वयं की तुलना करते हुए कुत्स ऋषि शचीपति वृत्रहन् इन्द्र का आह्वान कर कहता है कि — हमें उसी प्रकार दुरवस्था से बचाया जाय जिस प्रकार रथ को बचाया जा सकता है। संपूर्ण मन्त्र में शचीपति इन्द्र की तुलनात्मक इच्छा को अभिव्यक्त करता हुआ, जब वह प्रथम मण्डल के ही अगले⁷⁰ सूक्त में एक ऐसे

‘चित्रतमः रथः’ का उल्लेख करता है, जो विश्व भुवनों को देखता है। इन्द्राग्नी से सरथ होकर उसके द्वारा (रथ) सोमपान के लिये प्रार्थना की जाती है, तो स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि यहाँ भी उक्त मनुष्यरथ ही अभिप्रेत है। तत्पश्चात् अगले सूक्त में वह उस अमृतत्व का उल्लेख करता है, जो सविता से तीनों ऋभुओं को प्राप्त होता है⁷¹ और जिसे प्राप्त कर वे मर्तासः से अमृत हो जाते हैं।⁷² इससे ध्वनित होता है कि इच्छा-ज्ञान और क्रियाशक्तियों के प्रतीक⁷³ ऋभुओं के सम्बन्ध से ही उस पूर्वोक्त त्रिधातु अमृत की कल्पना की गयी जो त्रितों में निहित था। इसके साथ ही, उन्हीं ऋभुओं से रथ के लिये सहायता की कामना⁷⁴ की गई है। इसी सूक्त के अगले मन्त्र⁷⁵ में अश्विनौ को रथ पर आसीन होने का आमन्त्रण देते हुए उन पर न केवल रथों की रक्षा का भार डाला गया है, अपितु उन्हें कुत्स का रक्षक भी बताया गया है।

उपर्युक्त प्रसंगों में जिस रथ का पुनः पुनः उल्लेख किया गया है वह मनुष्यरथ ही प्रतीत होता है। यद्यपि ये सभी वर्णन एक सदृश नहीं हैं, फिर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे मनुष्यव्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये, कुत्स ऋ. 1.113.8 की ‘जीवम् उदीरयन्ती बोधयन्ती’ उषा को अग्रिम मन्त्र⁷⁶ में अरुण अश्वों वाले रथ द्वारा आने वाला बताता है, परन्तु शीघ्र ही ‘जीवो असु नः आगात्’ कहकर उषा का तादात्म्य जीव प्राण से कर देता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह उषा, उसका रथ और जिसका वह बोध करती है सभी कुछ मनुष्यव्यक्तित्व के सन्दर्भ में ही कल्पित है। ‘ब्रह्मणे नः व्युच्छ, आ नः जने जनय विश्ववारे’ कहकर⁷⁷ अधिक स्पष्ट किया है कि यह विश्ववरणीय उषा वस्तुतः वह ज्योति है जिसे जन के भीतर ही ब्रह्म हेतु उत्पन्न होना है और उसे कुछ उत्पादन भी करना है। उषा द्वारा उत्पाद्य वह ब्रह्म रूप सूर्य प्रतीत होता है जिसे कुत्स अपने सूक्त⁷⁸ में मित्र-वरुण और अग्नि का चक्षु तथा जगत् और स्थावर की आत्मा कहकर स्मृत करता है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणास्याग्नेः।

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्यस्थुषश्च॥ ऋ. 1.115.1

कुत्स की विविधता

इस प्रकार परोक्षवादी शैली में कुत्स को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। ऋ. 1.105 में विकल्प से ऋषि को कुत्स या त्रित मानकर जहाँ कुत्स और त्रित का तादात्म्य स्थापित किया गया है, वहीं उसे अहंकारग्रस्त व्यक्तित्व से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील भी दिखाया गया है। यह कुत्स मन्त्रद्रष्टा के रूप में जहाँ आगिरस है वहीं आर्जुनेय भी कहा गया है। आर्जुनेय कुत्स शतक्रतु इन्द्र का अत्यन्त प्रिय है, वह स्वयं कहता है— ‘अहम् कुत्समाजुनेयं न्यूञ्जे’⁷⁹ अन्यत्र⁸⁰ यही शतक्रतु उसका वहनकर्ता अथवा रक्षणकर्ता⁸¹ है। एक अन्य मन्त्र में जब इन्द्र को कुत्स का रक्षक बताया गया, तो वहीं शुष्ण एवं कुयव को मारने के प्रसंग में ‘अस्मै आर्जुनेयाय’ कहकर दोनों में तादात्म्य स्थापित किया गया है।⁸² अतः शतक्रतु इन्द्र (परमेश्वर) का परमप्रिय यह कुत्स आर्जुनेय निस्सन्देह वही कुत्स है, जो इन्द्र से इतनी सरूपता रखता है कि दोनों को एक साथ देखकर इन्द्राणी को भी वास्तविक इन्द्र के आदेशों का पालन होना पड़ेगा।

दूसरे शब्दों में, अहंकारग्रस्त 'पार्थिव रजांसि' की मानुषी त्रिलोकी से मुक्त होने की प्रबल इच्छा के साथ अपनी साधना यात्रा प्रारम्भ करने वाला कुत्स-त्रित ही अन्ततोगत्वा परमेश्वर इन्द्र का ऐसा सादृश्य एवं साहचर्य प्राप्त कर लेता है कि दोनों में भेद करना संभव नहीं होता, इसे ही योग-समाधि की स्थिति कह सकते हैं। इस अमेद-सूचक समाधि अवस्था के पश्चात् जब व्युत्थानकाल आता है, तो दिव्य त्रिलोकी के हिरण्यकोश की ज्योतिष्मती आनन्दधारा अपनी सम्पूर्ण दिव्यता के साथ प्रवाहित होने लगती है। इस स्थिति का स्पष्ट चित्रण ऋ. 9.97 के पैतालीस से अट्ठावन तक उन मन्त्रों में प्राप्त होता है, जो कुत्स आंगिरस द्वारा दृष्ट हैं। कुत्स-आंगिरस द्वारा दृष्ट मन्त्रों से पूर्व के मन्त्र वसिष्ठ परिवार और पराशर शाक्तय ऋषि के हैं।

उपर्युक्त सोमसूक्त के अट्ठावन मन्त्रों में से तियालीस वसिष्ठ परिवार द्वारा और शेष पन्द्रह कुत्स आंगिरस द्वारा दृष्ट बताकर यहाँ मनुष्यव्यक्तित्व के दैवी एवं मानुषी त्रिलोकियों के उस संगम को प्रदर्शित किया गया है, जो योग समाधि सम्पन्न होने पर स्थापित होता है। इस संगम से पूर्व हिरण्यकोश, आनन्दमयकोश और विज्ञानमयकोश की दैवी त्रिलोकी का द्वार अहंकारशासित मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों की मानुषी त्रिलाकी के लिये बन्द रहता है। यही वह स्थिति है जिसे वेद में संशयग्रस्त जीवात्मा के प्रतीक कूप में पड़े हुए, देवों से मुक्ति की प्रार्थना करते हुए कुत्स त्रित के रूप में दिखाया गया है। इसके मुक्त स्वरूप का प्रतीक 'लुश' ऋषि है, जो दिव्य धनों की उपलब्धि से स्वयं को उत्तरोत्तर विमूषित करने में प्रयत्नशील है।

कुत्स और लुश

लुश⁸³ के लिये धनाकपुत्र विशेषण उसकी दिव्यधनों की स्पृहा का सूचक है। लुश 'मही द्यावापृथिवी' से प्रार्थना करता है कि वे दोनों उसके 'अपः' (कर्म) को चेतनायुक्त करें,⁸⁴ जबकि कूप में बन्द कुत्स⁸⁵ - त्रित 'रोदसी' से बार-बार निवेदन कर रहा है कि वे उसकी दुरवस्था को जानें। रोदसी नाम के मूल में प्रजापति का रोदन⁸⁶ होने से स्पष्ट है कि द्यावापृथिवी का यह नाम मूलतः किसी करुण दैन्य से जुड़ा हुआ है। इस दैन्य से मुक्तावस्था में ही उसे 'देवी' अथवा 'मही' विशेषणों से अलंकृत किया जा सकता है। इस दैन्य से सर्वथा मुक्त उक्त 'दिव्यानि रजांसि' से सम्बद्ध लुश विश्वेदेवाः के सम्मुख हाथ फैलता है, जो 'सत्यं सव सविता' के व्रत में स्थित⁸⁷ है। उसकी महत्वाकांक्षा है कि सविता ही उसके चारों ओर हो और उसे दीर्घायु प्रदान करे—

सविता पश्चात्सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्सविताधरात्तात्।

सविता नः सुवतु सर्वतांति सविता नो रासतां दीर्घमायुः॥ ऋ.10.36.14

इसके विपरीत 'पार्थिव रजांसि' के कूप में पड़ा हुआ कुत्स त्रित सबके साथ 'इन्द्रवन्त सर्ववीराः' होने की कामना करता है।

रथिष्ठमर का रथ

इस कामना की पूर्ति पूर्वोक्त सोम-सूक्त में समाविष्ट उन मन्त्रों से प्रकट होती है, जो कुत्स आगिरस के माने गये हैं। प्रथम मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर के लिये आनन्दरस रूप सोम अपनी धारा द्वारा निम्नस्तर (मानुषी त्रिलोकी) को सिन्धु के समान अभिस्करण करता है। वह सोम धी-सम्पन्न (धीरः) दिव्य बल से युक्त (तवस्वान्) स्वर्चक्षाः रथिरः 'सत्यशुष्मः'⁸⁹ है, जो देवभक्तों के काम (इच्छा) के समान दिया जा रहा है। सोम रथिर, स्वादिष्ट, मधुमान्, ऋतवान् तथा सविता देव के समान सत्यमन्मा⁹⁰ है। सोम से निवेदन है कि वह वायु, मित्रावरुणौ 'नरं धीजवनं रथेष्ठां' तथा 'इन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्' को प्राप्त हो।⁹¹

इस वर्णन में सर्वप्रथम ध्यातव्य 'नरं धीजवनं रथेष्ठां' है। धीजवन नर से निस्संदेह वह साधक ही अभिप्रेत हो सकता है, जो ध्यानमग्न होकर 'धी' के वेग को ग्रहण करता है उसको रथेष्ठा कहा गया है। उसके रथ के बारे में विचार करते हैं, तो हमारी विचारसरणि में वह रथ आता है जिसके समान कुत्स स्वयं की रक्षा के लिये ऋ. 1.106 के प्रत्येक मन्त्र में प्रार्थना करता है। सोम के लिये प्रयुक्त 'रथिर' विशेषण इंगित करता है कि यह दिव्य आनन्दरस रूप सोम भी उसी रथ से सम्बद्ध है। ऋ. 1.105 के अन्तिम मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि बृहस्पति की कृपा से अहंकार रूप वृत्र द्वारा शासित कूप से कुत्स-त्रित का उद्धार हो चुका है। अतः अब वह दैवी त्रिलोकी की अतिमानसिक साधना-यात्रा प्रारम्भ करते हुए उक्त रथ⁹² की चर्चा करता है। इसलिए इस निष्कर्ष के लिये पर्याप्त कारण है 'नरं धीजवनं रथेष्ठां' से वह साधक ही अभिप्रेत है, जो अब अतिमानसिक साधना-रथ पर आसीन होकर धी के वेग को प्राप्त कर रहा है। इस साधना-रथ से जुड़े होने के कारण ही दिव्य आनन्द सोम को 'रथिर' कहा गया है। यह अतिमानसिक साधना-रथ उस समय भी सुरक्षित रहता है जब 'पार्थिव रजांसि' (मानुषी त्रिलोकी) की सम्पूर्ण दिव्यता अहंकार रूप वृत्र द्वारा नष्ट हो चुकती है। इसीलिये इस विरसुरक्षित अतिमानसिक साधनारथ के समान स्वयं को भी सुरक्षित किये जाने की प्रार्थना कुत्स करता है।

मनुष्य-रथ

इसी अतिमानसिक साधना रथ को 'मतियों' और 'इष्टियों' द्वारा गतिशीलता को प्राप्त होने वाले उस 'नव मनुष्य रथ' में भी देख सकते हैं, जो 'प्रातः' जोड़ा जाता है इस रथ को यहाँ 'एकरूप' इसलिए कहा गया, क्योंकि वह साधनाजन्य 'प्रभात' के पश्चात् गतिशील होने वाला चेतना-रथ है, जो 'दिव्यानि रजांसि' तथा 'पार्थिवानि रजांसि' को परस्पर मिला देता है। इसी दृष्टि से उसके लिये 'दशारित्रः' विशेषण का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि मनुष्य-व्यक्तित्व के दश प्राण भी अब 'अरित्र' (अरि से त्राण करने वाले) हो गये हैं। इसी प्रकार 'चतुर्युग' विशेषण उन चार सन्धियों की ओर इंगित करता है, जो आनन्दमयकोश से अन्नमयकोश पर्यन्त पाँचों कोशों को एकजुट कर देती है। आनन्दरससिक्त होने से वह 'सस्निः' है और अहंशुद्धि, मन तथा पञ्चज्ञानान्द्रियों से अतिमानसिक चेतना

प्रवाहित करने के कारण 'सप्तरश्मि' कहलाता है। सत्यलोक की 'स्वः' ज्योति का दाता होने के कारण 'स्वर्षाः' भी कहा जा सकता है जिसकी तुलना पूर्वोक्त 'स्वर्चक्षा रथिरः', सोम से कर सकते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह की दृष्टि से यह मनुष्यरथ तीन स्तरों पर कल्पित किया गया है⁹⁴ जो उस वर्षणशील सोम के रूप में प्रकट होता है जिसका गर्भस्थान एक में (अन्य-हिरण्यकोश में), जन्म दूसरे में (आनन्दमयकोश में) तथा उसका वृषा रूप अन्यो (विज्ञानमय से अन्नमयकोशों) द्वारा सेवित होता है। इस रथ में स्तरभेद से दो 'हरी' से लेकर शत 'हरयः' तक जुड़ते हैं और उसके द्वारा वहन किया हुआ इन्द्र सोम से परिषिक्त होता है।⁹⁵

दूसरे शब्दों में, यह नव मनुष्यरथ के नाम से कल्पित परमेश्वर इन्द्र रूप शक्तिमान् का सोम-शक्ति-प्रवाह रूप में अवतरण है, क्योंकि जहाँ भी शक्ति जाती है शक्तिमान् उससे अभिन्न रूपेण उसी प्रकार संयुक्त रहता है जिस प्रकार अपनी दाहता से युक्त दाहक अग्नि। इसी रथ को वेदमन्त्रों में भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में पृथक्-पृथक् रूप में देखा जा सकता है; हिरण्यरथ, चन्द्ररथ, हिरण्यरथ, ज्योतिरथ, बृहदरथ, विद्युद्रथ तथा शुभद्रथ जैसे अनेक नामों से यही प्रकाशमान रथ विभिन्न वैदिक देवों के प्रसंग में उल्लिखित है। इनमें से हिरण्यरथ निश्चित रूप से हिरण्यकोशीय ज्योति के परिप्रेक्ष्य में कल्पित है, जबकि हिरण्यरथ आदि की कल्पना उससे निचले स्तर पर विद्यमान विभिन्न वर्णों के प्रकाश पर उसी प्रकार आश्रित हो सकती है जिस प्रकार निघण्टु के विभिन्न हिरण्यनाम अयस् से लेकर चन्द्र तक हिरण्यज्योति के बोधक सिद्ध हो सकते हैं।⁹⁶ यद्यपि रथ की कल्पना प्रायः सभी देवों के प्रसंग में प्राप्त होती है, परन्तु अश्विनौ का रथ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वह उक्त मनुष्यरथ का स्पष्टतः एक अच्छा रूपान्तर माना जा सकता है।

अश्विनौ का रथ

अश्विनौ के रथ की महती विशेषता उसके तीन चक्र हैं। यह त्रिविधता केवल चक्रों तक ही सीमित नहीं, क्योंकि वह त्रिबन्धुर और त्रिवृत् भी कहलाता है⁹⁷। यही त्रिविधता पूर्वोक्त मनुष्य-रथ के त्रिकश रूप में प्राप्त होती है। अश्विनौ के रथ के निर्माता भी तीन ऋभवः हैं, जिन्हें हम इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। यद्यपि उक्त मनुष्य-रथ को त्रिचक्र नहीं कहा गया, परन्तु उसका त्रिकश विशेषण अश्विनौ से सम्बन्धित मधुमती कशा का स्मरण⁹⁸ कराता है और साथ ही उस मधु की ओर भी इंगित करता है, जो अश्विनौ से अत्यधिक सम्बद्ध है।⁹⁹ उसके रथ को ले जाने वाले हंस हिरण्यपर्ण होने के साथ ही 'मधुमन्त' भी है।¹⁰⁰ वे एक मधुमन्त 'दृति' को वहन करते हैं।¹⁰¹ एक मन्त्र में (ऋ.1.117.6) कहा गया कि उन्होंने शतमधुपूर्ण कुम्भों का सिंचन किया। वे स्वयं 'मधुयुवा'¹⁰² तथा 'मधुपा'¹⁰³ हैं। इसके अतिरिक्त वे मधुमखी को मधु भी देते हैं।¹⁰⁴ इतना ही नहीं उनकी तुलना मधुमखी से भी की जाती है।¹⁰⁵ वे मधुपाणि अध्वर्यु के घर जाते हैं और उषा एवं सूर्य जैसे देवों के साथ उन्हें मधुपान के लिये आमन्त्रित किया जाता है :—'सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना' (ऋ.8.35.1)। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि वेद में मधु शब्द सोम के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ¹⁰⁶ है और अश्विनौ भी सोम-पान करते हैं।

विभिन्न मन्त्रों के उपर्युक्त वर्णनों से यही संकेत प्राप्त होता है कि अश्विनौ का रथ भी पूर्वोक्त मनुष्यरथ के समान पवमान सोम के आधार पर कल्पित है। इसीलिये उनका मधुवाहन¹⁰⁷ और मधुवर्ण¹⁰⁸ रथ योग से सम्बद्ध वही 'ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं' माना जा सकता है जिसकी कामना अतिरिक्त पान के लिये की जाती है¹⁰⁹ :—

ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम् ।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अतिरिक्तं पिबध्वै ।।

इस मन्त्र से पूर्व रथ का परिचय देते हुए इसे एक बहुधा कल्पित यज्ञ, बहुधा समिद्ध अग्नि, नाना रूप धारण करने वाला सूर्य अथवा उषा और 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' कहा गया है।¹¹⁰ यह इदं वस्तुतः हिरण्यकोश की हिरण्ययी ज्योति है, जो योग द्वारा अर्जित शक्ति से मनुष्यव्यक्तित्व में बहुधा हो जाती है। इसी दृष्टि से मनुष्य-शरीर को वह हिरण्यय-रथ कहा जाता है जिससे¹¹¹ अश्विनौ या सविता¹¹² यात्रा करते हैं। अश्विनौ के लिये प्रयुक्त 'धीजवना' विशेषण भी स्पष्ट इंगित कर रहा है कि इस प्रसंग को योगजन्या 'धी' के सन्दर्भ में ही समझना चाहिये। इसी परिप्रेक्ष्य में जिस 'रिक्तम्' को पीने के लिये त्रिचक्र रथ का आह्वान किया जाता है उसे निर्गुणपंथी योगियों के 'शून्य' के रूप में ग्रहण करना होगा। हिरण्यकोशीय यह अनुभूति ही सोम को 'उत्सो देवो हिरण्ययः'¹¹³ 'हिरण्ययं शकुनम्'¹¹⁴ मधुधारा द्वारा पवमान 'सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम्' कहने की प्रेरणा दे सकती है।

सूर्या विवाह का प्रसंग

रथ के विषय में उक्त निष्कर्ष की पुष्टि सूर्या की विवाह यात्रा से भी होती है। सूर्या का वधूयुः सोम और वरद्वय अश्विनौ बने, तो सविता पिता ने सूर्या को प्रदान किया।¹¹⁵ यहाँ हम यह स्मरण रखें कि सोम को 'उत्सो देवो हिरण्यय' तथा अश्विनौ के रथ की हिरण्ययरथ कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि ये सभी कल्पनायें भौतिक या सामाजिक जीवन से नहीं, अपितु मूलतः मनुष्यव्यक्तित्व के हिरण्यकोशीय ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग से सम्बन्धित हैं। सूर्या के वर, वरयात्रा से सम्बन्धित रथ आदि सभी साधन हिरण्यकोशीय अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले प्रतीक हैं। सूर्या की वरयात्रा में प्रयुक्त रथ को त्रिचक्र¹¹⁶ कहा गया है, जो मनुष्यव्यक्तित्व के सन्दर्भ में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देह के तीन चेतनास्तर कहे जा सकते हैं। इससे भिन्न जब वे शुभस्पती रूप में सूर्या के पास पहुँचते हैं तो रथ में दो ही चक्र¹¹⁷ रह जाते हैं, क्योंकि अब वह रथ केवल सूक्ष्म एवं स्थूल देह से सम्बद्ध है। इसका प्रमाण यह है कि सूर्या जब अपने प्रथम पति सोम के पास जाने के लिये आरोहण करती है, तो वह 'मनस्मय अन्' का प्रयोग¹¹⁸ करती है, जो सूक्ष्म-देह की गति है। कहने का तात्पर्य है कि हिरण्यय सोम तक जाने के लिये उसे ऊर्ध्वमन का आरोहण करना पड़ता है। पुनः जब वह उसी मन को अधोमुख कर अवरोहण करती है, तो कारणदेह स्तर की द्यौ नामक चेतना उसकी छत¹¹⁹ बन जाती है। शुद्धभूत सूक्ष्म एवं स्थूल देह के अन्तर्गत अन्तर्गत चेतना उसके शक्रों

अनड्वाहौ¹²⁰ कहे जाते हैं; क्योंकि वे दोनों ही अवरोहण करती हुई मनस्मय गाड़ी को खींचते हैं।

इस प्रकार, सूर्या को योग की वह चेतना शक्ति कह सकते हैं जिसे आगमों में 'उन्मनी' शक्ति रूप में विज्ञानमगकोश से आनन्दमय की ओर से आरोहण करने वाली तथा वहीं से 'समनी' शक्ति रूप में अवरोहण करने वाली माना गया है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि सूर्या के दो चक्र तो ऐसे हैं जिन्हें ब्रह्माणः (साधक) सामान्यतः भी जानते हैं। परन्तु तृतीय चक्र के कारणदेह में स्थित होने से उसे केवल पहुँचे हुए योगी (अद्वैतयः) ही जान सकते हैं।¹²¹ इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सूर्या जिस पतिगृह को आरोहण करती है वह वस्तुतः 'सुवृतं सुचक्रं' तथा 'हिरण्यवर्णम्' कहलाने वाला 'अमृतस्य लोकम्' है।¹²² इस व्याख्या के आधार पर, सूर्या का प्रथम पति जहाँ कारणदेह का सोम हो सकता है, वहाँ उसका द्वितीय पति विज्ञानमय पुरुष है, जो आरोहण एवं अवरोहण की द्विविध गति (गम्) का 'धर्व'¹²³ (हिंसा या धारण) होने से गन्धर्व कहलाता है। इनके अतिरिक्त प्राणमयकोश की प्राणाग्नि को तृतीय और अन्नमयकोश में उसी के अनेक रूपान्तरों को सूर्या के 'मनुष्यजाः' पति कहा जा सकता है :—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ऋ.10.85.40

अनः, अनड्वाहौ और अनड्वाह

सूर्या का उक्त आरोहावरोह जिस 'अन' द्वारा होता है वह मूलतः वही अन नामक शक्ति प्रवाह है, जो स्थूलस्तर पर प्राण, अपान, व्यान समान और उदान में रूपान्तरित होता है और सूक्ष्म-स्तरों पर 'मनस्मय अनः' कहा जाता है।¹²⁴ यह 'मनस्मय अनः' अपेक्षाकृत स्थिर भी हो सकता है और सतत चंचल भी रह सकता है। अतः अनः को जब 'अनट्' रूप में कल्पित किया गया, तो उसमें 'अन्' तथा 'अत्' धातुओं का योग मानकर 'अन्' से अपेक्षाकृत स्थिरता की सम्भावना और 'अत्' से सातत्यगमन का प्रावधान कर लिया गया। इस प्रकार प्रथम से सत्यं तथा द्वितीय से ऋतम् की ओर संकेत कर दिया गया। ऋतम् और सत्यम् के चक्रों पर चलने वाली इस अनट् को वहन करने वाला 'अनड्वह' कहा गया। ब्राह्मणग्रन्थों¹²⁵ के अनुसार अग्नि अथवा वह्नि ही अनड्वान् है। निस्संदेह अग्नि आत्मा के ज्ञानपरक पक्ष का प्रतीक होने से सत्य और ऋत् का बोध कराने वाला वाहक हो सकता है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त (11.6(4)13) में जब 'प्राणो अनड्वान्' की घोषणा होती है, तो उससे अग्नि प्राण¹²⁶ ही अभिप्रेत समझना चाहिये।

इस प्रसंग में अथर्ववेद का अनड्वान् सूक्त¹²⁷ विशेष रूप से विचारणीय है, क्योंकि वहाँ व्यष्टिगत आत्मा (इन्द्र) ही अपने वर्णात्मक रूप की दृष्टि से अग्नि है, जबकि 'वह' नामक प्रवाही शक्ति पक्ष से 'सोम' अभिप्रेत प्रतीत होता है।¹²⁸ सोम रेतस् माना गया¹²⁹ है। इसलिये यहाँ इन्द्र ही 'रूप' के द्वारा अग्नि; सोम के द्वारा (वहेन) प्रजापति, परमेष्ठी तथा विराट् होकर क्रमशः विश्वामित्र, विश्वानर तथा

अनड्वान् रूप में पहुँचता है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण सृष्टि को सुदृढ़ करके धारण करता है : —

इन्द्रो रूपेणाग्निः वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।

विश्वानरे अक्रमते, वैश्वानरे अक्रमतानडुहि अक्रमत्॥ शौ. 4.11.7

अनड्वान के मध्य भाग में उक्त 'वह' (प्रवाही रेतस्) स्थित है और समान मात्रा में 'प्राचीन' एवं 'प्रत्यक्' रूप में क्रमशः आरोह-अवरोह करने वाला है।¹³⁰ आरोहण करने वाला प्राण पूर्वोक्त 'मनस्मय अनः' को सूक्ष्म देह की ओर आकर्षित करता है, तो अवरोहण करने वाला प्राण उसे स्थूल देह की ओर। इसी दृष्टि से पहले सूक्ष्म और स्थूलदेहगत प्राण को सूर्या के 'मनस्मय अनः' के दो 'अनड्वान' माना गया है। अपने ऊर्ध्वगामी और अधोगामी रूप में यह अनड्वान युग्म है, जो अपने प्रथम रूप में लोकसृष्टि करता है और द्वितीय से प्रजा-सृष्टि का साधन बनता है। जो अनड्वान से सप्तलोकों का दोहन करता है, वह सप्तर्षिवत् लोकसृष्टि तथा प्रजासृष्टि के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है :—

यो वेदानडुहो दोहान् सप्तानुपदस्वतः ।

प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः॥ शौ. 4.11.9

अनड्वान के उक्त पक्षों के विषय में एक अन्य कल्पना भी प्राप्त होती है, तदनुसार ऊर्ध्वगामी पक्ष अनड्वान है, जो अवसाद (सेदिम) को नीचे की ओर धकेल देता है और अधोगामी पक्ष 'इरा' नामक उर्वरा भूमि (प्रेरक शक्ति) का कर्षण करने वाला 'कीनाश' (कृषक) है। ये दोनों ही श्रम द्वारा व्यक्तित्व के लिये उपयोगी अन्न (कीलाल) को उगाते हैं।¹³¹ इस प्रकार, अनड्वान के दोनों पक्ष अन्नमय से हिरण्यकोश पर्यन्त द्वादश अन्नदाताओं का रूप ग्रहण कर लेते हैं जिन्हें दानार्थक 'रा' धातु से निष्पन्न रात्रिनाम देकर प्रजापति की द्वादश रात्रियाँ कहा जाता है—रात्रि भी ऐसी जिसका साक्षात्कार करना ही 'अनडुह व्रत' माना गया है :—

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।

तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनुडुहो व्रतम्॥ शौ. 4.11.11

ब्रह्मज्ञान की ज्योति प्रदान करने वाले इन द्वादश अनड्वह पक्षों को रात्री कहना तो केवल काव्योचित चमत्कार या विनोद-मात्र है अतः इन्हीं को द्वादश दिन कहकर कर्मकाण्ड में, द्वादश-व्रत के रूप में, 'द्वादशाह' नामक सत्र का विधान भी है तथा उसे 'सत्राणाम् वर्ष',¹³² 'ज्येष्ठ यज्ञ',¹³³ प्रजापति यज्ञ¹³⁴ अथवा स्वयं प्रजापति¹³⁵ ही माना गया है। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्पष्टतः कहा गया है कि इस अनड्वान को जो व्यक्ति सायं, प्रातः तथा माध्यन्दिन में दुहता है और फिर उन सब दोहों को समाधि में संयत करता है वही उस अविनाशी के दोहनों का मर्म समझता है :—

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे माध्यन्दिनं परि।

दोहो ये अस्य संति तद् विद्यामुपादयात्। शौ. 4.11.12

वस्तुतः यह अनड्वान् इन्द्र परमेश्वर ही है, जो स्वयं 'सुप्रजाः' होकर ऊपर (उदारे) अतिदूरस्थ लोक में स्थित रहते हुए भी मनुष्यों के भीतर देदीप्यमान 'तप्तधर्म' (आतप) के रूप में जन्म लेकर गतिशील है। इस अनड्वान् का ज्ञाता न तो संसरण करता है और न फल भोगता है:—

इन्द्रो जातो मनुष्येषु अन्तर्धर्मस्तप्तश्चरति शोशुवानः।

सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन्॥ शौ.4.11.3

ज्ञानी पुण्यात्मा के सुकृत लोक में वह अनड्वान् (परमेश्वर) दूध दुहता है, ऊपर से पवमान पर्जन्य उसके लोक को आप्यायित कर देते हैं:—

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्यायति पवमानः पुरस्तात्।

यह पवमान पर्जन्य तथा उसका दोह एवं ऊधस् क्या है, इस समस्या का समाधान मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार है:—

पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य॥ शौ.4.11.4

अर्थात् पवमान पर्जन्य की धारायें मरुतः हैं। इन धाराओं में प्रवाहित होने वाला पयस् वह दक्षता या शक्ति (दक्षिणा) है जिसे इसका 'दोह' कहा जाता है, परन्तु इस समस्त आप्लावनशील दोहन का स्रोत (ऊधस्) वस्तुतः वह यज्ञ है जिसे यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही श्रेष्ठतम कर्म माना गया है और जिसे ब्राह्मणग्रन्थों ने द्वादशाह नामक ज्येष्ठयज्ञ अथवा प्रजापतियज्ञ कहा है। मनुष्य में जन्मे या अवतरित उक्त अविनाशी अनड्वान् की इस व्याख्या के आलोक में ही इस सूक्त के उस सारांश को हृदयंगम करना संभव है, जो प्रथम मन्त्र में इस प्रकार अभिव्यक्त है:—

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम्।

अनड्वान् दाधार प्रदिशः षड्वीरनड्वान् विश्वं भुवनामा विवेश॥ शौ.4.11.1

वह अनड्वान् 'विश्वम् भुवनम्' में प्रविष्ट है; पृथिवी और द्यौ को ही नहीं 'उरु अन्तरिक्ष' तथा छह उर्वी प्रकृष्ट दिशाओं को भी धारण किये हुये है।

उर्वी प्रदिशायें और उरु अन्तरिक्ष

प्रस्तुत मन्त्र में छह उर्वी प्रदिशाओं और उरु अन्तरिक्ष की उरुता का सम्भावित सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जब एक ही बृहत् (एकमित् बृहत्) 'षड् उर्वी' से सम्बद्ध कहा जाता है¹³⁶ अथवा सोम द्वारा उत्पादित 'षड् उर्वी' के साथ 'उरु अन्तरिक्ष' का भी उल्लेख होता है¹³⁷ या जब ऐसे देव के बारे में ज्ञात होता है जिसमें षड् उर्वी प्रदिशः निवास करती है¹³⁸ या फिर एक ऐसे स्कम्भ का परिचय प्राप्त होता है, जो द्यावापृथिवी और उरु अन्तरिक्ष सहित 'षड् उर्वी प्रदिशः' को धारण करता है,¹³⁹ तो षड् उर्वियों की उरुता उरु अन्तरिक्ष से सम्बन्धित प्रतीत होती है। अथर्ववेदीय सूक्त 9.2.11 का ऋषि कहता है कि जब 'काम' मेरे शत्रुओं का वध करता है और मेरे मित्र उरु अन्तरिक्ष को रक्षित करता है, तो मुझे चार प्रदिशायें नमस्कार कर सकती हैं और 'षड् उर्वी' घृत का आवहन कर सकती है।¹⁴⁰

इस उरु अन्तरिक्ष की तुलना 'षड्योगं सीरम्' से कर सकते हैं जो सामों का साम है और जिसकी अनुवर्ती न केवल 'षड् द्यावापृथिवी' है, अपितु 'षड् उर्वी' भी है।¹⁴¹ इसका अर्थ है कि मनुष्यव्यक्तित्व के छह कोशों के योग होने पर जो सप्तम 'सीरम्' बनता है वही 'उरु अन्तरिक्ष' है जिसके पश्चात् इन कोशों की चेतनायें ही सम्भवतः 'षड् उर्वी' हो जाती है।

परन्तु उक्त छह चेतनाओं के अतिरिक्त छह द्यावापृथिवी नामक युग्मों का भी उल्लेख है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन छह कोशों में से प्रत्येक में एक-एक द्यावापृथिवी नामक युग्म कल्पित किया गया है ? इसके उत्तर के लिये हमें द्यावापृथिवी की अवधारणा को जानना होगा।

सन्दर्भ

- 1 ऋ. 1.154.1
- 2 यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः। ऋ. 1.108.9-10
- 3 दृळ्हा चिद् विश्वाभुवनानि पार्थिवा प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना। ऋ. 1.64.3
- 4 आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा। ऋ. 4.53.3
- 5 तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिष्ठ इन्वति। ऋ. 4.53.5
- 6 शौ. 10.2.32
- 7 ऋ. 3.22.2
- 8 ऋ. 3.22.3
- 9 ऋ. 3.11.3
- 10 ऋ. 1.13.11; 2.5.1
- 11 ऋ. 9.64.10
- 12 ऋ. 6.15.2
- 13 ऋ. 9.29; 30
- 14 ऋ. 1.54.7; 1.130.1; 1.174.1; शौ. 20.11.7; 17.9
- 15 द्र. टि. सं. 8 पृ. 136
- 16 तु. सोम के लिये प्रयुक्त 'मधूर्मि' (ऋ. 3.47.1), मधुमत्तम (ऋ. 9.63.16); मदच्युत (9.98.3) जैसे विशेषण।
- 17 ब्रह्म वै त्रिवृत्। जै. 2.132
- 18 ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत्। तैसं. 2.3.3.1; काठ. 20.13
- 19 ऋ. 1.108.3
- 20 ऋ. 7.104.1
- 21 ऋ. 1.93.1
- 22 वही 2
- 23 अविन्त ज्योतिरेकं बहुभ्यः। ऋ. 1.93.4
- 24 अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानो उरुं यज्ञाय चक्रथुरुलोकम्। ऋ. 1.93.6
- 25 ऋ. 1.93.8
- 26 ऋ. 4.16.12
- 27 ऋ. 7.25.5
- 28 ऋ. 10.35
- 29 'कुत्स' अवक्षेपणे सा. भा. 10.165
- 30 ऋ. 1.94.1

- 31 ऋ. 1.96.1-8
- 32 ऋ. 1.97.1-8
- 33 सनत् सूर्य सनत् अपः । ऋ. 1.100.18; 101. 2
- 34 ऋ. 1.101.5
- 35 ऋ. 1.101.7
- 36 ऋ. 1.101.8
- 37 ऋ. 1.101.9
- 38 ऋ. 1.102.1
- 39 ऋ. 1.102.2
- 40 ऋ. 1.102.3
- 41 ऋ. 1.102.4
- 42 ऋ. 1.102.5
- 43 ऋ. 1.102.11
- 44 ऋ. 1.104.1
- 45 ऋ. 1.104.2
- 46 यत् ससन्तं वज्रेणाबोधय अहिम् । ऋ. 1.103.7
- 47 ऋ. 1.103.4
- 48 ऋ. 1.103.1-3
- 49 द्र. ऋ. 1.105 का सा. भा. में उद्धृत आख्यान
- 50 ऋ. 1.105.17
- 51 ऋ. 1.105.16
- 52 ऋ. 1.105.19
- 53 ऋ. 1.87.1
- 54 ऋ. 8.7 .24
- 55 स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत् । त्रि शीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन्तः ससृजे त्रितो गाः ॥ ऋ. 10.8.8
- 56 असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन । असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥ ऋ. 1.163.3
- 57 शौ. 5. 1 .1
- 58 शौ. 5. 1. 2
- 59 वैदिकदर्शन, पृ. 26
- 60 ऋ. 10 .90. 16
- 61 ऋ. 1.164. 50
- 62 ऋ. 10.46.3
- 63 ऋ. 9.102.2
- 64 ऋ. 2.35.10
- 65 ऋ. 2.35.11
- 66 त्रितेषु विन्दतमृतं निगूढम् ऋ. 6.44.23
- 67 अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तमायत् । अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्द्रमुष्णादशिवस्य मायाः ॥ ऋ. 6.44.22
- 68 अयं द्यावापृथिवी विष्कम्भायदयं रथमयुनवसप्तरश्मिम् । अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥ ऋ. 6.44. 24

- 69 इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निवाळह ऋषिः अहत् ऊतये। रथं न दुर्गात्
वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अहंसो निष्पर्तन॥ ऋ. 1.106.1
- 70 य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे। तेना यातं सरथं
तस्थिवांसाथा सोमस्य पिबतं सुतस्या॥ ऋ. 1.108.1
- 71 ऋ. 1.110.3
- 72 ऋ. 1.110.4
- 73 द्र. 'ढाई अक्षर वेद के', पृ. 100; ले. डॉ. फतहसिंह
- 74 ऋ. 1.111.3
- 75 ऋ. 1.111.4
- 76 उदीर्ध्व जीवो असुर्न आगादप प्रागत्तम आज्योतिरेति। ऋ.1.113.16
- 77 ऋ. 1.113.19
- 78 ऋ. 1.115.1
- 79 ऋ. 4.26.1
- 80 ऋ. 8.1.11
- 81 ऋ. 1.112.23
- 82 त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये। दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा
अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥ ऋ. 7.19.2
- 83 लुशो धानाक ऋ. 10.35;36 के द्रष्टा ऋषि है।
- 84 मही द्यावापृथिवी चेत तामपः। ऋ. 10.35.1
- 85 वित्तं मे अस्य रोदसी। ऋ. 1.105.1-18
- 86 यदरोदीत् तदनयोः रोदस्त्वम्। तै. 2. 2. 9. 4
- 87 ऋ. 10.36.3
- 88 ऋ. 1.105.19
- 89 ऋ. 9.97.45-46
- 90 ऋ. 9.97.48
- 91 ऋ. 9.97.49
- 92 रथं न दुर्गादवसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अहंसा निष्पिर्तन॥ ऋ.1.106.1-7
- 93 प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः। दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः
स इष्टिमिर्मतिभीः रंह्यो भूत्॥ ऋ. 2.18.1
- 94 सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुष्यः स होता। अन्यस्या गर्भमन्य ऊ
जनन्त सो अन्येभिः सचते जैन्यो वृषा॥ ऋ. 2.18.2
- 95 ऋ. 2.18.3-6
- 96 द्र. 'वेदों में हिरण्य का प्रतीकवाद' (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ)
- 97 ऋ. 1.118.1-2
- 98 ऋ. 1.157.4
- 99 ऋ. 4.45
- 100 ऋ. 4.45.4
- 101 ऋ. 4.45.3
- 102 ऋ. 5.74.9
- 103 ऋ. 1.180.2
- 104 ऋ. 1.112.21; 10.40. 6
- 105 ऋ. 10.106.10

- 106 ऋ. 9.1.8; 2.3; 11.5; 18.2 आदि.
- 107 ऋ. 10.41.2
- 108 ऋ. 1.87.2
- 109 ऋ. 8.58.3
- 110 ऋ. 8.58.2
- 111 ऋ. 4.44.4—5
- 112 ऋ. 1.35.2
- 113 ऋ. 9.107.4
- 114 ऋ. 9.85.11
- 115 ऋ. 10.85.9
- 116 ऋ. 10.85.14
- 117 ऋ. 10.85.15—16
- 118 ऋ. 10.85.12
- 119 ऋ. 10.85.10
- 120 वही
- 121 ऋ. 10.85.16
- 122 ऋ. 10.85.20
- 123 धर्व शब्द हिंसार्थक 'धुर' अथवा धारणार्थक 'धृ' धातु से निष्पन्न है विज्ञानमयकोश में आरोहावरोहण की गति में टूटना (हिंसा) तथा धारण करना दोनों का समावेश है।
- 124 अनो मनस्मयम्। ऋ. 10.85.12
- 125 अग्निरेष यदनङ्वान् (माश. 7.3.2.1), वह्निर्वा अनङ्वान्। तैसं. 2.2.10.5; 6.1.10.2; तै.1.1.6.10
- 126 तदग्निं वै प्राणः। जैउ. 4.11.1.11, प्राणो वा इन्द्रतमः अग्निः। तै.आ. 5.8.11
- 127 शौ. 4.11
- 128 शौ. 4.11.7
- 129 रेतःसोमः। काठ. 37.5; कौ. 13.7
- 130 मध्यमेतदनदुहो यत्रैष वह आहितः। एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः।। शौ. 4.11.8
- 131 पदिभः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्। श्रमेणानङ्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः।। शौ. 4.11.10
- 132 जै. 2.338
- 133 ऐ. 4.25
- 134 ऐ. 4.25
- 135 जै. 3.372
- 136 ऋ. 10.14.16
- 137 ऋ. 6.47.3
- 138 शौ. 13.3.1
- 139 शौ. 10.7.35
- 140 शौ. 9.2.11
- 141 शौ. 8.9.16

षड्द्यावापृथिवी, अन्य युग्म तथा बृहत् द्यौ

पूर्व अध्याय में उल्लिखित षड् द्यावापृथिवी से क्या अभिप्राय है ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिये शब्द के स्वरूप तथा निघण्टु में पठित अन्य द्यावापृथिवी नामों का अध्ययन करना होगा। षड् द्यावापृथिवी से यहाँ युग्म का बहुवचनान्त रूप ही ग्राह्य है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ द्यावा और पृथिवी में से प्रत्येक छह-छह बार अभिप्रेत हैं। निघण्टु में द्यावापृथिवी नामों में 'अहनी' भी संकलित है जिसका शाब्दिक अर्थ 'दो दिनों का युग्म' है, परन्तु साथ ही वह अहोरात्र के लिये भी प्रयुक्त होता है।² इसका तात्पर्य है कि द्यावापृथिवी को दो दिन (अहनी) भी कह सकते हैं और इस दृष्टि से 'षड् द्यावापृथिवीः' को पूर्वोक्त 'द्वादशाहः' की उस अवधारणा के मूल में भी मान सकते हैं जिसका वैकल्पिक रूप हमें 'द्वादश व्रत्याः रात्रीः' में भी प्राप्त हुआ और जिसे हमने षाट्कौशिक व्यक्तित्व के सन्दर्भ में ग्रहण किया। इसका तात्पर्य है कि द्यावापृथिवी को भी मनुष्य-व्यक्तित्व की वे बारह चेतनाधारायें माना जा सकता है जिन्हें हमने 'द्वादश व्रत्याः रात्रीः' कहा और जो विकल्प से द्वादशाह की अवधारणा के मूल में भी सिद्ध हुई।

पूर्वाग्रह-निराकरण की आवश्यकता

इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में महती बाधा के रूप में वह पूर्वाग्रह उपस्थित होता है, जो वेद की उस याज्ञिक व्याख्या के कारण बद्धमूल हो चुका है, जिसमें वैदिक तत्त्वज्ञान की अज्ञानतावश निरन्तर उपेक्षा होती गई। यह पूर्वाग्रह, आधुनिक वैदिक विद्वानों में भी नित नवीन रूप ग्रहण करता जा रहा है। आधुनिक विद्वान् यह तो मानते हैं कि वैदिक भाषा की ही यह विशेषता है कि इसमें बहुत से देवता युग्मरूप में स्तुत हुए हैं, परन्तु वे इस बिन्दु पर गम्भीरता से विचार नहीं करते कि वैदिक भाषा की यही नहीं, अपितु डॉ. फतहसिंह के शब्दों में ऐसी अन्य विशेषताएँ भी हैं जो विलक्षण वैदिक तत्त्वज्ञान को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये प्रयुक्त हुई प्रतीत होती हैं; उदाहरणार्थ लेटलकार। इस लकार का प्रयोग तीनों कालों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। उक्त विद्वान् के अनुसार वैदिक तत्त्वज्ञान में कुछ विचारबिन्दु ऐसे थे जिन्हें भूत, भविष्य अथवा वर्तमान में से किसी एक काल में सीमित नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार 'द्यावापृथिवीनामानि' में ऐसे वैदिक शब्द भी हैं जो द्यावा और पृथिवी को मूलतः एक ही तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त करते प्रतीत होते हैं; उदाहरणार्थ द्विवचनान्त 'अदिती' शब्द को ले सकते हैं जो अपने एकवचनान्त रूप में एक अखण्ड सत्ता का द्योतक है। इसी श्रेणी के द्यावापृथिवी नामों में 'स्वधे', पुरंधी और धिषणे जैसे द्विवचनान्त शब्द भी हैं। स्वयं 'पृथिवी' शब्द भी अपने द्विवचनान्त रूप में द्यावापृथिवी युग्म का एक नाम माना गया है, क्योंकि एक ऐसी भी पृथिवी है, जो दो अर्धों में विभाजित होती हुई मानी गई है :-

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः।

शौ.8.9.1

अन्य देवता-युग्म

द्यावापृथिवी के अतिरिक्त लगभग द्वादश देवता-युग्मों का स्तवन साठ ऋग्वेदीय सूक्तों में हुआ है। इन युग्मों में इन्द्र का नाम सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है, जैसे - इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणौ, इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृहस्पती, इन्द्रापूषणा और इन्द्रावायू। इसके अतिरिक्त इन्द्रानासत्या ऐसा शब्दयुग्म है जिसमें पद तो दो ही हैं (इन्द्र और नासत्या), परन्तु इन्द्र और दो नासत्यो से मिलकर तीन देवता हो जाते हैं। क्या पूर्वोद्धृत मन्त्र की पृथिवी की भांति यहाँ इन्द्र को दो नासत्यो में विभक्त हुआ मानकर पुनः उन दोनों से संयुक्त हुआ मानें ? ऋ. 8.26.8 में इन्द्रानासत्या के लिये प्रयुक्त सचनस्तमाः विशेषण किसी विशिष्ट अभिप्राय की ओर इंगित करता है :-

आ मे अस्य प्रतीव्यमिन्द्रानासत्या गतम्।

देवा देवेभि सचनस्तमाः॥ ऋ. 8.26.8

‘षच् समवाये’ धातु से निष्पन्न मानकर सायण ने इस पद का अर्थ ‘अतिशयेन सर्वे समवेतव्यौ’ किया है।³ मन्त्र में ‘देवा देवेभिः सचनस्तमा’ कहकर ‘इन्द्रानासत्या’ के अन्तर्गत अद्वैत, द्वैत और बहुत्व के अद्भुत समवाय की परिकल्पना स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

यद्यपि मन्त्र संख्या की दृष्टि से मित्रावरुणौ युग्म को अत्यन्त महत्ता प्राप्त है⁴, परन्तु द्यावापृथिवी का प्रयोग मन्त्रों में सर्वाधिक हुआ है। इसी से प्रेरित होकर मैल्डॉनल जैसे विद्वानों ने यह मान लिया कि, “इन सभी युग्मों की रचना द्यावापृथिवी के आधार पर हुई थी और इसका कारण यह था कि आदिमकालीन चिन्तन में पृथिवी और आकाश इतने अधिक संवलित रूप में सम्बद्ध थे कि उनके पति-पत्नी भाव की गाथायें आदिम जनों में उभर आई थीं।” यह मत इस भ्रान्त धारणा पर आश्रित है कि “वेद आदिम जनों की रचनायें हैं और उनमें प्रयुक्त द्यौ आदि शब्दों का एकमात्र अभिधेयार्थ की सर्वत्र ग्राह्य है”।⁵ इस उद्भावना में उन अनूठे प्रयोगों को सर्वथा नकारा गया है जिनके द्वारा वैदिक तत्त्वज्ञान की विलक्षण अवधारणाओं को अभिव्यक्ति देने के लिये भाषा को अनेक प्रकार से सजाया गया, जिनमें से एक देवताद्वन्द्व परम्परा भी हो सकती है।

अभिधेयार्थ और प्रतीक

इस कथन से यह कदापि अभिप्रेत नहीं है कि वेद में भूतपिण्ड आकाश और पृथिवी का उल्लेख नहीं है। वैदिक भाषा में भी पृथिवी उस गोले का नाम है जिस पर सभी प्राणी निवास करते हैं और द्यौ उस व्यापक रिक्तस्थान का नाम है, जो पृथिवी के ऊपर सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रों से खचित दृष्टिगोचर होता है। इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थ⁶ ‘परिमण्डलोऽयं लोकः’ कहकर पृथिवी के गोल आकार की ओर संकेत करता है, तो आकाश के लिये शून्यार्थक ‘खम्’ नाम का प्रयोग भी वैदिक ग्रन्थों⁷ में प्राप्त होता है, किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों से यह नहीं समझना चाहिये कि वेद में द्यौ और पृथिवी शब्द सर्वत्र इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और उन्हें किसी प्रतीकवाद का माध्यम नहीं बनाया गया। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि

यदि वेदविद्या को उक्त अभिधेयार्थ ही सदा अभीष्ट होता तो निघण्टु के द्यावापृथिवी नामों में चमू, पाश्र्वौ, गम्भीरे, घृतवती, अम्भसी, नभसी, रजसी, रोदसी, धिषणे तथा पुरंधी जैसे नाम क्यों संकलित होते ? द्यावापृथिवी के लिये भूरिरेतसा विशेषण का प्रयोग मन्त्रों में क्यों होता ? क्यों दोनों को 'अचरन्ती अपदी' होते हुए भी 'पद्मन्तं गर्भं को धारण करने वाला' अथवा किसी 'मनुर्हितम् रेतस्'⁹ का चिन्तन करने को कहा जाता ? इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में 'प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी'¹⁰ का अनेक बार कथन तथा 'हरी विपक्षसा'¹¹ कहकर इन्द्र के पक्षहीन अश्व के रूप में उन्हें प्रस्तुत करना अनेक शंकाओं को जन्म देता है, क्योंकि अन्यत्र इन दोनों अश्वों को 'ऋक् साम'¹² तथा 'पूर्वपक्ष अपरपक्ष'¹³ कहकर स्मृत किया गया है।

‘स्वधे’ युग्म का आध्यात्मिक परिवेश

इस प्रसंग में निघण्टु में पठित द्यावापृथिवी नामों पर भी एक विहंगम दृष्टि डाली जा सकती है। प्रथम द्यावापृथिवी नाम ‘स्वधे’ है जिसका अर्थ ‘स्व को धारण करने वाला युग्म’ है। निघण्टु में एकवचनान्त स्वधा शब्द उदक तथा अन्न नामों में परिगणित है, तो क्या वहाँ द्यावापृथिवी को स्वधे कहने का अभिप्राय उदक और अन्न से है? इसमें कोई संदेह नहीं कि उदक और अन्न दोनों अपने अभिधामूलक अर्थ में भी मनुष्य के ‘स्व’ को धारण करने वाले कहे जा सकते हैं, परन्तु ये दोनों द्यावापृथिवी कदापि नहीं हो सकते। शतपथब्राह्मण¹⁴ स्वधा को रस के अर्थ में ग्रहण करता है, परन्तु क्या आकाश और पृथिवी दो रस हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह पाते हैं कि वेद में कहीं भी उन्हें दो उदक या दो अन्न नहीं कहा गया।

अतः यह स्पष्ट है कि द्यावापृथिवी के अभिधेयार्थ मात्र को ग्रहण करना उचित नहीं। निघण्टु में पठित चौबीस द्यावापृथिवीनामधेयानि को भौतिक आकाश और पृथिवी मानने से मन्त्रों का वास्तविक अर्थ उद्घाटित नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये, ऋ. 9.86.10 को ले¹⁵:-

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रियं, पिता देवानां जनिता विभूवसुः ।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं, मदन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥

यहाँ ‘स्वधयोः’ के स्थान पर यदि ‘द्यावापृथिव्योः’ (भौतिक) को रखकर विचार करें कि इन दोनों का वह गुह्यरत्न क्या होगा, जिसे ‘मदन्तम इन्द्रिय रस’ (सोम) धारण करता है ? वस्तुतः इस रहस्यमय रत्न की पहिचान तभी हो सकती है जब हम ‘स्व’ को धारण करने वाले द्यावापृथिवी का पता लगा सकें। अथर्ववेद के अनुसार विराज् वाक् नामक चेतना-शक्ति जब विभिन्न लोकों की यात्रा करती हुई पितरलोक में पहुँचती है, तो पितर उसे ‘स्वधे’ कहकर सम्बोधित करते हैं।¹⁶ ब्राह्मण-ग्रन्थों में द्यौ और पृथिवी को पृथकतया वाक् कहा गया है।¹⁷ इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त ‘स्वधयोः’ को भी किसी वाक् युग्म के अर्थ में लिया जा सकता है; अतः यहाँ स्वधयोः पद से जो द्यावापृथिवी अभिप्रेत है वह वाक् नामक चेतना के दो पक्षों का बोधक है न कि हमारे धरती-आकाश युग्म का।

इस प्रकार, द्यावापृथिवी की कल्पना को वह आध्यात्मिक परिवेश प्राप्त हो जाता है जिसमें यह युग्म स्व को धारण करने वाला चेतना-युग्म (स्वधे) कहा जा सकता है। इस दृष्टि से द्यावापृथिवी को प्राणोदानौ कहना भी सार्थक हो सकता है; क्योंकि समञ्चन-प्रसारण करने वाला¹⁸ मूल प्राण ही एक दृष्टि से ऊर्ध्वगामी उदान है जिसे व्यान से ऊर्ध्वमुखी गति करने वाला 'द्यौ'¹⁹ भी कहा जा सकता है, जबकि अन्य रूपों में (व्यानादि) प्रथन करने वाले उसी प्राण को पृथिवी कहा जा सकता है। इस प्रकार द्यौ तथा पृथिवी दोनों एक ही चेतना के दो पक्ष बन जाते हैं। इसीलिये इन दोनों को क्रमशः 'स्वराज'²⁰ तथा 'विराज'²¹ कहा जाता है। उस चेतना को पितरो ने जो स्वधा नाम दिया था वही अब इन दोनों (स्वराज और विराज) के युग्म रूप में द्यावापृथिवी का द्विवचनान्त नाम 'स्वधे' बन गया।

सु और सुदास्

स्वधा शब्द की इस व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में, पूर्वोक्त मन्त्र का 'अपीच्य' रत्न भी कोई आध्यात्मिक धन ही हो सकता है। इसी रत्न को जब अग्नि अनेक स्वधाओं द्वारा उत्पन्न करता है, तो वह 'वर्षिष्ठ रत्न' कहा जाता है जिसे द्यावापृथिवी चारों ओर (परितः) देखते हैं।²² सुदास् को प्रदत्त यह रत्न वही दिव्य 'सु' अथवा सुदेव्यम् है जिसे सुदास् तक पहुँचाने के लिये अश्विनौ किन्हीं प्रसिद्ध ऊतियों का प्रयोग करते हैं :-

याभिः सुदासे ऊहथुः सुदेव्यं, ताभिः ऊँ सु ऊतिभिरश्विनागतम्।

ऋ. 1.12.19

प्रस्तुत मन्त्रांश का द्वितीय चरण टेक रूप में सम्बन्धित सूक्त के तेईस मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इसमें 'ऊँ सु' न केवल सुदास् और सुदेव्यम् के 'सु' की ओर संकेत कर रहा है, अपितु उन ऊतियों के स्वरूप को भी प्रकाशित कर रहा है जिनके द्वारा उक्त सूक्त में अश्विनौ अपने अनेक पराक्रम दिखाने में समर्थ हैं। यहाँ 'ऊतिभिः' के पूर्व 'ऊँ सु' का पुनर्लेखन कर यह इंगित करने का प्रयत्न किया गया कि ये ऊतियाँ उसी 'ऊँ' की शक्तियाँ हैं जिसके 'सु' नामक दिव्य पक्ष से देव जन्मे और असु नामक पक्ष से असुर उत्पन्न हुए। अतः 'सुदेव्यम्' का अर्थ है ब्रह्म का वही 'सु' नामक दिव्य रत्न जिसे प्राप्त कर व्यक्ति 'सु' का वितरण करने वाला 'सुदाः' होता है।

यह 'सु' एक दृष्टि से वैदिक संस्कृति का मूल है, क्योंकि यह उस 'ऊँ' की ओर संकेत करता है जिसे वेदमन्त्रों में 'उ' अथवा 'ऊँ' रूप देकर 'अपीच्य' वर्णित किया है। इसी 'सु' को प्राप्त कर हमारा द्यावापृथिवी नामक चेतना-युग्म सुजन्मनी, सुचेतसा, सुरेतसा, सुदंससा, सुपेशसा, सुक्रते, सुभगे, सुचेतुना आदि अनेक विशेषणों से विभूषित होता है। यह विविध रूपों में परम देव के उस अंश को मनुष्यव्यक्तित्व में अवतरित करता है जिसके कारण यह चेतना युग्म 'देवपुत्रे' कहलाता है। इसी 'ऊँ सु' को प्राप्त कर हमारे व्यक्तित्व में दुरित का पलायन कराने वाली सुबुद्धि, सुविचार, सुकर्म, सुव्रत, सुसंकल्प और सुधर्म आदि उन सुप्रवृत्तियों का प्रवेश होता है जिनके कारण मनुष्य 'सु' का वितरण करने वाला 'सुदाः' ही नहीं अपितु सुदास्तर होने की आकांक्षा भी कर सकता है।

अर्यः सुदास्तराय

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि द्यावापृथिवी से सम्बन्धित यह सुदास् कोई ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष नहीं जैसी कि प्रचलित धारणा है। सुदाः का अभिप्राय ऐसे व्यक्तित्व से है, जो अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग होने से जीवनपर्यन्त निरन्तर 'सु' का दान करना चाहता है। इसी भावना से ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 'अर्यो सुदास्तराय' का घोष हुआ है।²⁴ अर्य वह व्यक्तित्व है, जो समाज रूपी पहिये (चक्र) का अर बनने के योग्य है। जिस प्रकार चक्र का प्रत्येक अर अन्य अरों के साथ एकजुट होकर चक्र पर आने वाले समस्त भार को वहन करने के लिये तत्पर रहता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने को उद्यत है उसे समाज रूपी चक्र का अर बनने योग्य अर्थात् अर्य कहा गया। सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजगता के कारण अर्य व्यक्तित्व सदा समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। अतः अर्य शब्द का बहुवचन में भी यही रूप रहता है। 'सु सह असति' (ऋ. 10.191.4) में निहित सु-सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतीक होने से अर्य व्यक्तित्व स्वतः ही 'सुदास्' है। वह सह-अस्तित्व में सु का साक्षात् प्रचारक है।

द्यावापृथिवी के दो स्तर

उसके सुदास्तर होने में द्यावापृथिवी नामक चेतना-युग्म के दो स्तरों का योग रहता है। प्रथमतः उसे 'उभा नर्या' कहा जाता है, तो द्वितीयतः 'उभे ऊती'।²⁵ दोनों स्तरों पर द्यावापृथिवी से अर्य को सुदास्तर बनाने में सहायता की अपेक्षा अभिव्यक्त हुई है। 'उभा नर्या' द्यावापृथिवी का सम्बन्ध उन मरुत्प्राणों से है जिन्हें 'नरः मर्याः' कहा जाता है जबकि 'उभे ऊती' को मूर्तिमान् मरुत्वान् ऊती इन्द्र²⁶ मान सकते हैं। यह स्तर 'ऊतयः' मरुतों से सम्बद्ध है जिन्हें 'नरः मर्याः' के विपरीत 'अमर्याः' कहा जाता है। एक प्रसंग में जब मरुतों को द्यावापृथिवी में आने का आग्रह किया गया, तो उक्त दोनों स्तरों को क्रमशः पूर्व और नूतन विश्व कहा गया।²⁷ इन दोनों में से 'ऊतयः मरुतः' का नूतन विश्व ही वह स्तर है जहाँ से सुदास् की रक्षा विश्व ऊतियों²⁸ द्वारा सम्पन्न हुई वर्णित है। यह ऊतियाँ ही वे बन्धुभूता वृष्टियाँ हैं जो इच्छाओं सहित सुदास् के लिये प्रवाहित होती हैं,²⁹ तो पूर्व विश्व के 'नरः मर्याः' भी निष्पाप और स्तुत्य हो जाते हैं।³⁰

द्यावापृथिवी के 'पूर्व विश्व' का यह स्तर ही रोदन से सम्बन्धित होने के कारण रोदसी नाम ग्रहण करता है।³¹ इस स्तर पर सुदास् व्यक्तित्व का मन रूपी अश्व वृत्र के पाश में आबद्ध होता है। वृत्रवध होने पर जब अश्व मुक्त होता है तभी सुदास् का बहु-आयामीय यज्ञ पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।³² रोदसी स्तर पर स्थित मनुष्य का अहं जब परमेश्वर इन्द्र की कृपा प्राप्त करता है, तभी वह अपने विश्वामित्र नामक 'देवजाः ऋषिप्राण' के ब्रह्मोदय से लाभान्वित होता है और तभी वेद उद्घोष करता है :-

'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।' ऋ. 3.53.12

विश्वामित्र के ब्रह्म से जिस भारत-जन की रक्षा की गई वह संकटापन्न सुदास है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जाता है कि सुदास दाशराज्ञ युद्ध में घिरा हुआ है जिसकी रक्षा इन्द्र करता है। दश इन्द्रियों की इन्द्रियलोलुपता से पीड़ित मनुष्य ही वेद का सुदास है, जो संकटों से आवृत हुआ रक्षा की याचना कर रहा है। इन संकटों का परिणाम वह रोदन है जिसके कारण हमारे द्यावापृथिवी नामक चेतनायुग्म को 'रोदसी' संज्ञा प्राप्त हुई। इसके अपाकरण के लिये यह आवश्यक है कि हमारा चेतना-युग्म व्यक्तित्व के स्व को धारण करने वाला (स्वधे) तथा व्यक्तित्व रूपी पुर को धारण करने वाला (पुरंधी) बना रहे। इन्हीं दो दृष्टियों से द्यावापृथिवी को क्रमशः स्वधे तथा पुरंधी अभिधान प्राप्त हुए हैं जो इस देवता युग्म के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

'धिषणे' और पूर्व रोदसी

इस नामों के समान ही द्यावापृथिवी का 'धिषणे' नाम भी उसके आध्यात्मिक परिवेश की ओर इंगित करता है। धिषणे का एकवचन धिषणा है, जो ब्राह्मणग्रन्थों³³ में वाक् अथवा विद्या के अर्थ में ग्रहण किया गया है। ऋग्वेद में धिषणा इन्द्र की बुद्धि है, जो मनुष्य की धी को निखारती है।³⁴ वह पुरन्दर इन्द्र को वृत्रवध के लिये प्रकाशित करती है।³⁵ द्विवचन में यही पद 'धिषणे' होकर उस द्यावापृथिवी का वाचक होता है जिसने अपने पुत्र देवों के साथ वृत्रघ्न इन्द्र को उत्पन्न कर दिया।³⁶ अन्यत्र स्वयं 'धिषणे' ही आज के लिये इन्द्र का निर्माण करते हैं।³⁷ धिषणे द्यावापृथिवी का 'नूतन विश्व' है, जबकि रोदसी पूर्व रूप। पूर्व रोदसी को जहाँ पतन से रोकने वाला चाहिये, वहाँ धिषणे को दो चर्मों के समान पृथक् पृथक् करके उनके मध्य वर्षणशील विश्व को रखने वाला चाहिये।³⁸ इसका अर्थ यह है कि 'धिषणे' मरुतों के पूर्वोक्त नूतन वर्षणशील विश्व को धारण करने वाला रोदसी-युग्म है, न कि रोदनशील रोदसी। जिस प्रजापति के रोने से द्यावापृथिवी का नाम रोदसी होता है³⁹ वह हमारा मन⁴⁰ है, जो शरीरकेन्द्रित अहंकाररूपी वृत्र से आक्रान्त होकर रोता रहता है। इस रोदनशील प्रजापति के राज्य में कार्यरत सभी प्राण रोने के कारण रुद्राः कहलाते हैं।⁴¹ इनका नाम 'मरुतः' कैसे हुआ ? इस विषय में एक आख्यान है⁴² :-

दिति और अदिति कश्यप की दो पत्नियाँ थीं। दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के पुत्र आदित्य कहलाये। इन्द्र दिति के अनेक पुत्रों का वध कर चुका था। अतः दिति ने तप द्वारा ब्रह्मा से वरदान प्राप्त किया कि उसके गर्भ से इन्द्रहन्ता पुत्र उत्पन्न हो। यह समाचार पाकर इन्द्र ने दिति के गर्भ में स्थित भ्रूण के सात खण्ड कर दिये। वे सातों रोने लगे। इन्द्र ने उनमें से प्रत्येक के सात-सात खण्ड कर दिये। अब वे उनचास खण्ड रो रहे थे। इन्द्र ने उन्हें चुप करते हुए 'मा रुत' कहा और उन्हें यज्ञ में भाग दिलाने का वचन दिया तब वे सब चुप हो गये। इन्द्र ने 'मा रुत' कहा था, इसलिए उनका नाम मरुत् पड़ा।

रोदसी, अन्त्योदात्त और आद्योदात्त

इस आख्यान द्वारा मरुतों की जो रोचक व्युत्पत्ति दी गई है वह इंगित करती है कि मनुष्यव्यक्तित्व का रोदसी नाम देने वाले रोदनशील प्राण भी शान्त

होकर उसमें परिवर्तन ही नहीं लाते, अपितु स्वयं भी यज्ञ में भाग पाने वाले दैवी विशः (अमर्त्या) हो जाते हैं। इस प्रसंग में, रुद्राः, मरुतः और रोदसी स्वरूप को जन्म देने वाले प्राणों की ओर संकेत किया गया और फिर उस रोदसी-स्वरूप में परिवर्तन लाने वाले रोदन रहित प्राणों की शम्-प्रधानता की ओर संकेत किया गया है। इस परिवर्तन को लाने वाले मरुतों की जो शक्ति है उसका नाम भी 'रोदसी' है, परन्तु आद्युदात्त द्विवचन रोदसी के स्थान पर उसे अन्त्योदात्त एकवचन रोदसी किया गया है।⁴³ यह अद्वैत रोदसी जहाँ मारुत रथ पर मरुतों के मध्य स्थित वर्णित हुई है वहीं मारुदगण को 'शर्धे रथेशुभं त्वेषम्' भी कहा है। सूक्त में वर्णित मन्त्र के क्रम में इस कथन का प्रयोजन यह है कि यहाँ शब्दों का अभिधेयार्थ ग्रहण कर यह न समझा जाय कि मरुदगण रथ पर आसीन कोई मनुष्य-समूह है और रोदसी उनके मध्य स्थित कोई स्त्री। दीप्त्यर्थक 'त्विष् घातु' से निष्पन्न त्वेष शब्द प्रकाशवाचक है। इसके प्रयोग द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि मरुदगण अथवा मारुत रथ वस्तुतः एक प्रकाशपुंज है और रोदसी उसमें निहित एक शक्ति।

एक अन्य मन्त्र में, इस रोदसी नाम को एक नई व्युत्पत्ति दी गई है :-

त इदुग्राः शवसा धृष्णुषेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके।

अध स्मेषु रोदसी स्वशोचिरायवत्सु तस्थौ न रोकः॥ ऋ. 6.66.6

इस मन्त्र के पूर्वपाद के अनुसार, उग्र मरुतों ने 'उभे रोदसी सुमेके' को सु से युक्त किया तो उनमें रोदसी नामक स्वदीप्ति आ गई और (उत्तरार्ध में वर्णित) वहाँ कोई 'रो' करने वाला बाधकतत्त्व (रोकः) नहीं रहा गया। इसका तात्पर्य है कि यह रोदसी (अन्त्योदात्त) नामक दीप्ति रोदसी-युग्म के सु-सम्पन्नता (सुमेके) भाव से परस्पर युक्त होने का परिणाम है और इसके आगमन के परिणामस्वरूप रुद्र मरुतों का 'रो' (रुत् अथवा रु) समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह रोदसी नामक दीप्ति 'रो' नामक बाधक तत्त्व⁴⁴ को दूर करने वाली सिद्ध होती है और मरुत् शब्द के नूतन निर्वचन को भी प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दों में, ध्यानयोग द्वारा शब्द करने वाले रुद्र प्राणों के शान्त होने पर मनुष्यव्यक्तित्व के दोनों स्तर एकीभूत होकर जिस रोदसी अदिति नामक अखण्ड चेतना को जन्म देते हैं वही स्व को धारण करने वाली स्वधा, पुर (व्यक्तित्व) को धारण करने वाली पुरंधी⁴⁵ तथा महः नामक तेज से तेजोमयी 'मही' जैसे वे अनेक नाम ग्रहण करती हैं, जो अपने द्विवचनान्त रूप में निघण्टु के द्यावापृथिवीनामधेयानि में भी परिगणित हैं।

रोदसी और पुरंधीवान् सोम

अन्य देवों से सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने और मानव के चेतना-सूत्र के जाल को समवेत रूप देने में द्यावापृथिवी के ये सभी नाम बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, कतिपय नामों पर सोम, इन्द्र और अग्नि के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, ये तीनों देवता जातप्रज्ञ अथवा जातवेदा आत्मा के अंगभूत हैं। इसीलिये जातवेदा को एक ऐसी सत्ता कहा जाता है जहाँ सोम को उदरस्थ किये इन्द्र अग्नि में स्थित है। इनमें से सोम आनन्दपरक, इन्द्र क्रियापरक और अग्नि ज्ञानपरक चेतना के धर्मोत्पत्ति हैं। अतः जब

सोम को पुरंधीवान् कहा जाता है, तो अभिप्राय उस आनन्दरूप सोमरस से होता है, जो मनुष्यदेह रूप पुर को धारण करने वाले चेतनायुग्म से युक्त है। मननशील आत्मा का शुचि यज्ञसाधन कहलाने वाला यह सोम बुद्धि द्वारा (धिया) क्षरित होता है⁴⁶ और स्वधारक स्वधे नामक चेतना-युग्म के अनुकूल गतिशील होता हुआ अध्वर (आध्यात्मिक यज्ञ) में कर्तृत्व-शक्तियों को आपूरित कर तथा मानसिक शक्तियों को विजित कर द्यावापृथिवी में स्थिर हो जाता है।⁴⁷ यहाँ द्यावापृथिवी के लिये चम्बो: नाम प्रयुक्त है, जो 'आचमन' शब्द के मूल में स्थित 'चम्' धातु से निष्पन्न है। मनुष्यदेह में सोमरस का आचमन करने वाला चेतना-युग्म, वस्तुतः हमारे मूर्धा तथा हृदय की संयुक्त इकाई है। इसीलिए पवमान सोम को मूर्धा तथा हृदय का संसीवन करके शीर्षतः प्रेरक रूप में वर्णित किया गया है।⁴⁸

यही सोम रोदसी नामक चेतनायुग्म को प्रकृष्ट जन्म देने वाला तथा उसका प्रेरक है। यही उक्त चमूद्वय रूप हाथों में दानार्थ समस्त आध्यात्मिक सम्पत्ति को लेकर गतिशील होता है। अभयदा यह सोम देहरूप पुर को धारण करने वाले जिस पुरंधी नामक द्यावापृथिवी में अवतरित होकर हमारे लिये आपः (शुद्ध प्राण) तथा स्वर्ज्योति-किरण रूप गायों का दान करता है वह भी उक्त चमू नामक द्यावापृथिवी का युग्म है।⁴⁹ किरणों रूपी गायों की विस्तृत ऊति के कारण वह उरुगव्यूति है। वह (सोम) वरुण, मित्र, इन्द्र, मारुद्गण, महान् इन्द्र (परमात्मा) तथा देवों को भी आनंदित करने वाला है।⁵⁰ सम्पूर्ण दुरितों का नाशक तथा सु की अभिव्यक्ति करने वाले वचन को देने वाला⁵¹ है। उक्त पुरंधीद्वय का रूप धारण करने वाली सोम की ही पुरंधी नामक चेतना है, जो ज्योतिर्किरण-रूप गायों की प्रेरक होने से 'गोजीरा' कही जाती है। इस पुरंधी द्वारा गति करता हुआ सोम अपनी शक्ति से हमारे अनाधार अन्तःकरण में ज्ञान-सूर्य और आनन्दपयस् को उत्पन्न करता है।

इस पुरंधीवान् सोम से सर्वाधिक प्रभावित हमारा वह रोदसी व्यक्तित्व होता है जिसमें मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों का समावेश होता है। इन्हीं को क्रमशः द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी माना जाता है। काम, क्रोध, मद, लोभादि के अनृत से प्रभावित होकर यह त्रिलोकी 'रोदसी' बनती है, तो उसमें श्वासोच्छ्वास करने वाला चेतना-युग्म रूप द्यावापृथिवी ही रहता है और अन्य सब पृष्ठभूमि में विलीन हो जाते हैं, परन्तु उक्त सोम रूप आनन्दरस से युक्त इन्द्र (आत्मा) मूर्धा तत्त्व रूप द्यौ को विज्ञानमयकोश से सम्बद्ध कर बृहत् बना देता है। रोदनशील श्वासोच्छ्वास सम्पूर्ण रोदसी नामक चेतनायुग्म की न्यूनता को दूर करता है, व्यानप्रधान प्राणमयकोश की अन्तरिक्ष रूप में पुनः स्थापना करता है और हृदय-तत्त्व को बहिर्मुखी प्रथन (विस्तार) प्रदान कर अन्नमय पृथिवी के स्थान पर एक पृथुला चेतनामयी पृथिवी को ले आता है :-

अवशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणादन्तरिक्षम्।

स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ. 2.15.2

दूसरे शब्दों में, इस प्रकार जब सोम पुरंधी-द्यावापृथिवी को समीचीनत्व प्रदान कर द्यौ (मनोमय), प्राणमय (प्राणमय) तथा पृथिवी (अन्नमय) को 'आयानि' कर देता (ऋ. 9.90.4) है, तो रुलाने वाली समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

द्यावापृथिवी की बाधाएं

ये बाधाएँ क्या हैं ? इस प्रश्न के समाधान के प्रयास में ज्ञात होता है कि रोदसी द्यावापृथिवी का सम्बन्ध किसी ऐसे भयंकर रोदन से है⁵² जो उसमें स्थित प्राणों को भी रुद्राः, रुद्रासः या रुद्रस्य सूनवः नाम देकर उस रुद्र से सम्बन्ध कर देता है, जो कभी कभी 'रोने रुलाने वाला' कहा जाता है।⁵³ साथ ही 'रुद्राः' कहलाने वाले प्राण स्वयं भी रोदन से उत्पन्न⁵⁴ अथवा रुलाने वाले⁵⁵ कहे जाते हैं। अतः रोदन के इस व्यापक वातावरण को उत्पन्न करने वाली बाधाओं से पीड़ित कोई 'सबाध' साधक इन्द्रादि से अपनी बाधाओं को दूर करने के लिये प्रायः प्रार्थना करता हुआ मिलता है।⁵⁶ एक मन्त्र में, साधक द्यावापृथिवी के 'बृहती यजत्रे' रूप का ईडन (स्तवन) करता हुआ उन 'पूर्वे कवयः' का स्मरण करता है, जिन्होंने अपने समक्ष इस चेतना-युग्म के 'मही देवपुत्रे' रूप को रखा था—

प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी नमोभिः सबाध ईळे बृहती यजत्रे ।

ते चिद्धि पूर्वे कवयः गृणन्तः पुरः मही दधिरे देवपुत्रे ॥ ऋ. 7.53.1

अन्यत्र यह भी परामर्श दिया जाता है कि दोनों पूर्वज पितरों (द्यावापृथिवी) को ऋत् का सदन बना दो, जिससे हमारे द्यावापृथिवी दैव्यजन के साथ आयें।⁵⁷ तात्पर्य है कि दुरित् या अनृत ही वह मूल बाधक तत्त्व है, जो द्यावापृथिवी को रोदनशील रोदसी बनाता है। यही रोदसी की अपूर्णता है जिसे अपाकृत करने के लिये ऋ. 3.39.8 में प्रार्थना की जाती है। साथ ही, रोदसी के उस रूप को धारण करने के लिये कहा जाता है जिसे 'देवपुत्रे, मातरा तथा 'ऋतस्य यही' कहा जाता है⁵⁸ ।

दुरित् या अनृत नामक बाधा का मूलस्रोत अहंकाररूपी अहि (वृत्र) है जिसका अपाकर्ता इन्द्र है। इन्द्र को कभी 'ऊँ' भी कहा जाता है, जैसे ऋ. 1.61 के प्रारम्भिक तेरह मन्त्रों में इन्द्र के लिये 'ऊँ' का प्रयोग हुआ है। देवपत्नियों ने अहि की हत्या के लिये 'ऊँ' इन्द्र की अर्चना की, परन्तु जब द्यावापृथिवी ने इन्द्र (जीव) को अतिक्रान्त किया, तो वे उसकी महिमा के समीप भी नहीं पहुँच सके। जब द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष से उस इन्द्र की महिमा बढ़ गई तो स्वरि (सु+अरिः) अर्थात् सु का शत्रु स्वराट् होकर दमनयुक्त व्यक्तित्व में (दमे) युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गया⁵⁹ । परिणामतः वृत्र-वध हुआ और उसी से रोदसी (रोदनशील) द्यावापृथिवी के ऋतावरी, ऋतावृधा, देवपुत्रे आदि पक्ष उभरे, जो अनृत नामक महाभय से रक्षा हो सकी।

ऋ. 1.185 के मन्त्रों में 'द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्' की टेक द्वारा संक्षेप में इसी महाभय से रक्षा करने की याचना करते हुए कहा गया कि याचक के लिये रोदसी-युग्म ने अदिति के जिस अविनाशी धन को जन्म दिया उसे पहले उन दोनों ने स्थिर होकर एक नित्य पुत्र के समान गर्भ में धारण किया था।⁶⁰ यहाँ अदिति निस्संदेह पूर्वोक्त अखण्ड एवं अद्वैत स्वधा, पुरंधी या रोदसी है, जबकि द्यावापृथिवी युग्म के लिये निघण्टु में दिव्यचान्त 'अदिति' प्राद का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है कि रोदसी-युग्म जिस अविनाशी धन को जन्म देता है वह

वस्तुतः उस अखण्ड अदिति अथवा रोदसी की उपलब्धि है जिसे समाधिस्थ योगी की केन्द्रीभूत अखण्ड चेतना कह सकते हैं। इसे ही अन्यत्र⁶¹ अनेक गतिशील उषाओं में से उस गतिहीन प्रथमा उषा के रूप में वर्णित किया गया है जिसका गर्भ ऋत का पूरण और अनृत का निराकरण करने वाला है। निश्चय ही, यह गर्भ वह इन्द्र है, जो जायमान होते ही रोदसी-युग्म को सब प्रकार से परिपूर्ण कर देता⁶² है और वृत्रवध करके सम्पूर्ण बाधाओं को हटा देता है।⁶³

साधन-निर्माण और साध्य 'शम्'

दूसरे शब्दों में, यह सब योग-साधन निर्माण में ध्यानरत व्यक्तित्व (वपु) की कथा है, जो ऋ. 5.47 के संक्षेप रूप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। ध्यानस्थ 'वपु' विचित्र है जिसमें व्यान-प्राण रूप 'आपः' स्थिर रहते हैं, परन्तु सूक्ष्मतर उदान-प्राण की धाराओं रूपिणी नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं। महदाश्चर्य की बात यह है कि द्यावापृथिवी के जिन दो स्तरों का पूर्वोल्लेख हो चुका है, उनमें से एक स्तर पर तो ये दोनों चेतनायुग्म प्राणापानों के माध्यम से पूर्वोक्त अदिति माता के गर्भ के भरण-पोषण का काम करता रहता है और द्वितीय स्तर पर वे स्वयं पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने पर भी प्राणोदानों के माध्यम से 'यम्या सबन्धू' हो जाते हैं :-

इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।

द्वे यदी विभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्याः सबन्धूः॥ ऋ. 5.47.5

यहाँ जिनको 'यम्या सबन्धू' कहा गया है वे प्राक् और प्रत्यक् गति करने वाले प्राणोदानौ हैं⁶⁴ जिन्हें द्यावापृथिवी भी कहा जाता है⁶⁵। प्राणोदानौ ही ब्रह्मरेतस् का मनुष्य-व्यक्तित्व में सिंचन करते हैं। योगी के मनन-ध्यान से प्राप्य होने के कारण इसे मनुर्हितं रेतस् कहा गया जिसका सिंचन करने की प्रार्थना द्यावापृथिवी से की जाती है⁶⁶। उसकी प्रभूत मात्रा धारण करने पर वे दोनों भूरिरेतसा कहे जाते हैं। सुदीर्घ योगसाधना से इसका प्रभूत सिंचन हो जाने पर व्यक्ति की इन्द्रियचेतनाएँ (धियः) कर्मों का विस्तार करती हैं तो मानों माताएँ अपने पुत्र के लिये वस्त्र बुनती हैं। इसके साथ ही आनन्दवर्षक रेतस् के सम्पर्क से मुदित हुई चित्तवृत्तियाँ रूपी वधुएँ अति मानसिक स्तर (दिवस्पथा) की ओर गतिशील हो जाती हैं :-

वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयति।

उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ॥ ऋ. 5.47.6

यह प्रशस्त ब्रह्मरेतस् 'शम् योः' अर्थात् योगी का (योः) शान्ति बीज है। अतः वह व्यक्ति तक सीमित न रहे, अपितु हम सबके कल्याणार्थ उसका व्यापक उपयोग होना चाहिये, इसी दृष्टि से एक मन्त्र में मित्रावरुणौ और अग्नि से एक साथ याचना है कि उस युः (योगी) का यह प्रशस्त शम् हम सबके लिये हो और हम सब उसका प्रवेशस्थल (गाधम्) तथा आधार (प्रतिष्ठा) प्राप्त कर सकें :-

तदस्तु मित्रावरुणौ तदग्निं शो धारिस्मभ्यामिव मरुतुः सस्यम्॥

अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥ ऋ. 5.47.7

बृहद् द्यौ

मन्त्र के अन्तिम चरण में जिस 'बृहद् द्यौ सदन्' को नमस्कार किया गया उसे सर्वोच्च अतिमानसिक स्तर कह सकते हैं। इसके द्वारा यह संकेतित है कि उस शम् का प्रवेशस्थल तथा आधार वही अतिमानसिक स्तर है जिसे अन्य मन्त्रों में पूर्व पिता की योनि तथा अमृतनाभि भी कहा है।

यह बृहद् द्यौ ही वह द्यु है जिससे 'मही माता' अपनी दुहिता का बोध करती हुई तथा प्रकृष्ट योग का घोष करती हुई (प्रयुञ्जती ब्रुवाणा) आती है और उसके फलस्वरूप 'युवती मनीषा' पितृ-प्राणों के लिये आहूत होने पर सर्वत्र आलोक फैलाती हुई छा जाती है।⁶⁷ दूसरे शब्दों में बृहद् द्यौ की बृहती शक्ति अवतरित होकर अपनी उस आत्मजा चेतना का प्रबोध करती है, जो अतिमानसिक स्तर से मनीषा होकर मनोमय कोश की ओर जाती है, जिन्हें क्रमशः माता तथा दुहिता के रूप में यहाँ कल्पित किया गया है। बृहद् द्यौ की प्रमुख शक्ति होने के कारण उन्मनी ही बृहती है जिससे युक्त होकर आत्मा की बृहस्पति संज्ञा होती है। इससे प्रबोधित समनी शक्ति दुहिता तथा युवती मनीषा कही गई है, जो उन प्राणपितरों के लिये मनोमय कोश की ओर चल पड़ती है, जो मनुष्यव्यक्तित्व के निम्न स्तरों का पालन करने के कारण पितर कहलाते हैं। निम्न स्तरों पर आत्मा सेन्द्रिय मन द्वारा सक्रिय रहने वाला व्यष्टिगत इन्द्र है, जो साधना द्वारा बृहती से युक्त होकर न केवल 'इन्द्र बृहस्पति' हो जाता है, अपितु उस 'शम्' का भी अधिकारी हो सकता है जिसे 'युः' (योगी) का शम् कहा गया है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके 'शम् नो इन्द्रः बृहस्पतिः' कहा जाता है।

बृहती माता जब युवती मनीषा का बोध करती हुई अवतरित होती है, तो अपने साथ उस शम् को भी लाती है। निम्न स्तरों पर यह शम् 'तत् अपः' अर्थात् 'तत् सत्यम्' से युक्त कर्म में परिवर्तित होकर शमी (कर्म नाम) हो जाता है। इस निमित्त मूलतः शम् ब्रह्म रूपी बृहद् द्यौ या अमृत केन्द्र (अमृतस्य नाभिम्) पर स्थित रहने वाले अनन्त और उरु (बृहत्) सूक्ष्म प्राण गतिशील होकर उस 'तत् अपः' को प्राप्त होते हुए द्यावापृथिवी क्षेत्र में सर्वत्र प्रसृत अनेक पन्थ बन जाते हैं :-

अजिरासस्तदप ईयमाना आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम्।

अनन्तास उरवो विश्वतः सीं परि द्यावापृथिवी यन्ति पन्थाः ॥ ऋ. 5.47.2

मूलतः ये पन्थाः उक्त शम् नामक 'अमृतस्य नाभिः' से प्रसृत अनन्त-रश्मियाँ हैं। पूर्व पिता जीवात्मा का मूलस्थान (योनि) वही हिरण्यकोश है जिसे ब्रह्मात्म-सायुज्य का स्तर कह सकते हैं।⁶⁸ इसमें प्रविष्ट शं ब्रह्म को देदीप्यमान (अरुषः) सुपर्ण और एक ऐसा आनन्द-सेचक समुद्र अथवा द्यौ कहा गया है जिसके मध्य में निहित वह व्यापनशील (अश्मा) पृश्नि (वप्ता) गतिशील होकर 'रजस्' के दोनों अन्त (छोर) की रक्षा करता है :-

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।

मध्ये दिवा निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रम रजस पात्यन्ता ॥ ऋ. 5.47.3

यहाँ रजस् से 'उरु अन्तरिक्ष' अभिप्रेत है और उसके दोनों अन्त द्यौ तथा पृथिवी माने जा सकते हैं जिन्हें अन्यत्र⁶⁹ अन्तरिक्ष रूप ऊधस् के दो स्तन भी कहा है। रजस् के दो छोर होने के कारण ही द्यावापृथिवी को रजसी⁷⁰ भी कहा जाता है और उसी के विविध पक्ष दिव्य एवं पार्थिव रजांसि हैं जिनके अन्तर्गत समस्त आध्यात्मिक जगत् आ जाता है। ये रजांसि एक दृष्टि से उस द्यौ के अनेक पक्ष हैं जिसे पूर्वोक्त 'शम्' या बृहद् द्यौ कहा गया है। सक्रिय व्यक्तित्व के सन्दर्भ में कहें, तो इस शम् के गर्भ को अपने क्षेम के इच्छुक विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश धारण करते हैं और दश प्राण उसे गतिशील रखने के लिये उसका पोषण करते हैं। इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक त्रिधातुमयी शक्ति—रश्मि रूपी परमा गायेँ उस अन्तरिक्ष के सभी पक्षों में क्षिप्रतापूर्वक भ्रमण करती हैं।⁷¹

बृहद् द्यौ और परम पद

इस प्रकार ऋ. 5.47.4 में मनुष्यव्यक्तित्व के जिस केन्द्रभूत बृहद् द्यौ को प्रस्तुत किया गया है उसकी तुलना विष्णु के परम पद से कर सकते हैं। उसमें निहित मधु का उत्स⁷² उपर्युक्त 'शं योः' है, वहाँ जिन्हें 'भूरिशृंगा गावः'⁷³ कहा गया है वही यहाँ 'परमा गावः' होकर व्यापक रूप से विचरण करती हुई कही गई हैं। जिस प्रकार बृहद् द्यौ के इन्द्र (आत्मा) को 'ऊँ' कहा गया उसी प्रकार विष्णु भी 'ऊँ' है।⁷⁴ विष्णु से सम्बद्ध 'त्रिधातु'⁷⁵ तत्त्व ही उक्त 'त्रिधातवः परमा गावः' में विचारणीय है। जिस प्रकार इन्द्र का बृहस्पति रूप सम्पूर्ण मनुष्यव्यक्तित्व के उन सभी स्तरों को स्पर्श करता है जिनसे द्यावापृथिवी अपने द्वैत और अद्वैत रूप में सम्बद्ध है उसी प्रकार उरुगाय विष्णु भी। विष्णु के प्रसंग में एक 'उत्तरं सधस्थम्' है, दूसरा 'पार्थिवानि रजांसि' अथवा 'दीर्घं प्रयतं सधस्थम्' और तीसरा 'परमपद' है। इसी दृष्टि से जिस प्रकार विष्णु को 'त्रिषधस्थ'⁷⁶ कहा जाता है उसी प्रकार इन्द्र के बृहस्पति रूप⁷⁷ को भी।

शक्ति का एकत्व, युग्मत्व और बहुत्व

अतः परम पद या बृहद् द्यौ स्तर की जो चेतना अन्त्योदात्त रोदसी नाम से विख्यात है, वही निम्न स्तरों पर आद्योदात्त रोदसी नामक युग्म रूप ग्रहण करती है। प्रथम को बृहस्पति की बृहती शक्ति कह सकते हैं। आदि में वह एक बृहती वाक् (या रोदसी) होती है, जो निम्नतर स्तरों पर बृहती द्यावापृथिवी होती है। वही रोदसी युग्म रूप धारण करके तथा अनेकतामय रोदन क्रन्दन का अनृतपूर्ण वातावरण उत्पन्न करके रोदसी — क्रन्दसी कही जाती है। इस अनृतपूर्ण युग्म की एक अवस्था तो ऐसी होती है जब उसे ऋत के द्वारा शुद्ध पवित्र किया जा सकता है, किन्तु जब वह इन्द्ररहित द्रोहियों वाली 'मही' में परिणत हो जाता है, तो उसे दग्ध ही करना पड़ता है।⁷⁸

अनृत के बाहुल्य से द्यावापृथिवी के पूर्वोक्त दो स्तर 'असाधू' हो जाते हैं तो वे 'साधू' तभी हो सकते हैं जब इन्द्र बृहद् द्यौ से होने वाली वृष्टि का पोषण करता हुआ ⁷⁹ ~~असाधू~~ ⁷⁹ ~~साधू~~ तभी सम्भव है जब मनुष्य की चेतना रूपी पृथिवी अनृत के पक्षधर वृत्र के स्थान पर इन्द्र का वरण

करती है।⁸⁰ यहाँ पृथिवी से चेतना का वह समग्र रूप अभिप्रेत है, जो प्रथनम् के कारण पृथिवी नाम ग्रहण करता है। इस रूप में पृथिवी शब्द उस उरु अन्तरिक्ष का वाचक है जिसके अन्तर्गत द्यावाक्षामा और अन्तरिक्ष नामक चेतना स्तरों का भी समावेश होता है।⁸¹

अतएव निघण्टु के अन्तरिक्ष नामों में भी पृथिवी शब्द परिगणित है। मन्त्रों में पृथिवी के साथ द्यावा का भी प्रथन किया गया है।⁸² इसी दृष्टि से 'द्यावाक्षामा पृथिवी-अन्तरिक्षम्' जैसे प्रयोग की सार्थकता सिद्ध होती है। इस रूप में पृथिवी का सत्यावृत अमृत हृदय परम व्योम नामक स्तर पर वर्णित है और वह देशकाल से परे अग्रस्थान पर अतिमानसिक अर्णव से ऊर्ध्व सलिल रूप में स्थित कही जाती है जिसे मनीषी गण किन्हीं रहस्यात्मक माया-शक्तियों द्वारा ही जान पाते हैं। यद्यपि किसी भी उत्तम राष्ट्र में तेजस् और बल का आधान करने वाली यही भूमि है।⁸³

तत्त्वतः वह चेतना, स्वस्ति नामक अग्नि है जिसे दीप्ति के कारण द्यावा कह सकते हैं, तो 'प्रथनम्' के कारण पृथिवी भी। अपने युग्म में 'मही मातरा' तथा अनेकता की दृष्टि से उषाओं के रूप में भी कल्पित की जाती है।⁸⁴ साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि अन्यत्र द्यावापृथिवी को न केवल पितरौ कहा गया है, अपितु एक मन्त्र में इस युग्म के लिये 'मातरापितरा' समस्त पद प्रयुक्त हुआ है:-

न यस्य सातुर्जनितावारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ ।

अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु ॥ ऋ. 4.6.7

दो युग्मों का यह समस्तपद वैदिक वाङ्मय में अद्वितीय है। मन्त्र में एक ओर तो इन दोनों के जनिता अग्नि का उल्लेख है और दूसरी ओर उन अनेक मानुषी विशः का भी, जिनके मध्य आकर वह अग्नि दीप्तिमान् होता है। इस जनिता अग्नि को ही वह द्यौषिता जनिता कह सकते हैं जो ऋ. 4.1.10 में सत्य का सिंचन करता हुआ धी के माध्यम से 'विश्वे अमृता' (देवाः) का सृजन करता है। अतः यह वही पूर्वोक्त बृहद् द्यौ है जिसकी बृहती शक्ति दो युग्मों और अनेक उषाओं के रूप के प्रकटित कही गई है। यह वह 'ऊर्ध्व ऊँ सु' है, जो हमारे आन्तरिक अध्वर का 'होता' है और देवों की अनेकत्वमयी सृष्टि रूप में 'देवताता' कहलाता है। वही हमारे आन्तरिक मनोमय विश्व (मन्म) में छाया हुआ तथा 'वेधस्' की मनीषा का अतिक्रमण करने वाला भी है :-

ऊर्ध्व ऊ पु णो अध्वरस्य होतरग्ने तिष्ठ देवताता यजीयान् ।

त्वं हि विश्वमभ्यसि मन्म प्र वेधसश्चित्तिरसि मनीषाम् ॥ ऋ. 4.6.1

एकं सत् का विस्तार

अतएव यह बृहद् द्यौ अथवा 'ऊँ सु' नामक अग्नि वह परम सत् कहा जा सकता है, जो सभी देवों का पिता अथवा अनेक देवों की समष्टि के रूप में सतत स्थित होता है। ऋ. 2.1 में अग्नि को न केवल इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, रुद्र, सविता आदि देव अथवा मरुतों, आदित्यों का गण कहा गया है अपितु उसका समीकरण अदिती, इला, भारती, सरस्वती जैसी देवियों के साथ करते हुए कहा

गया है कि वह 'सुजात अग्नि' अपनी शक्ति द्वारा इन सबकी समष्टि और व्यक्ति होता हुआ भी उन सबसे प्रकृष्ट है। यहाँ जो 'पृक्ष'(अन्न) है उसका वैविध्य भी उसकी शक्ति और 'द्यावापृथिवी रोदसी उभे' द्वारा होता है।⁸⁵

देवता-युग्म और मरुतः

चेतना-युग्म का यह कार्य कितना रहस्यमय है, इस ओर एक द्यावापृथिवी सूक्त (ऋ.1.185) में प्रकाश डाला गया है। द्यावापृथिवी के युग्म में पूर्व कौन और अपर कौन है ? इन दोनों का जन्म कैसे हुआ ? कैसे ये दोनों आन्तरिक जगत् (विश्व) का भरण-पोषण करते हैं ? इन प्रश्नों को सूक्त के प्रथम मन्त्र में उठाते हुए, द्यावापृथिवी के लिये 'अहनी' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋ. 10.76.1 में इस शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से रोदसी युग्म के लिये, ऋ. 1.123.7 उपारात्री के लिये और ऋ. 5.82.8 में अहोरात्र⁸⁶ के लिये माना जा सकता है। परन्तु ऋ. 6.58.1 में पूषा को द्यौ के समान 'अहनी' होने वाला कहा गया है, जबकि 10.39.12 में दिवो दुहिता को 'उभे अहनी सुदिने' में परिणत होने वाला बताया गया है। पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्वोक्त बृहद् द्यौ अथवा उसकी बृहती शक्ति ही इस 'अहनी' नामक युग्म में परिणत होती है जिसे उपारात्री, अहोरात्र अथवा द्यावापृथिवी कहा जाता है।

हम पूर्व में चर्चा कर चुके हैं कि बृहद् द्यौ की इस शक्ति का ही एक नाम अन्त्योदात्त रोदसी है, जो मरुदगण अथवा मरुत रथ में स्थिर कहा जाता है, परन्तु जो अहं का मिश्रण और अमिश्रण करने वाली 'अहंयुः' होकर अपना नानारूपात्मक विस्तार करती है :-

प्र तं विवस्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति।

सचा यदी वृषमणा अहंयुः स्थिरा चित् जनीः वहते सुभागाः॥ ऋ.1.167.7

मरुतों की यही अहंयुः सत्य-महिमा अपने स्थिर रूप में 'अश्विनौ स्थातारा' का अहंपूर्व रथ है, जो नानारूपात्मक 'यजत' होने के लिये मन से भी अधिक वेगवान् हो जाता है।⁸⁷ इसी प्रकार 'अहंसन' इन्द्र अहं प्रदान करने वाला है; अतः उसी से मनुष्य विप्र या अविप्र हो जाता है।⁸⁸ अथर्ववेद में व्यक्तित्व की प्रथम अवस्था को एक देदीप्यमान अग्नि रूप 'अहमुत्तरत्व'⁸⁹ कहा जाता है जिसमें सभी आदित्यों सहित सविता का आह्वान होता है यह सनातन अहं की वह अवस्था है, जो मनुष्यव्यक्तित्व के सभी विश्वों का तिरस्कार कर देता है और जिसकी प्राप्ति के लिये अश्विनौ नामक चेतना-युग्म को 'अत्यायातम्' अर्थात् सम्पूर्ण नानात्व का अतिक्रमण करने के लिए⁹⁰ कहा जाता है। अतएव अहमुत्तरत्व के स्तर पर मरुतों की सत्य-महिमा, इन्द्र का अहंसनत्व और अश्विनौ के अहंपूर्व रथ का जो परस्पर सम्बन्ध दृष्टिगत होता है उसी को हम धिष्या अश्विनौ लिए प्रयुक्त इन्द्रतमा, मरुततमा और रथीतमा विशेषणों में पाते हैं; उदाहरणार्थ निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है :-

इन्द्रतमा हि धिष्या मरुततमा दसा दंसिष्टा रथ्या रथीतमा।

पूर्ण स्थ वहथे मध्व आचितं तन दाश्वसमुपयाथा अश्विनौ॥ ऋ.1.182.2

अन्य देवताद्वन्द्वों का गठबन्धन

इस मन्त्र में अश्विनौ के लिये प्रयुक्त 'धिष्ण्या' विशेषण पूर्वोक्त विवेचन पर एक नवीन उद्भावना को जन्म देता है। धिष्ण्या उस धिषणा का सजातीय है, जो द्विवचनान्त रूप में द्यावापृथिवी के लिये प्रयुक्त होता है। पहले कहा जा चुका है कि रोदसी जो कि द्यावापृथिवी का नाम है अपने अन्त्योदात्त रूप में उस शक्ति का वाचक है, जो मरुतों से अभिन्न है। मरुतों के सन्दर्भ से ही यहाँ अश्विनौ को 'मरुत्तमा' कहा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में जिस प्रकार द्यावापृथिवी को प्राणोदानौ कहा जाता है, उसी प्रकार 'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ' की उक्ति भी प्रसिद्ध है और साथ ही अश्विनौ को 'मित्रावरुणवन्ता'⁹¹ भी कहा जाता है।

उपर्युक्त विवरण से द्यावापृथिवी के साथ अन्य देवताद्वन्द्वों की घनिष्ठता उजागर हो रही है। एक ओर जहाँ प्राणोदानौ होने से द्यावापृथिवी और मित्रावरुणौ को समीकृत किया जा सकता है वहाँ दूसरी ओर मरुतों से सम्बन्ध रखने के कारण यही युग्म मरुत्तमा अश्विनौ के अतिनिकट आ जाता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि शतपथब्राह्मण अश्विनौ को द्यावापृथिवी ही स्वीकार करता है⁹² और यास्क विभिन्न मतों को उद्धृत कर कहते हैं कि अश्विनौ को द्यावापृथिवी के अतिरिक्त अहोरात्रौ एवं सूर्याचन्द्रमसौ कहने वाले विद्वान् भी थे।⁹³ इस विषय में जैमिनीय ब्राह्मण की दृष्टि और भी व्यापक है। उसके अनुसार पराक् और पूर्वाक् नाम से जो दो स्तोम हैं वही न केवल प्राणापानौ, अहोरात्रे, पूर्वापक्षापरपक्षौ, द्यावापृथिव्यौ, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ और अश्विनौ रूप में कल्पित हैं, अपितु इस प्रकार के जितने दैव्य मिथुन हैं वे सभी प्रकारान्तर से वही पराक् और पूर्वाक् स्तोमयुगल ही कहे जा सकते हैं।⁹⁴ इन सप्त मिथुनों को कभी-कभी सप्त स्तोम (माश. 9.5.2.8) भी कहा जाता है, यद्यपि इनमें से प्रत्येक में पराक् और पूर्वाक् नामक द्विविधता होती है। इस प्रसंग में, स्तोम शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा जैमिनीय ब्राह्मण⁹⁵ जिस तत्त्वज्ञान की ओर निम्नलिखित शब्दों में संकेत दे रहा है वह विशेषतः विचारणीय है -

स्तोम का स्तोमत्व

स (प्रजापतिः) इन्द्रमब्रवीत् कथं न्वह्य इतः पुनः अन्वाभवेयम् इति। किं वै तेऽस्तीत्यब्रवीत्। स्तो न्वै मे इमौ प्राणापानौ इति। यत 'स्तोम' इत्यब्रवीत् तत् स्तोमस्य स्तोमत्वम्।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रजापति नानारूपात्मक पिण्डाण्डीय सृष्टि में 'प्राणापानौ' प्रभृति युग्मों में रहता है। यही उसका स्तोम रूप है। ज्योतिष्टोम या अग्निष्टोम की कल्पना में भी इसी प्रकार की स्तोम-सृष्टि है। इन स्तोमों में सर्वप्रथम स्तोम अश्विनौ का वह रूप है जिसमें वे हिरण्ययी अरणीद्वय के रूप में अग्निमन्थन करते हैं :-

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।

तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे।।

ऋ.10.184.3

षड्योग, षड् सामानि और सामसाम

उपर्युक्त मन्त्र में, हिरण्ययी अरणी नामक अश्विनौ युग्म का सम्बन्ध हिरण्यकोश से है। वह जिस गर्भ का मन्थन कर रहा है और उसका सिंचन जिस प्रजापति ने किया है,⁹⁶ उसे निस्संदेह इस कोश से ऊपर सप्तम मानना होगा जहाँ अश्विनौ का यह हिरण्ययी अरणी रूप उसी में लीन समझा जायेगा। इसी ओर संकेत करने वाला द्वैताद्वैत युग्म 'इन्द्रानासत्या' हो सकता है जिसमें अद्वैत इन्द्र प्रजापति से युक्त रहने वाला अश्विनौ युग्म न तो सत्तावान् है और न असत्तावान् ही। सदसद्-विलक्षण नासत्या युग्म ही वह सप्तम स्तोम है, जो 'हिरण्ययी अरणी 'अश्विनौ' होकर हिरण्यकोश के स्तर पर उक्त प्रजापति-सिञ्चित ज्योतिर्मय गर्भ (अग्नि) का मन्थन करता है। वही अथर्ववेद¹⁰⁰ का वह 'षड्योगं षड् अहम्' है, जो हिरण्यकोश से लेकर अन्नमय पर्यन्त षड् द्यावापृथिवी या षड् ऊर्वी के रूप में प्रकट होता है :-

षड् जाता भूता प्रथमजार्तस्य षड् सामानि षडहं वहन्ति।

षड्योगं सीरमनु साम-साम षडाहुर्द्यावापृथिवी षडुर्वीः॥

मन्त्र में ध्यातव्य यह भी है कि जो युग्म अथवा स्तोम उक्त 'षड्-अहम्' को छह कोशों में ले जाते हैं उन्हें "षड् सामानि" कहा गया है। यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत है कि इनमें से प्रत्येक युग्म पूर्णतया समन्वित प्राणापानौ की भांति रहता है। यही उन सामों का सामत्व है। इसी दृष्टि से पूर्वोक्त सभी स्तोमों की कल्पना हुई। साथ ही उक्त मन्त्र में यह भी कहा गया है कि ये युग्म 'षड् सामानि' "ऋतस्य प्रथमजा षड् भूतानि" हैं। अतः इन्हीं छह युग्मों को वे ऋताश्रित आदित्य¹⁰¹ माना जा सकता है जिन्हें हमने पहले द्वादश व्रत्याः रात्रीः या द्वादशाह के रूप में पाया और जो संख्या में इसी तरह बारह माने जाते हैं। ऋत के साथ सत्य भी संयुक्त है, जो मनुष्यव्यक्तित्व की चेतनाभूमि को क्रियापरक सत्ता बनाकर विकसित करता है और वही ज्योतिर्मय सूर्य नामक ज्ञानपरक सत्ता होकर चेतना के द्यौ पक्ष को उभारता है। इन दोनों के समवेत प्रयास से आनन्दपरक सत्ता सोमरूपेण द्यौ में विराजमान हो जाती है। इसी ओर ऋ.10.85.1 संकेत करता है:-

सत्येनोत्तमिता भूमिः सूर्येणोत्तमिता द्यौः।

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः॥ ऋ. 10.85.1

अभीद्ध तप से अधमर्षण

परन्तु इस उपलब्धि के लिये साधक को ऋ. 10.190 का वह तप करना होगा जिससे ऋत एवं सत्य उत्पन्न होते हैं :- ऋतम् च सत्यम् च अभीद्धात्पसोऽध्यजायत। ऋत और सत्य के युग्म की उत्पत्ति के पश्चात् उस 'रात्री' का आगमन होगा जो पूर्वोक्त छह युग्मों के रूप में द्वादश रात्रियों या द्वादशाह को षट्कोशों में क्रमशः जन्म देगी। इन्हीं अहोरात्र-युग्मों को सूक्त⁹⁷ में 'अहोरात्राणि' कहकर इंगित किया गया है। परन्तु अहोरात्राण्युगला के प्रादुर्भूत होने से पूर्व उक्त रात्री नामक चेतना को 'समुद्राणव' रूप धारण करना होगा। तभी 'संवत्सर'

आविर्भूत⁹⁹ होगा। डॉ. फतहसिंह के अनुसार इस संवत्सर को उस ब्रह्मात्मसायुज्य की अनुभूति माना जा सकता है जिसमें जीवात्मा रूप वत्स अपने परमात्मा रूप पिता के उत्संग में आसीन कहा जा सकता है। यह समाधि की अवस्था है उसके पश्चात् व्युत्थान में, सूर्य और चन्द्र नामक स्वर गतिमान् होते हैं जो समाधि अवस्था में अवरुद्ध हो गये थे। इस प्रकार श्वासोच्छ्वास की यथापूर्व स्थिति प्रारम्भ होने के पश्चात् मनोमयकोश रूप द्यौ और अन्नमयकोश रूप पृथिवी की चेतना प्रत्यावर्तित होती है और उसी के साथ आता है वह अन्तरिक्ष जो द्यौ तथा पृथिवी का ऊर्ध्व कहा जाता है। इसी के साथ सत्यलोक का वह स्वः भी अवतीर्ण होता है जिसके अन्वेषण में अंगिरस प्राण प्रयत्नशील रहते हैं और जिसे स्वर्ग भी कहा जाता है। अतः इस प्रकार जो तप योग-साधना द्वारा प्रारम्भ होता है वह अन्नमय-पृथिवी पर हिरण्यकोशीय स्वर्ग को अवतरित करता है जिसके फलस्वरूप 'अनृतसंहिता' कहलाने वाले मनुष्य के समस्त अध का मर्षण हो जाता है।

सारांश यह है कि हमारे षाट्कौशिक व्यक्तित्व के प्रत्येक स्तर पर एक चेतना-युग्म है। उन सबको शुद्ध और समन्वित करने वाली जो चेतना 'प्रथमजा ऋतस्य' स्वस्ति आदि के रूप में वर्णित है वह मूलतः उस सप्तम स्तर की शक्ति है जिसे 'बृहत् द्यौ' 'शम् ब्रह्म,' 'शं योः' आदि कहा जाता है। यही वह सत्य लोक है जिसकी द्योतक 'सत्यम्' नामक सातवीं व्याहृति कही जाती है। यही सप्तम ब्रह्मलोक है जिसमें अन्तिम देवता सत्य होकर प्रविष्ट¹⁰³ हो जाती है। अतः ऐतरेयब्राह्मण इसी को 'अन्तो वै स्वः' कहकर स्मरण करता¹⁰⁴ है।

सन्दर्भ

- 1 ऋ.1.185.1
- 2 वही 1.123.7
- 3 द्र.सा.भा ऋ. 8.26.8
- 4 मित्रावरुण के लिए बाइस सम्पूर्ण सूक्त तथा अनेक सूक्तांश रचे गए हैं।
- 5 डा. सूर्यकान्त द्वारा अनूदित 'वैदिक देवशास्त्र' पृ 326
- 6 माश. 7.1.1.37 तु, जै. 1.257
- 7 खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। मुं 2.1.3
- 8 ऋ.1.185.2
- 9 ऋ. 6.70.2
- 10 माश. 4.3.1.22 तु, माश 14.2.2.36
- 11 तै. 3.9.4. 2 ; तैसं. 7.4.20.2
- 12 माश. 4.4.3.2
- 13 ष. 1.1
- 14 माश. 5.4.3.7
- 15 साम 1031
- 16 शौ. 8.13.5-8

- 17 माश. 4.6.9.16; जैउ. 4.11.1.11
- 18 प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् । माश. 8.1.4.10
- 19 व्यानादमुं (द्यु) लोकम् । कौ. 6. 10
- 20 असौ वै (द्यु) लोकः स्वराट् । माश. 7.4. 2.25
- 21 अयं (पृथिवी) वै लोको विराज् । माश. 7.4. 2. 23
- 22 वर्षिष्ठं रत्नमकृत् स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी परि पश्यत । ऋ. 3. 26. 8
- 23 उतो हि वाम् रत्नधेयानि सन्ति पुरुणि सुदासे अस्मे धत्तम् । ऋ. 7.53. 3
- 24 ऋ. 1.184.1; 185.9
- 25 उभ शंसा नर्या मामविष्टाम्, उभे माम् ऊती अवसा सचेतसाम् ।
भूरि चिदर्यः सुदासस्तराय इषा मदन्त इषयेम देवाः ।। ऋ. 1.185.9
- 26 मरुत्वान् नो भवतु इन्द्र ऊती । ऋ. 1.100.1-15
- 27 ऋ. 5.55.7-8
- 28 प्रावो विष्वाभिरुतिभिः सुदासम् । ऋ. 7.19. 3
- 29 कस्मै सस्रुः सुदासे अन्वापयः इळाभिवृष्टयः सहः । ऋ. 5. 53. 2
- 30 नरो मर्या अरेपस इमान्पश्यन्निति । वही 3
- 31 यदरोदीत् तदनयोः रोदस्त्वम् । तै. 2. 2. 9. 4
- 32 उप प्रैत कुशिकाः चेतयध्वम् अश्वं राये प्र मुञ्चत सुदासः ।
राजा वृत्रम् जघन्प्राक् अपागुगथ यजाते वर आ पृथिव्याः ।। ऋ. 3.53.11
- 33 वाग्वै धिषणा । माश. 6.5.4.5 ; विद्या वै धिषणा । तै. 3.2.2.2
- 34 ऋ. 1.102.1
- 35 वही 7
- 36 ऋ. 3.49.1
- 37 ऋ. 8.61.2
- 38 ऋ. 6.8.3
- 39 तै. 2.2.9.4
- 40 मन एव प्रजापतिः । तैब्रा. 3.7.1.9 ; कौब्रा. 10.1; माश. 4.1.1.22
- 41 माश. 11.6.3 .7
- 42 ब्रपु. 3.109-122 ,124
- 43 ऋ. 5.56.8-9
- 44 तु, विरोकिणः सूर्यस्य (ऋ. 5.55.3) उषसाः विरोके (3.5.2) तथा मरुतों के लिए प्रयुक्त 'अग्नीनां न जिह्वा विरोकिण'(10.123.6) इसी बाधक तत्त्व से मुक्त ज्योतिः, सूर्य, उषा तथा अग्नि के संदर्भ में अभिप्रेत है ।
- 45 तु, साभा. ऋ.1.123.6; 158.2; 4.22
- 46 ऋ.9.72.4
- 47 ऋ.9.72.5
- 48 शौ.10.2.27
- 49 ऋ. 9.90.4
- 50 वही,5
- 51 वही 6
- 52 यदरोदीत् तदनयोः रोदस्त्वम् । तै. 2.2.9.4
- 53 यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः । माश. 6.1.3.10
- 54 तद् यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः । माश. 9.1.16

- 55 तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः । माश. 11.6.3.7
 56 ऋ. 3.51.4; 4.23.4; 7.53.1; 61.6
 57 ऋ. 7.53.2
 58 ऋ. 6.17.7
 59 ऋ. 1.61.9
 60 ऋ. 1.185. 2-3
 61 ऋ. 1.152.3
 62 ऋ. 4.18.5
 63 ऋ. 4.18.7
 64 सोऽयं पुरुषोऽन्तःप्रविष्टः प्राङ् च तौ इमौ प्राणोदानौ । (माश. 1.1.3.2; 1.8.3.12)
 65 प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी । माश. 14.2.2.36
 66 ऋ. 6.70.2
 67 प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही माता दुहितुर्बोधयन्ती । आविवासन्ती
 युवतिर्मनीषा पितृभ्यः आसदने जोहुवाना । ऋ. 5.47.1
 68 शौ. 10. 2. 32
 69 ऊर्ध्वा अन्तरिक्षं स्तनावभितोऽनेन वा एष देवेभ्यो दुग्धेऽमुना प्रजाभ्यः । तां 24.1.6;
 तु. एतेन अन्तरिक्षेण द्यावा पृथिवी विष्टब्धे (माश. 1.2.1.16; जैउ. 1.20.3)
 70 ऋ. 1.160.4; 4.42.3 ; 56.3; 56.3; 6.7.7 ; 6.9.1
 71 ऋ. 5.47.4
 72 ऋ. 1.154.5
 73 वही ,6
 74 वही, 4
 75 वही
 76 वही,5
 77 ऋ. 4.50.1
 78 उभे पुनामि रोदसी ऋतेन, दुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः । ऋ. 1.133.1
 79 ऋ. 2.27.15
 80 इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् । शौ. 12.1.37
 81 द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् । ऋ. 3.8.8
 82 ऋ. 10.149.2
 83 शौ. 12.1.8
 84 ऋ. 10.35.3
 85 ऋ. 2.1.15
 86 द्र. सामा. ऋ. 5. 82. 8
 87 ऋ. 1.181.3
 88 ऋ. 8.61.9
 89 शौ. 3.8.3
 90 ऋ. 5.75.2
 91 ऋ. 8.35.13
 92 इमे हवै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षम् अश्विनौ इमे । माश. 4.1.5.16
 93 द्यावापृथिव्यत्येके अहोरात्रित्येके । सूर्यावच्छादित्येके । ऋ. 1.2.1

- 94 तावेतौ स्तोमावभवताम् पराक् च अर्वाक् च तौ प्राणापानौ ते अहोरात्रे, तौ पूर्वापक्षापरपक्षौ, ताविमौ लोकौ (द्यावापृथिव्यौ) ताविन्द्राग्नी, तौ मित्रावरुणौ, ताविश्वनौ, तद् दैव्यं मिथुनं यद् इदं किं च द्वन्द्वं तद् अभवताम्। जै. 3.334
- 95 जै. 2.409 ; तु. जै. 3.334
- 96 ऋ. 10.184.1
- 97 ऋ. 1.190.2
- 98 वही
- 99 वही
- 100 शै. 8.9.16
- 101 ऋतेनादित्या तिष्ठन्ति। ऋ. 10.85.1
- 102 सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ. 10.190.3
- 103 विष्टपो एव सप्तमो ब्रह्मलोके यस्मिन् एवम् सत्यं भवति तमेवा देवता सत्यं भूत्वानुप्राविशत्। जै. 3.384; 3 .780
- 104 अन्तो वै स्वः। ऐ. 5.20

नवम अध्याय

शुभम् नासत्यम् और अश्व

षाट्कौशिक मनुष्य-व्यक्तित्व का पूर्वोक्त सप्तमलोक वैदिक तत्त्वज्ञान का केन्द्रबिन्दु कहा जा सकता है। इसी को ब्रह्मलोक तथा सत्यलोक भी कहा गया है। ब्रह्म ही सत्यम् है। इस दिशा में संकेत करने वाला पद 'शुभम्' (आद्योदात्त) है। मरुतः और आपः नाम से सुविख्यात प्राण-रश्मियों का 'शुभम्' तक पहुँचना मानों विजयी 'मरुतः नरः' का जयघोष है², क्योंकि यहाँ पहुँचने का अर्थ है इन्द्रयुक्त मरुतों द्वारा वृत्र-वध का सम्पन्न होना।³ उपगूढ सोम राजा (ब्रह्मानन्द) की पूषा द्वारा प्राप्ति होना⁴; युक्त हुए षट्कोशों को इन्द्रुओं द्वारा अनुगमन करना⁵; सूर्य सहित दिव्य आपः द्वारा अध्वररूप धारण⁶ और फिर यह घोषणा करना⁷ कि, 'आपः के भीतर अमृत है, भेषज है; आपः की प्रशस्ति के लिये देवों को बलवान् होना चाहिये। सोम ने कहा कि —

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ।।

ऋ. 1.23.20

'आपः के अन्तस् में विश्वभेषज की उद्घोषणा के अतिरिक्त सोम विश्वशान्ति-विधायक अग्नि से कहता है कि आपः भी 'विश्वभेषजीः' है।' इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सूक्त के चौबीस मन्त्रों में सोम के साथ ही सोमपान के लिये 'मनोजवा धियस्पती इन्द्रावायू' ज्योतिष्पती मित्रावरुणौ, वरुण, सगण मरुत्वान् इन्द्र, पोषक देवों से युक्त इन्द्रज्येष्ठ मरुद्गण रूप विश्वेदेवासः, विश्वेदेवाः मरुतः तथा पूषा आदि देवों का भी आह्वान किया गया है।

शुभम् और सत्यम्

उक्त संक्षिप्त वर्णन का तात्पर्य है कि जिस 'शुभम्'⁸ में मरुतों का जाना एक जयघोष माना जाता है वहाँ न केवल समस्त देवों के केन्द्रस्थान रूप में मानित इन्द्र⁹, अग्नि¹⁰ और सोम¹¹ केन्द्रित होकर अद्वैत होते हैं, अपितु अन्य वे सभी देव भी इसमें सम्मिलित हैं जिन्हें विश्वेदेवासः तथा विश्वेदेवाः के रूप में द्विविध माना गया है। अतः उसी अद्वैत का द्योतक 'शुभम्' उस सत्य-लोक से तुलनीय है जहाँ सभी देवता सत्य होकर प्रविष्ट हैं¹² सब देवों का परम सत्य वह एक देव वृत्रवध के लिये वरणीय¹³ है। वही 'सत्ययोनि सम्राट् इन्द्र' है तथा वही 'वात इन्द्र' है, जो आपः का 'अर्णस्' उत्पन्न करता है।¹⁴ यही अर्णस् वह महान् अर्णव है जिसके भेदन से इन्द्र सप्तसिन्धुओं के प्रवाह को प्रवाहित करता है।¹⁵ ये आपः सत्य में प्रतिष्ठित हैं¹⁶ और उनके साथ सत्य की अनुभूति होती¹⁷ है। इन्हीं को 'सत्यशवसः मरुतः'¹⁸ कह सकते हैं और यदि हम यह विस्मृत न करें कि ये सब प्राणरश्मियाँ हैं, तो यह भी मान सकते हैं कि यही 'सत्याः कामाः'¹⁹ में परिणत होने की सामर्थ्य रखते हैं। यही हमें प्राप्त होने वाले वे 'स्वर्दिदः' ऋषिप्राण हो सकते हैं जो राष्ट्र को बल एवं ओज²⁰ देते हैं। इन्हीं प्राण रूप आपः का अर्णव उस 'करुण-विश्व' का रूप धारण करता है जिसका विश्वविभव इन्द्र उती

सबके क्षेम का रक्षक²¹ है। इसी के वर्षक होने के कारण विभिन्न देव वृषन्, वृषणा, वृषण्वसू हैं।

करुण-विश्व का ईश इन्द्र ही वह सत्यदेव इन्द्र है जिसके साथ सत्य इन्दु समवेत²² हैं। जब 'त्वमग्ने इन्द्रो वृषभ' कहकर ऋ. 2.1.3 में अग्नि को सम्बोधित किया जाता है, तो स्पष्टतः इन्द्र शब्द उसी 'सत्ययोनि सम्राट्' इन्द्र की ओर संकेत करता है जिसमें सभी देव 'सत्य' होकर प्रविष्ट होते हैं। इसी प्रकार पवमान सोम का 'हिरण्यय' रूप है जिसमें अन्य देवों के साथ 'सूर्यो अग्निरिन्द्रः' भी समवेत (सजोषसा) माने गये हैं।²³ एक मन्त्र²⁴ में पवमान को 'अग्निऋषिः' के साथ साथ 'महागयः' (महाप्राण) के रूप में स्तुत किया गया है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्यव्यक्तित्व का हिरण्यकोश ऐसा स्तर है जहाँ इन्द्राग्नि सोम का अभेद है। यही पवमान का उक्त हिरण्यरूप है। इसे हिरण्यकोश की पूर्वोक्त प्रभाजमाना 'हिरण्ययी अपराजिता' पुरी कह सकते हैं जहाँ अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्म ने प्रवेश किया। इसी को सम्राट् इन्द्र के साम्राज्य का केन्द्र तथा उक्त करुण-विश्व कहना संगत प्रतीत होता है।

हिरण्यकोशीय-शुभम् के यात्री

हिरण्यकोश की अपराजिता पुरी ही 'शुभम्' है यह तथ्य सप्रमाण है, क्योंकि उसको प्राप्त करने वाले अश्विनौ सप्तकोशों को जोड़ने के कारण 'युयुजान सप्ती' कहे जाते हैं।²⁵ मर्त्य साधक की व्यथा को सुषुप्ति करने के लिये उग्र अश्विनौ अविकसित 'वर्ति' (व्यक्तित्वरूप गृह) को शाश्वत प्रज्ञा (धियः) तक, मनोवेगों रूप अश्वों द्वारा वहन करते हैं।²⁶ यह अश्विनौ की आरोहण यात्रा है जिसमें वे भोग-लोलुप जीव (भुज्यु) को भवसागर से (अर्णसः) बाहर निकालते हैं।²⁷ अवरोह यात्रा में, वे परम, मध्यम और अवम साधनों द्वारा अर्वाक् गति²⁸ करते हैं और आन्तरिक चक्रों द्वारा 'वर्ति' के विकासार्थ 'मरुतः नरः' से युक्त रथ द्वारा यात्रा करते हैं तथा मर्त्य के अक्रोध द्वारा हिंसकों के शीर्षों को भी अवनत कर देते हैं।²⁹ अर्वाक् यात्रा की दृष्टि से, अश्विनौ का विशिष्ट नाम 'नासत्या'³⁰ है। उनकी इस यात्रा में सूर्या उनके रथ पर विराजमान होती है और वे यज्ञीय देवों के जन्म से अपनी मायाओं द्वारा मायी (मायाभिः मायिना) तथा नर्तक-द्वय के रूप में कल्पित³¹ होते हैं। इस यात्रा द्वारा वे विकासमान 'शुभ' के लिये भी सूर्यापुष्टि को वहन करते हैं जिससे शरीर के निमित्त आध्यात्मिक भोजन (वयः) अवतीर्ण होता है और धिषणा - पुत्र 'नासत्या' की वाणी व्याप्त हो जाती है।³²

पूर्ण विकसित 'शुभम्' को वेद में आद्योदात्त रूप में अभिव्यक्त किया गया है और इसके सन्दर्भ में अश्विनौ को 'शुभस्पती'³³ उपाधि प्राप्त हुई है। इस 'शुभम्' को गतिशील करने वाली शुभ्रा उषायें सदृशीः अजूर्याः³⁴ (एक समान नित्यनूतना) हैं जो सुषुप्त जीव को जगाती हैं तथा ऋतयुक्त अश्वों द्वारा शीघ्र ही समस्त भुवनों में परिव्याप्त होती हैं³⁵ :-

यूयं हि देवीः ऋतयुग्मिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।

प्रबोधयन्तीः उषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्॥

वस्तुतः ये उषायें ध्यानस्थ योगी के अन्तस् में उद्भूत होने वाली चेतना-तरंगे हैं जो अन्नमय-प्राणमयकोश रूपी दो पैरों पर स्थित मनोमय नामक द्विपाद जीव तथा विज्ञानमय से लेकर अन्नमय पर्यन्त चार पैरों (कोशों) पर स्थित आनन्दमय जीव के सभी आयामों (उक्त भुवनानि) में अवतीर्ण होती हुई व्याप्त होती हैं। जीव एक है, परन्तु उसे एक साथ 'द्विपात् चतुष्पात्' कहा गया है। अश्विनौ और उषा के अतिरिक्त, मरुतः (रश्मयः) भी 'शुभम्' से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। मरुतों के अनेक शर्ध, व्रात तथा गण नामक समूह हैं, जिन पर साधक को क्रमशः ध्यान प्रक्रियाओं द्वारा (धीतिभिः) ही क्रमशः पहुँचना सम्भव है।³⁶ मरुतः सुसंयत तथा आशुगामी अश्वों द्वारा चलते हैं³⁷ तो उनका अनुसरण करते हुए उनके रथ भी 'शुभम्' तक पहुँच जाते हैं।³⁸ सूर्यरश्मियों के समान 'मरुतः नरः'³⁹ का 'महित्वन्' अत्यन्त शोभनीय और दर्शनीय होता है, जब वे साधक को 'अमृतत्व' में स्थापित करते हैं⁴⁰:-

आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम् ।
उतो अस्मां अमृतत्वे दधातन शुभ यातामनु रथा अवृत्सत ।।

यह अमृतत्व वह आहवनीय, प्रशंसनीय तथा सुदीप्त 'शर्ध' है जिसे मरुतों का अद्वैत-पुंज होने के कारण, 'रथेशुभम्' कहा⁴¹ जाता है और जिसमें मरुतों की एक 'सुजाता, सुभगा और शिवतमा शक्ति विराजती है। यही मरुतों में स्थित वह रोदसी देवी है, जो उनकी 'स्वशोचि' (आत्मज्योति) भी कहलाती है।⁴² यह रोदसी सुप्रसिद्ध रोदसी-युग्म का एकीभूत रूप है जिसे आद्योदात्त 'शुभम्' का ही द्योतक मान सकते हैं।

अन्त्योदात्त शुभम्

इससे भिन्न एक अन्त्योदात्त शुभम् (पूर्वोल्लिखित विकासमान शुभम्) शब्द भी वेद में प्रयुक्त हुआ है। इस पद के साथ 'पती' के योग से निष्पन्न 'शुभस्पती' शब्द भी अश्विनौ का दाचक है। आद्योदात्त शुभः से निष्पन्न पूर्वोल्लिखित 'शुभस्पती' का सम्बन्ध अवरोही अश्विनौ से है, तो अन्त्योदात्त शुभः से युक्त अश्विनौ आरोहणशील हैं। वे उत्तरोत्तर वर्धमान 'दस्रा हिरण्यवर्तनी शुभस्पती'⁴³ तथा रूद्रवर्तनी⁴⁴ हैं जो 'याम' (योगमार्ग) में द्वन्द्व का अनुभव करते हुए अन्त में 'रथेकोशे हिरण्यये'⁴⁵ में आरोहण करते हैं तथा मित्रावरुणौ को उरुता प्रदान करते हैं।⁴⁶ 'धियंजिन्वा मधुवर्णा शुभस्पती' वे अन्तर्जगत में चारों ओर गति करते हैं।⁴⁷ विश्वपोषक आध्यात्मिक धनों के साथ अनपच्युता होकर आते⁴⁸ हैं और ये वही 'इन्द्रनासत्या' हैं जो मनुष्य-व्यक्तित्व के 'प्रतीव्यम्' (प्रतिगम्य स्तर) के समस्त देवों के साथ समवेतव्य देवयुग्म के रूप में आते हैं।

आ मे अस्य प्रतीव्यमिन्द्रनासत्या गतम् ।

देवा देवेभिरद्य सचनस्तमा ।।

ऋ. 8.26.8

इन्द्रनासत्या और नासत्य

उक्त उद्धरण में 'अद्य' शब्द स्थिति का सूचक है जिसको प्राप्त करने के लिये सम्बन्धित सूक्त के प्रारम्भ में ही प्रयास प्रारम्भ हो रहा है। प्रथम मन्त्र में ही

अश्विनौ के रथ का आह्वान इस उद्देश्य से किया गया कि ज्ञानियों के भीतर 'सधस्तुति' हो। यहाँ अश्विनौ के लिये 'अतूर्तदक्षा वृषणा वृषण्वसू' सम्बोधन है। द्वितीय मन्त्र में नासत्या वृषणावृषण्वसू के साथ ही एकवचनान्त 'वरो' सम्बोधन भी है और निवेदन है कि वह 'सुषाम्णे महे तने' अर्थात् सुषामन् नामक महान् फैलाव के लिये आये। ज्ञानियों के भीतर 'सधस्तुति' का अर्थ है बिखरी हुई चित्तवृत्तियों का सहप्रस्तुतिकरण अथवा संगतिकरण। इस संगतिकरण के परिणामस्वरूप होने वाले एकत्व को लक्ष्य करके अश्विनौ के वरणीय रूप को 'वरो' कहकर सम्बोधित किया गया, परन्तु साथ ही 'सु-सामन्' नामक शान्ति के महान् विस्तार के लिये भी प्रार्थना की गयी और तब अश्विनौ को 'नासत्या वृषणा वृषण्वसू' कहा गया। सधस्तुति के फलस्वरूप होने वाली 'सु-सामन्' की स्थिति पूर्वोक्त 'शुभम्' है। इसके महान् विस्तार को अन्यत्र⁵⁰ एक 'व्यापक नासत्य भूमि' कहा है। अतः इस नासत्य भूमि के विस्तारकर्ता अश्विनौ को 'नासत्या वृषणा वृषण्वसू' कहना सार्थक है। 'नासत्य' रूप में वह एक अद्वैत चेतना थी जिसे 'वरो' कहकर सम्बोधित किया गया। वस्तुतः वह वरु नामक शक्ति है, जो सम्राट् इन्द्र में लीन होकर उससे अभिन्न होने के कारण वरणीय थी। इसके विस्तार के लिये उसे समञ्चन-प्रसारण⁵¹ की दृष्टि से शक्ति-युग्म का रूप धारण करना आवश्यक है। यही एक नासत्य का 'नासत्या' नामक युग्म रूप है। यह शक्ति-युग्म भी इन्द्र से उसी प्रकार संयुक्त रहेगा जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहक शक्ति जुड़ी रहती है।

इसी ओर संकेत करने के लिये पूर्वोक्त 'सधस्तुति' एवं 'सुषामन्' नामक महान् विस्तार के पश्चात् 'इन्द्रनासत्या' का उल्लेख हुआ और उसे एक ऐसे देवयुग्म के रूप में प्रस्तुत किया गया जो सभी देवों से अतिशयरूपेण समवेत (देवा देवेभिरद्य सचनस्तमा) होता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र से युक्त नासत्या नामक शक्तियुग्म विस्तार ग्रहण करता हुआ जितने रूप धारण करता है, उतने रूपों को देव इन्द्र भी ग्रहण करता है, क्योंकि वह शक्तिमान् होने से वरु है। ऋ. 8.23.28 में भी इसी वरु से प्रार्थना है कि वह 'सु-सामन्' व्यक्तित्व के लिये प्रेरणा दे। ऋ. 8.24.28 में पुनः सु-सामन् व्यक्तित्व के लिये उपयोगी 'रयि' की याचना की गई है, परन्तु इसमें शक्तिमान् के साथ उसकी शक्ति को भी 'सुभगे वाजिनीवति' कहकर संबोधित किया गया है। इसी शक्ति को अन्यत्र वरुत्री⁵², वरुत्री शक्रा⁵³ अथवा वरुत्री धिषणा⁵⁴ कहा गया है। अनेक स्थानों पर इस शक्ति के लिये 'वरुता'⁵⁵ शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, परन्तु वहाँ वह त्राण करने वाली है, उदाहरणार्थ ऋ. 6.25.7 को लें जिसमें शक्तिमान् इन्द्र के साथ 'वरुता' को भी त्राण के निमित्त स्मृत किया गया है :- 'यदेजानिन्द्र त्रातोत भवा वरुता'। इसका अर्थ है, शक्रा वरुत्री और वरुता आदि नाम ग्रहण करने वाली शक्ति तथा उसका शक्तिमान् जहाँ विभिन्न कार्यों के लिये आहूत होते हैं, वहाँ वरु तथा वरुत्री धिषणा व्यक्तित्व को 'सु-सामन्' बनाने अथवा उसे विस्तार प्रदान करने के लिये भी आहूत होते हैं।

आसुरी शक्तियों के विनाश के पश्चात् सुसामन् अवस्था का आगमन होता है। इस अवस्था में, पूर्वोक्त मनुष्यरथ सर्वथा ऋजु, शुभ्र (रजतम्) तथा 'युक्त' हो जाता है। यह वस्तु पूर्वोक्त सत्ययामि सम्राट् इन्द्र के सम्राज्य की अवस्था है जहाँ तक पहुँचने के लिये सुप्रसिद्ध ऋतावाना, सुक्रतू, धृतव्रता, क्षत्रिया, गातुवितरा

मित्रावरुणौ को अपने नेत्रों को खुला रखना होगा अन्यथा अनृत का निवारण सम्भव नहीं⁵⁷। देवी अदिति, नासत्या तथा 'वृद्धशवसः मरुतः' हमारी नाव (वाक्) को रात्रि-दिन विस्तार देंगे⁵⁸ तथा 'पूर्वचिति' हेतु अपने निज रूप की ओर गतिशील चेतनासिन्धु का आह्वान करना होगा;⁵⁹ 'अपां सिन्धु' मरुतः, अश्विनौ, इन्द्र तथा विष्णु को समवेत करना होगा;⁶⁰ साम्राज्य के पूर्वगृहों (सत्ययोनि सम्राट् के विभिन्न आयामों) का अन्वेषण मित्र एवं वरुण के व्रतों में करना⁶¹ होगा तथा द्यावापृथिवी, उषारात्री जैसे द्वन्द्वों में 'तत् सूर्य' (तत् सत्यम्) की उपासना करते हुए प्रार्थना करनी होगी कि वह हमें सदा भोगों के विपरीत भोगों (परोपकार, सेवाकार्य) में संयुक्त कर सदा ऊपर उठाता रहे (अभि उत चर सदा)।⁶² यही मार्ग है उस साम्राज्य में जाने का जो 'सत्ययोनि सम्राट् इन्द्र' की अद्वैत सत्ता का सूचक है। यही पूर्वोक्त अवस्था है जिसे पहले ज्ञानियों के भीतर (सूरिषु) की सधस्तुति तथा सुसामन् नाम दिया गया है।

सामराजम् और साम्राज्यम्

सुसामन् अवस्था का समीकरण यहाँ जिस साम्राज्य से किया गया है वह वस्तुतः एक आध्यात्मिक अवस्था है जिसे 'सामराज' नामक साम कहा गया है⁶³। विभाजित व्यक्तित्व को पुनः पुनः युक्त करना ही 'साम' है।⁶⁴ सबके लिये 'सम' होना⁶⁵ भी साम है। सामन् होने का अर्थ है श्रेष्ठता प्राप्त करना, जबकि सामन् रहित होना या असामान्य होना निन्दनीय⁶⁶ है। इस सामन् का सोम (आनन्द) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये साम को सोमदेवत्व⁶⁷ या सोमसाम⁶⁸ कहा गया है। सदसत् का जो तत् है वह साम है वही मन और प्राण है।⁶⁹ 'साम्राज्यं वै साम'⁷⁰ कहकर इसी आन्तरिक स्थिति की ओर संकेत किया जाता है। इसी साम्राज्यं साम तथा सोमसाम की ओर संकेत करने वाला ऋ.7.104 का यह मन्त्र है जहाँ इसी आन्तरिक साम्राज्य साम के लिये 'सुविज्ञान' शब्द प्रयुक्त है:-

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।

तयोर्थत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्यासत्॥ ऋ. 7.104.12

इस सुविज्ञानं के जिज्ञासु को सत् और असत् के बीच होने वाले द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है उसका निवारण सोम द्वारा सत् और असत् दोनों के ऋजुसत्य की रक्षा करके और असत्य का नाश करके किया जाता है। अतः उक्त साम्राज्य वस्तुतः द्वन्द्वातीत अद्वैत चेतना की स्थिति ही प्रतीत होती है। यही पूर्वोक्त 'शुभ' है जहाँ पहुँचने और पहुँचाने वाले वही अश्विनौ हैं।

अत्रि, अग्नि या जातवेदस्

सत्ययोनि इन्द्र सम्राट् के उक्त सत्यलोक अथवा शुभ के अतिरिक्त एक अन्य चेतना स्तर को 'अत्रि स्वराज्य अग्नि'⁷¹ कहा गया है। इसकी तुलना उस जातवेदस् से कर सकते हैं जहाँ इन्द्र, अग्नि और सोम का त्रैत समाप्त है⁷² और जिसे वेद में जातवेदस् के भीतर इन्द्र सोम को जठरस्थ किये हुए स्थित कहा जाता है। जहाँ इस जातवेदस् के भीतर इन्द्र सोम का त्रैत समाप्त है, वहाँ उक्त साम्राज्य स्तर का सम्बन्ध 'गुहाहित सुवेद'⁷³ से है, इस सुवेद की तुलना

उस 'वेद' से कर सकते हैं जिसे किसी कोश से उद्भूत कर पुनः वहीं रखना पड़ता है।⁷⁴ गुहाहित इस वेद (सुवेद) को जब बाहर लाया जाता है तभी उसकी वेद और वेदस् नामक द्विविध संज्ञा होती है। जिस कोश या गुहा में वेद (सुवेद) निहित है वह, पूर्वोल्लिखित हिरण्यकोश है जहाँ एक ही देव है जिसे इन्द्र ब्रह्म कहा जाता है। इस देव से वेद 'वेदस्' होकर निकलता है, जबकि उससे उद्भूत देवों को 'विश्ववेदसः' कहा जाता है।⁷⁵ विश्ववेदसः के अन्तर्गत मरुतः, आदित्याः, वसवः, विश्वेदेवाः जैसे देव आते हैं। विश्ववेदसः की ही एक समष्टि का नाम जातवेदस् है जिसमें इन्द्राग्नि-सोम की संयुक्त इकाई होती है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि 'जातवेदस्' स्तर पवमान आनन्द का स्तर है। इन्द्राग्नि-सोम की इस संयुक्त इकाई में से उद्भूत होने वाले अग्नीषोमौ, इन्द्रासोमौ और इन्द्राग्नी नामक युग्मों का उल्लेख यत्र-तत्र अनेक बार हुआ है। आनन्दमयकोश से वेदस् लेकर अन्नमयकोश पर्यन्त गतिशील युग्म को 'सवेदसा'⁷⁶ कहा जाता है। सवेदसा से भिन्न एक देवतायुग्म का नाम 'नवेदसा'⁷⁷ भी है। ऋग्वेद में सूक्त 1.34 के प्रारम्भ में ही अश्विनौ से नवेदसा होने के लिए कहा गया है। यद्यपि इस सूक्त की चर्चा अन्यत्र की गई है, परन्तु यहाँ 'नवेदसा' की व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह शब्द उस देवतायुग्म का द्योतक है, जो 'सवेदसा' से इस बात में भिन्न है कि वह 'वेदस्' से युक्त नहीं है, परन्तु साथ ही यह वेद से भी युक्त नहीं है। वेद और वेदस् दोनों से भिन्न किसी अन्य तत्त्व को धारण करने वाले इस युग्म को सूक्त में तीन बार नासत्या भी कहा गया है और अन्त में उससे प्रार्थना है कि वह त्रिविध एकादश देवों के साथ मधुपेय के लिये आवे।⁷⁸

नासत्या का आधार

नवेदसा के समान नासत्या की व्युत्पत्ति भी पूर्वोक्त 'नासत्य' (न+असत्य) नामक तत्त्व से हुई है, जो असत्य नहीं है, परन्तु साथ ही उसका अंगभूत असत्य (अ+सत्य) स्वयं कहता है कि मैं सत्य नहीं हूँ। दूसरे शब्दों में, नासत्या युग्म का आधार सत्य और असत्य के द्वन्द्व से उसी प्रकार परे है जिस प्रकार नवेदसा वेदस् और वेद के द्वन्द्व से परे किसी तत्त्व की ओर संकेत कर रहा है। नवेदसा का द्वन्द्वातीत आधार वह पूर्वोक्त 'सुवेद' प्रतीत होता है, जो वेद और वेदस् के द्वन्द्व से परे है और जो हिरण्यकोश को कभी रिक्त नहीं करता। इसी तरह 'नासत्या' नाम का आधार उस पूर्वोक्त चेतना स्तर को मान सकते हैं जिसे 'परिज्मने नासत्या क्षे' अर्थात् 'परिव्याप्त नासत्य नामक भूमि' कहा जाता⁷⁹ है। यह द्वन्द्वातीत 'परिव्याप्त नासत्य भूमि' उस पृथिवी (फैली हुई) भूमि से तुलनीय है, जो अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में इस प्रकार वर्णित है:-

यार्णवेऽधि सलिलमग्रे आसीद्यां

मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्, सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातुतमे ॥ शौ.12.1.8

पूर्व में वर्णित यह पृथिवी भूमि विलक्षण है। उत्तम राष्ट्र को तेज और बल देने की क्षमता रखने के कारण वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उसका सत्यावृत अमृत हृदय परम व्योम में स्थित है और वह स्वयं देश-काल से परे (अग्ने) अर्णव के सलिल में है, फिर भी वह मनीषियों के द्वारा गम्य है।

वेद में मनीषा अतिमानसिक शक्ति का नाम है और उससे युक्त मनीषी योगी कहे जाते हैं। वह भूमि जिसे अर्णव में स्थित बताया गया है। वह उन्हीं आपः के अर्णस् से युक्त है जिनका समीकरण हम पहले प्राण अथवा मरुतः नामक रश्मियों से कर चुके हैं। इसका अर्थ है कि उक्त भूमि इस अर्णव के जिस सलिल में है वह सलिल उन्हीं प्राणरश्मियों के शान्तास्तर का नाम है। सलिल से भिन्न सरिर नामक आपः में उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं; क्योंकि 'सरिर' अशान्त आपः का सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, यह पृथिवीभूमि प्राणरश्मियों (आपः) के शान्त स्तर की वह अतिमानसिक चेतना है जिसके पूर्वोक्त सत्यावृत अमृत हृदय को द्वन्द्वातीत 'सुवेद' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यही वह 'शम्' है जिसे 'आपः देवीः' प्रदान करती⁸⁰ है। इस सुवेद या शम् की तुलना उस पूर्वोक्त सुविज्ञान से भी कर सकते हैं जिसके जिज्ञासु को सत् और असत् के द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है, तो सोम उन दोनों के 'ऋजु सत्य' की रक्षा करता है और असत् का नाश करता है।⁸¹

नासत्य और नृघ्न रुद्र

सुवेद, सुविज्ञान और शम् इस प्रकार तत्त्वतः एक ही हैं और वे सभी द्वन्द्वातीत स्तर के द्योतक होने से पूर्वोल्लिखित 'परिव्याप्त नासत्य भूमि' ही प्रतीत होते हैं। इस भूमि तक पहुँचने वाले एक अग्नि की यात्रा का वर्णन ऋ.4.3 में प्राप्त है। यहाँ जिस अग्नि की चर्चा की जा रही है वह उक्त 'सत्ययोनि सम्राट् इन्द्र' से तादात्म्य रखने वाला अग्नि नहीं, अपितु 'रोदसी' का रुद्र नामक एक 'होता' है।

सूक्त के प्रथम मन्त्र में जनसाधारण को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि, "मृत्यु का वज्रपात होने से पूर्व ही रोदनशील चेतनायुग्म (रोदसी)⁸² के यज्ञ-होता अग्नि को 'अध्वरराज सत्ययज रुद्र' बनाओ, रक्षा हेतु अग्नि को 'हिरण्यरूप' करो"। यज्ञ का अर्थ है कि हमारे अन्मयकोश के अग्नि का उत्तरोत्तर वर्धमान होना।⁸³ यह अग्नि धिषणा नामक वाक् (विद्या) की विकासमान धिष्याओं की शृंखला में वर्धमान होता है। तृतीय मन्त्र में, अग्नि से आग्रह करते हुए कहा गया है कि वह अपनी धिषणा वाक् का प्रयोग अमृतदेव की 'शस्ति' के शंसन द्वारा करे:-

देवाय शस्तिममृताय शंस ग्रावेव सोता मधुषद् यमीळे।

अगले मन्त्र में 'शंस' के स्थान पर 'ब्रवः' का प्रयोग करते हुए, अग्नि से पूछा गया है कि तुम वरुण, मित्र, अर्यमा और भग आदि देवों से मेरा पाप कब और कैसे निवेदन करोगे⁸⁴? इसके बाद प्रश्न है कि इस प्रकार⁸⁵ धिषणा-प्रयोगों में (धिष्यासु) वर्धमान होते हुए तुम कब उस स्तर के लिये बोलोगे जिसे एक 'वात' नासत्य तथा 'नृघ्न' कहा जा सकता है।—

कद् धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद् वाताय प्रतवसे शुभंये ।

परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कद्गने रुद्राय नृघ्ने ॥

ऋ. 4.3.6

प्रस्तुत मन्त्र में, जिसके लिये 'वाताय प्रतवसे शुभंये' कहा गया उसकी तुलना इस अध्याय के प्रारम्भ में उल्लिखित उस 'इन्द्र वात' से कर सकते हैं जो वृत्रवध करके आपः के अर्णस् की सृष्टि करता है। पहले यह कहा जा चुका है कि आपः वस्तुतः प्राणरश्मियाँ हैं जिन्हे मरुतः भी कहा जाता है। मरुतों के लिये प्रायः नरः शब्द का प्रयोग होता है, जो 'नृ' का बहुवचन है। अतः आपः के अर्णव को उस मरुद्गण के रूप में ले सकते हैं जिसमें 'नरः' की अनेकता विलीन हो जाती है। अतः यही 'नृघ्न' रूप है। साथ ही नरः मरुतः को रुद्राः भी कहा जाता है। अतः 'नृघ्न' गण को एकीभूत रुद्र भी कहा जा सकता है। मरुतः नरः के नृघ्न रुद्रगण में इस विलीनीकरण को वेद अपने एक परोक्षवादी विनोद का विषय बनाता है, जब अगस्त्य इन्द्र से प्रश्न करता है:-

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।

तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥ ऋ.1.170.2

वस्तुतः 'समरण' (सम्+अरण) शब्द यहाँ अपने शिल्पार्थ में संग्राम और संगम के अर्थ में प्रयुक्त है, परन्तु इन्द्र की ओर से इसे संगम के लिये ग्रहण करके विनोद में ही प्रत्युत्तर दिया जाता है:-

किं नो भ्रातरागस्त्य सखा सन्नति मन्यसे ।

विदमा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥ वही 3

अर्थात् 'भ्राता अगस्त्य! क्यों न तुम सखा होकर वार्ता बढ़ाओ। हम जानते हैं जैसा तुम्हारा मन है, वास्तव में तुम हमें देना नहीं चाहते हो।'

शुभंयु और शुभस्पती

यहाँ परोक्षवादी विनोद द्वारा अभिप्रेत तो सत्ययोनि सम्राट् इन्द्र में मरुतों का वह संगमन है, जो उसे मरुत्वान् इन्द्र बना देता है- यह जीवन-मरण से परे की द्वन्द्वातीत अवस्था है। इसी अवस्था को उत्तरोत्तर वृधसान (वर्धमान) रुद्राग्नि की 'नृघ्न रुद्र' अवस्था माना गया है। इसी को सत्य और असत्य के मध्य होने वाले द्वन्द्व से परे 'नासत्य भूमि' की अवस्था माना जा सकता है। इसे ही वात (वा+अत) अर्थात् विकल्प से सतत गमनशील अति बलवान् (प्रतवस) 'शुभंयु' इन्द्र वात नाम दिया गया है। 'शुभंयु' पद जिस मरुत्वान् इन्द्र की ओर संकेत करता है उससे इन्द्र और मरुतों का वह तादात्म्य ही अभिप्रेत है जिसे ऋ. 5.55 में 'शुभ यातामनु रथा अवृत्सत' की पुनरुक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया है। मरुतों के साथ इन्द्र के इस तादात्म्य के फलस्वरूप ही इन दोनों⁸⁶ के प्रसंग में 'शुभम्' की प्राप्ति एक अत्यन्त उल्लेखनीय घटना मानी जाती है। इस घटना के फलस्वरूप नरों (मरुतों) से परिवेष्टित-सोम-पिबित्वात्मानानि होकर⁸⁷ विश्वानि धामानि में प्रविष्ट⁸⁷ होता है और अमर्त्य वृत्रहा अपनी सत्ययोनि में शुभ रूप ग्रहण करता (शुभायते)

है,⁸⁸ क्योंकि मरुतों के शुभं में युक्त होने का अर्थ है 'कं' नामक अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दरूप सोम में स्थित होना।⁸⁹ जब मरुतः यम-नियम संयमात्मक योग मार्गों में (यामेषु) युक्त होने लगते हैं तो षाट्कौशिक व्यक्तित्व के सभी कोशों में आनन्द च्यवनशील हो जाता है और सभी मरुतः एक 'सत्य वृषागण'⁹⁰ में परिणत हो जाते हैं। शुभं की स्थिति में अग्नि भी मरुदगण से तुलनीय (स हि शर्धो न मारुतम्) होता⁹¹ है।

अतः स्पष्ट है कि 'शुभम्' उसी अद्वैत की अनुभूति का नाम है जिसे पहले इन्द्राग्निसोम को आत्मसात् करने वाला सत्ययोनि इन्द्र सम्राट् नाम दिया गया। ऐसी स्थिति में शुभम् पूर्वोक्त शम् से तथा उस सत्यम् से तुलनीय है, जो सत्यासत्य विलक्षण होने से 'नासत्य' नामक चेतना भूमि भी कहा गया है। यही वह शुभम् है जिसकी यात्रा सभी प्रकार के मरुतों को उक्त 'करुणविश्वम्' के 'नवेदसः' में परिणत करती है।⁹² अन्ततोगत्वा मरुतों के नवेदसगण के शुष्म (बल) का अनुभव करके साधक अमृत-मरुतों को समर्पित हो जाता है।⁹³ यह अमृतम्, सत्यं, शुभं अथवा नासत्यं तत्त्व ही युग्मत्व ग्रहण करके विभिन्न दृष्टियों से नासत्या शुभस्पती, नवेदसा, सवेदसा, नरा, रुद्र आदि नामों से अश्विनौ रूप में जाना जाता है। अश्विनौ के इन सब नामों में से नासत्या और शुभस्पती प्रस्तुत प्रसंग में विशेष महत्त्व रखते हैं, क्योंकि ये क्रमशः नासत्य और शुभ नामक उस चेतना-स्तर से सम्बन्ध रखते हैं जिसे हमने 'सत्ययोनि इन्द्र सम्राट्' के हिरण्यकोशीय साम्राज्य की शक्ति माना है।

अनश्व रथ और समह

उक्त हिरण्यकोश में ही अश्विनौ शुभस्पती का वह अनश्व रथ प्रतीत होता है जिसके द्वारा प्रभूत उपलब्धि की कामना की जा सकती है।⁹⁴ अश्विनौ रथ को 'समह' कहकर सम्बोधित करते हुए ऋषि की प्रार्थना है कि वे अपने युग्म रूप में उस 'सुख रथ' को सोमपेय तक ले जावें,⁹⁵ क्योंकि इस स्थिति में प्रार्थी को 'निर्वेद'⁹⁶ प्राप्त हो चुका है। इस कथन का संकेत है कि 'हिरण्यकोश' की प्राप्ति ही निर्वेदपूर्वक ब्रह्मानन्द रूप सोम का पान कराना है। इस प्रसंग में जिस स्वप्न और भोग से निर्वेद होने की ओर इंगित किया गया है वह ही सम्भवतः 'वेदस' का राग छोड़ने वाले युग्म के नवेदसा नाम के मूल में है। इस आसक्ति का त्याग करने पर हिरण्यकोश में अश्विनौ उक्त 'समह' रूप प्राप्त करते हैं। यही मरुतों का भी 'समह' रूप है जिसे प्राप्त करके मर्त्य सुदेव और सुवीर हो जाता है।⁹⁷ इसके साथ ही अवद्य और अराति को त्याग कर और निन्द्यों से परे जाकर साधक को भेषजस्वरूप शं की प्राप्ति होती है।⁹⁸ यही 'समह' वह वरुण रूप है जिसके साथ सम्पर्क हो जाने पर दीनता विपरीत (प्रतीपम्) हो जाती है।⁹⁹ अन्य व्रती, अमानुष अयज्वा तथा अदेवयु तत्त्वों को दूर करने के वाले इन्द्र से जब 'समहशर' के सम्बोधन द्वारा उक्त तत्त्वों के वत्सों को दूर करने की प्रार्थना होती है¹⁰⁰ तो भी उस (समहशर) से वही हिरण्यकोश अभिप्रेत है। वस्तुतः यह न केवल मनुष्यव्यक्तित्व का केन्द्र है, अपितु सत्ययोनि इन्द्र के साम्राज्य का भी केन्द्र है, जो सभी आसुरी शक्तियों का 'शर' (नाशक) है।¹⁰¹

हिरण्यकोश में अनश्व रथ, समह तथा शम् कहने का तात्पर्य है कि उसका यह एक ऐसा पक्ष है, जो शान्त, गतिहीन तथा अनेकता का एकीभूत रूप है। समह रूप में इसे वरुण, इन्द्र तथा मरुतों से जोड़ने का कारण यह है कि यहाँ जिस अनेकता की ओर संकेत है, वह अन प्राणों की अनेकता है जिन्हें वेद में 'मरुतः रश्मयः' अथवा 'प्राणाः रश्मयः' के अतिरिक्त उदक वाचक 'आपः' भी कहा जाता है। यही कारण है कि निघण्टु में परिगणित उदकनामों में न केवल 'आपः' अपितु सत्यम् तथा पूर्णम् के साथ वह 'शुभम्' भी है, जो शुभस्पती अश्विनौ के उत्तरोत्तर वृधसान 'शुभः' का पूर्ण तथा सत्य रूप माना जा सकता है। जैसा कि पहले बताया गया, ब्राह्मण-ग्रन्थों में आपः का समीकरण मरुतः के साथ हुआ है। वारुणीरापः¹⁰² तथा 'इन्द्रिय वा आपः'¹⁰³ कहकर वरुण तथा इन्द्र से भी आपः का घनिष्ट सम्बन्ध बताया है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि जिस समहः को 'सत्ययोनि इन्द्र' कहा जाय उसे इन्द्र, वरुण और मरुतों से भी सम्बद्ध बताया जाय। अथर्ववेद का आपः सूक्त¹⁰⁴ जब भेषजदायिनी आपः के 'समह संगम' को सिन्धु के भीतर बतलाता है, तो भी उसे प्राणसिन्धु रूप हिरण्यकोश ही समझा जा सकता है।

अचित्तं ब्रह्म-रथ

यह अनश्व रथ अचित्तम्¹⁰⁵ (चित्तातीत) ब्रह्म भी कहा गया है। इसका अर्थ है यह अनश्व रथ वही हिरण्यकोशस्थ ब्रह्मात्म-सायुज्य युक्त ब्रह्म है। अश्व गति का सूचक है। मतियों और इष्टियों से गतिशील होने वाले 'मनुष्य रथ' की चर्चा पहले हो चुकी है। निम्नतर स्तरों पर मरुतों (प्राणरश्मियों) के विविध गणरूप रथ¹⁰⁶ अश्वों (रश्मियों) के पीछे 'शुभम्' की ओर दौड़ते रहते हैं, परन्तु हिरण्यकोश में जाकर जब वे सब शान्त, सुस्थिर और अद्वैत हो जाते हैं तो वही 'अचित्तं ब्रह्म' नामक अनश्व रथ कहा जा सकता है। इसी स्थिति तक पहुँचाने वाला 'याम'¹⁰⁷ वांछनीय है, क्योंकि 'अनश्व' होने के अतिरिक्त इस मार्ग की एक विशेषता यह भी है कि इस पर 'अरथी' चलता है। अरथी के चलने का तात्पर्य यह है कि यहाँ से इन्द्रब्रह्म प्रेरित 'अनशवासः अरथाः पवयः' आसुरी शक्तियों (दस्यून्) को अभिभूत करते रहते हैं।¹⁰⁸ यह वस्तुतः समाधि की वह अवस्था है जिसमें चेतना तरंगें उठती गिरती रहती हैं और जिसे मन्त्र में रसा कहा गया है :-

याभी रसां क्षोदसोदगः पिपिन्वथुः अनश्वं याभी रथमावतं जिषे। ऋ.1.112.12

इस मन्त्र में अश्विनौ की उन ऊतियों की चर्चा है, जो समाधिजन्य आनन्दरस की 'रसा' को आनन्दोदक बाढ़ से परिपुष्ट करती हैं और अनश्व रथ की विजयार्थ रक्षा करती है। इसी अवस्था का द्योतक रथ रासभ-योग¹⁰⁹ की कल्पना में है। ये 'ऊतयः मरुतः' हैं जिनसे युक्त इन्द्र 'मरुतवान्' ऊती कहलाता है।

हिरण्यरथ

हिरण्यकोश के सन्दर्भ में कल्पित उक्त शान्त, सुस्थिर अनश्व रथ के अतिरिक्त वेद में हिरण्यरथ की कल्पना भी प्राणिक होती है। यही वह 'हिरण्यय सुवृत रथ' है जिसके द्वारा अश्विनौ का आगमन वांछनीय

माना गया है।¹¹⁰ ऋ. 8.5.35 में जब हिरण्यय-रथ से आने वाले नासत्या के लिये धीजवना और उसके अश्वों के लिये 'द्रवत्पाणि' विशेषण प्रयुक्त होता है, तो अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त-‘नासत्य’ नामक चेतना को लेकर अवरोह करने वाले नासत्या ‘धी’ का वेग धारण करके आते हैं, तो वे करुणा-द्रवित पाणियों (रश्मियों) के माध्यम से प्रकट होते हैं। ‘धी’ प्रज्ञातत्त्व का बोधक¹¹¹ है। इसका अर्थ है कि हिरण्ययकोश का एक ऐसा प्रज्ञा पक्ष भी है, जो अनश्व रथ के विपरीत द्रवत्पाणि अश्वों द्वारा नासत्यों को अवरोहित करता है। इसी दृष्टि से अश्विनौ के लिये धियंघ्रा, धियंजिन्वा तथा धिष्ण्या जैसे प्रज्ञापरक विशेषणों का प्रयोग होता है और उनका वृषण्वान् रथ मनीषियों के वयुनम् (प्रज्ञानम्) को सुभूषित करने वाला¹¹² माना जाता है। यह वृषण्वान् रथ ब्रह्मानन्दरूप सोम की वर्षा करने वाला ‘पूर्णरथ’ है¹¹³ जिसके द्वारा आने वाले धिष्ण्या अश्विनौ को इन्द्रतमा, मरुतमा, दस्रा, दंसिष्ठा, रथ्या तथा रथीतमा कहकर यह भी स्पष्ट संकेत दिया जाता है कि भक्त की ओर हिरण्ययकोश से आने वाले ‘ये अश्विनौ इन्द्र ब्रह्म की मरुतः नामक रश्मियों से भी अतिशय युक्त होते हैं।

अश्विनौ की रथयात्रा

अश्विनौ की यह रथयात्रा वस्तुतः ब्राह्मी शक्तियुग्म की वह अवतरण क्रिया है जिसके द्वारा जीव का उद्धार सम्भव है। इसका प्रमाण वे अनेक आख्यान हैं जिनमें अश्विनौ विभिन्न पीड़ितों की सहायता करते हुए बताये जाते हैं; उदाहरण के लिये, अहंबुद्धि, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों की सप्तसिन्धुओं में डूबते हुए ‘तौग्रय’ के लिए ‘आत्मन्वत् प्लवम्’ का निर्माण अश्विनौ के अवरोहण का ही एक परिणाम है।¹¹⁴ उनकी देवयान से होने वाली यह यात्रा जीव को ‘तमस्’ से पार पहुँचाने के लिये होती है।¹¹⁵ इसीलिये, पापी मनरूप अश्व से युक्त (अघाश्व) पेदु को वे श्वेत अश्व (निर्मल मन) प्रदान करते हैं¹¹⁶ :-

यमश्विना ददथुश्वेतमश्वमघाशवाय शश्वदित्स्वस्ति ।

ऋ 1.116.6

एक अन्य आख्यान में अघाश्व के स्थान पर ऋज्जाश्व रूप में कल्पित अज्ञानान्ध जीव को अश्विनौ दृष्टिदान देते हैं, साथ ही उन शत मेषों को भी जिन्हें मारने के कारण उसे अन्धा किया था।¹¹⁶ ये शत मृत मेष उन शत देवकर्मों से तुलनीय हैं जिनके द्वारा प्राजापत्य यज्ञ¹¹⁷ ‘विश्वतः ततः तथा आयत’ माना जाता है।

अश्विनौ का अश्व

इस प्रकार जिस ज्ञान तत्त्व को यहाँ दृष्टि रूप में कल्पित किया गया उसी को श्वेत अश्व रूप में अभिव्यक्त किया है। अतः अश्विनौ के दोनों कार्य उस साध्य के साधनरूप में होंगे जिसे ‘अचित्तं ब्रह्म’ की प्राप्ति कहा जा सकता है। इसी प्रकार अश्विनौ द्वारा किसी को अन्धकार से मुक्त करवाना तथा अन्धेपन या विकलांगता आदि की चिकित्सा का अर्थ भी लगाया जा सकता है, परन्तु जीव के उद्धार के लिये अश्विनौ निम्न साधनों को एकत्रित करते हैं-उनके द्वारा प्राप्य साध्य

क्या है? इसका उत्तर ऋ. 1.116.7 में है जिसके अनुसार, अश्विनौ एक शक्तिशाली अश्व के सुम से सौ घड़े मधु प्रदान करके कक्षीवान् को आनन्द से आप्यायित कर देते हैं। इस शक्तिशाली अश्व को स्वयं परब्रह्म का प्रतीक मानकर उससे प्राप्त शतकुम्भ मधु वह आनन्द प्रतीत होता है, जो उपर्युक्त शत देवकर्मों का लक्ष्य हो सकता है। यह लक्ष्य निस्संदेह ब्रह्मानन्द रूप मधु है, जो अश्विनौ के प्रसंग में सर्वाधिक चर्चित है।

मधुविद्या और अश्व

इस दृष्टि से मधुविद्या विषयक सुप्रसिद्ध आख्यान महत्त्वपूर्ण है। अथर्वापुत्र दध्यङ् के शिर पर अश्व-शिर रखकर मधुस्रोत को प्राप्त करने वाला व्यष्टिगत इन्द्र (जीव) है। अथर्वा (अथ+अर्वाक्) का पुत्र दध्यङ् उस परावाक् का प्रतीक है, जो विज्ञानमयकोश से समनी शक्ति के रूप में अर्वाक् गति करती रहती है। ब्रह्मानन्द रूप मधु उससे तभी प्राप्त हो सकता है जब वह उस ब्रह्मवाक् से युक्त हो जो सीधे परब्रह्म से प्रवाहित होती है। यह क्रिया समाधि में ही सम्भव है। समाधि का अर्थ है ब्रह्मात्म-सायुज्य। इसी का प्रतीक है उक्त अश्व शिर का दध्यङ् के शिर के स्थान पर प्रत्यारोपित करना। जैसा कि पहले कह चुके हैं कि दध्यङ् उस समनी शक्ति का प्रतीक है, जो सामान्यतः विज्ञानमयकोश से आती है, परन्तु यह मधुविद्या का रहस्य उसी समय उद्घाटित करती है जब वह उन्मनी होकर आनन्दमय और हिरण्यकोश से जुड़ती है। इसका अर्थ है कि सामान्य समनी शक्ति का असामान्य होकर उस शक्ति से संयुक्त होना जो हिरण्यकोश से आती है। दूसरे शब्दों में, दध्यङ् पर अश्व-शिर का प्रत्यारोपण वस्तुतः समनी शक्ति को उक्त हिरण्ययी वाक् से युक्त करना है। अतः यह वाक् ही यहाँ अश्व शिर है।

हिरण्ययी वाक् सामान्य वाणी से भिन्न वह ब्राह्मी शक्ति है, जो अन्ततोगत्वा ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म से अभिन्न होती है। तभी 'वाक् वै ब्रह्म'¹¹⁸ की उक्ति सार्थक होती है। इस अभिन्न स्थिति से जब वह नीचे की ओर प्रवाहित होती है, जो वह ब्रह्मवाक् कहलाती है। ब्रह्मलीन होने पर वह ब्रह्मस्वरूपा थी, किन्तु अब वाक् हो गई। इसी भेद को प्रकट करने के लिये प्रथम को ब्रह्म तथा द्वितीय को वाग्ब्रह्म या 'सुब्रह्मण्या वाक्'¹¹⁹ कहा जाता है। यह वाग्ब्रह्म ही पूर्वोक्त 'अचित्तं ब्रह्म' या ब्रह्म-रथ है जिसे शक्ति-प्रवाह रूप अश्व खींचता है और इस अश्व के 'पती' समञ्चन-प्रसारण रूप अश्विनौ हैं। यह शक्ति प्रवाह ही 'शुभम्' की अवस्था है जिसके प्रसंग में अश्विनौ को शुभस्पती कहा जाता है। 'पती' शब्द का अर्थ यहाँ स्वामी या पालक होने के साथ गति प्रदान करने वाला भी करना होगा, क्योंकि 'पती' शब्द की मूल धातु 'पत्' का प्रयोग अश्विनौ के प्रसंग में विविध प्रकार से पाया जाता है।¹²⁰ 'शुभ' तत्त्व को गति देने वाले समञ्चन प्रसारण को 'शुभस्पती' नाम देकर अश्विनौ को सूर्या के 'उभा वरा' रूप में उस समय प्रस्तुत किया गया है, जब सोम को सूर्या का वधूयुः कहा गया।¹²¹ इस वरयात्रा में अश्विनौ को शुभस्पती कहना आलंकारिक चमत्कार और विनोदपूर्ण अभिव्यक्ति है, जो निश्चय ही 'पती' शब्द के शिल्पार्थ पर आधारित है।

अश्व के विविध नाम

इस प्रकार सुब्रह्म रूप रथ के वाहक वाग्ब्रह्म रूप अश्व से जुड़े समञ्चन प्रसारण—युग्म को मूलतः अश्विनौ नाम देकर जब उसकी उत्तरोत्तर अवरोहण—यात्रा को दिखाया गया, तो यह प्रकट हुआ कि अश्विनौ का यह मूल अश्व स्वरूप परिवर्तन के साथ-साथ अन्यान्य नाम भी धारण करने लगा। इसी दृष्टिकोण से अश्विनौ पेदु को श्वेत अश्व के दाता बने। इसी परिप्रेक्ष्य में, वैदिक अश्व के विभिन्न रूप रूपान्तरों की व्याख्या सम्भव है। यद्यपि बर्गेन, लुडविग, पिशेल, ब्रेक और ओल्डेनबर्ग जैसे विद्वानों ने इन रूपान्तरों में से दधिक्रा अथवा दधिक्रावन् पर अपने विचार व्यक्त किये हैं; किन्तु किसी ने इस बात को रेखांकित नहीं किया कि इसके द्वारा उड़ाई गई धूलि 'जन्यो न शुभ्वा रेणुः'¹²³ उस 'शुभम्' का स्मरण कराती है जिससे पूर्वोक्त 'शुभम्' और 'शुभस्पती' अश्विनौ संयुक्त हुए। यह तथ्य भी उपेक्षित रहा कि दधिक्रा अश्व दध्यङ् के उस अश्व-शीर्ष से सम्बन्ध रखता है जिसके द्वारा वह मधुविद्या का उपदेश करता है। वह मधुविद्या निस्संदेह ब्रह्मविद्या है। इसके साथ ही इन विद्वानों द्वारा ऋ. 4.40.5 भी उपेक्षित रहा जिसमें दधिक्रा अश्व के विभिन्न रूपों को स्पष्टतः वर्णित करते हुए वस्तुतः व्युत्थान प्राप्त जीवात्मा ही चित्रित किया गया है :-

हंसः शुचिषद्वसुः अन्तरिक्षद्वोता वेदिषत् अतिथिः दुरोणसत् ।

नृषद्वरसत् ऋतसद्वयोमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥

इस प्रसंग में, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उपनिषदों में यह मन्त्र अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या का पोषक माना गया है। वह स्वयं ऋतम् है, ऋतसद् और ऋतजा भी है। इससे ध्वनित होता है कि इस अश्व का एक रूप वह भी है, जो 'ऋत' नामक दिव्य नैतिकता से सम्बन्ध रखता है। इसी नैतिकता के फलस्वरूप जीवात्मा 'शुचिसद्' होगा और अन्त में परंपद पाकर 'व्योमसद्' कहा जायेगा। नरों (प्राण) में आसीन होने के कारण नृसद् और आध्यात्मिक अध्वर के परिप्रेक्ष्य में उसे 'होता वेदिषद्' कहा जा सकता है। आन्तरिक चेतना में निवास करने के कारण उसे अन्तरिक्षसद् तथा आपः और गो प्राणों से उत्पन्न होने से अब्जा और गोजा कहा जाता है। वसु रूप में वह बसने वाला शरीरी है, तो हंस रूप में वह ब्रह्म की खोज करने वाला आत्मा है। सदा 'वरेण्यम्' तत्त्व में निवास के कारण वह वरसद् आत्मा नाम ग्रहण करता है। 'अद्रि' का अर्थ अद्रवणशील है। अतः अद्रिजा का अर्थ पूर्वोक्त 'अनश्व रथ' रूप में वर्णित उस अचित्त ब्रह्म से प्रवाहित होने वाले आनन्द प्रवाह से है जिसे सोम कहा जाता है।

इसी प्रकार, आध्यात्मिक चेतना प्रवाह के विभिन्न रूपान्तरों को विश्लेषित करने का प्रयास करने पर वेद की अश्ववाती प्रमति,¹²⁴ अश्व-योगाः,¹²⁵ अश्वमघा,¹²⁶ अश्वविद् सोम¹²⁷ तथा अश्वयुजः मरुतः¹²⁸ आदि अनेक पदों की सुसंगत व्याख्या हो सकती है। इतना ही नहीं तभी हम ऋग्वेदों द्वारा एक अश्व से दूसरे अश्व के निर्माण¹²⁹ का रहस्य समझा सकेंगे। दधिक्रा अश्व ब्रह्मरूप अश्व की उपज है।

अतः उक्त आध्यात्मिक व्याख्या के सन्दर्भ में ही न केवल 'शुभं, शुभस्पती और अश्विनौ के अश्व की व्याख्या सम्भव है, अपितु ये अश्व जिन रथों में संयोजित होते हैं उन रथों के वाहक वाग्ब्रह्म रूप अश्व से जुड़े समञ्चन प्रसारण—युग्म को मूलतः अश्विनौ नाम देकर जब उसकी उत्तरोत्तर अवरोहण—यात्रा को दिखाया गया, तो यह प्रकट हुआ कि अश्विनौ का यह मूल अश्व स्वरूप परिवर्तन के साथ-साथ अन्यान्य नाम भी धारण करने लगा। इसी दृष्टिकोण से अश्विनौ पेदु को श्वेत अश्व के दाता बने। इसी परिप्रेक्ष्य में, वैदिक अश्व के विभिन्न रूप रूपान्तरों की व्याख्या सम्भव है। यद्यपि बर्गेन, लुडविग, पिशेल, ब्रेक और ओल्डेनबर्ग जैसे विद्वानों ने इन रूपान्तरों में से दधिक्रा अथवा दधिक्रावन् पर अपने विचार व्यक्त किये हैं; किन्तु किसी ने इस बात को रेखांकित नहीं किया कि इसके द्वारा उड़ाई गई धूलि 'जन्यो न शुभ्वा रेणुः'¹²³ उस 'शुभम्' का स्मरण कराती है जिससे पूर्वोक्त 'शुभम्' और 'शुभस्पती' अश्विनौ संयुक्त हुए। यह तथ्य भी उपेक्षित रहा कि दधिक्रा अश्व दध्यङ् के उस अश्व-शीर्ष से सम्बन्ध रखता है जिसके द्वारा वह मधुविद्या का उपदेश करता है। वह मधुविद्या निस्संदेह ब्रह्मविद्या है। इसके साथ ही इन विद्वानों द्वारा ऋ. 4.40.5 भी उपेक्षित रहा जिसमें दधिक्रा अश्व के विभिन्न रूपों को स्पष्टतः वर्णित करते हुए वस्तुतः व्युत्थान प्राप्त जीवात्मा ही चित्रित किया गया है :-

सन्दर्भ

- 1 आपो वै मरुतः। ऐ. 6.30; माश. 6.4.1 9; आपौ वै प्राणाः। माश. 3.9.2.4; जै. 3.10.9
- 2 जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया। यच्छुभं याथना नरः। ऋ. 1.23.11
- 3 हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा। ऋ. 1.23.9
- 4 पूषा राजामनाघृणिरपगूळहं गुहाहितम्। अविन्दच्चित्रवर्हिषम्। ऋ. 1.23.14
- 5 उतो स मह्यमिन्दुभिः षड्युक्तां अनुसेषिधत्। ऋ. 1.23.15
- 6 ऋ. 1.23.16-17
- 7 अप्सु अन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः। ऋ. 1.23.19
- 8 ऋ. 1.23.11
- 9 इन्द्रे सर्व देवाः। माश. 1.6.3.22, इन्द्रः सर्वाः देवाः माश. 3.4.2.2; तु. जै. 1.321
- 10 सर्वदेवत्यो अग्निः। मैसं. 3.1.5; सर्वेषामात्मा अग्निः। माश. 7.4.1.25; 9.5.1.7
- 11 सोमः सर्वाः देवताः। ऐ. 2.3; सोमो वै देवानां जनिमा। जै. 3.174
- 12 जै. 3.384; 3.80
- 13 ऋ. 4.19.1
- 14 ऋ. 4.19.2
- 15 शौ. 20. 91.12
- 16 आपःसत्ये (प्रतिष्ठिताः) ऐ. 3.6; गो. 2.3.2
- 17 अदिभःसत्यं (अन्वाभवत्), काठ. 35.15
- 18 ऋ. 1.86.8-9
- 19 शौ. 19.42.3
- 20 शौ. 19.41.1
- 21 ऋ. 1.100.7
- 22 ऋ. 2.22.2
- 23 ऋ. 9.5.11
- 24 अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्। ऋ. 9.66.20
- 25 ऋ. 6.62.4
- 26 ऋ. 6.62.3
- 27 ऋ. 6.62.6
- 28 ऋ. 6.62.11
- 29 ऋ. 6.62.10
- 30 आ यो अर्वाङ् नासत्या ववर्त। ऋ. 6.63.1
- 31 ऋ. 6.63.5
- 32 ऋ. 6.63.6
- 33 ऋ. 1.3.1
- 34 शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः। ऋ. 4.51.6
- 35 ऋ. 4.51.5
- 36 शर्धं शर्धं व एषां ब्रातं ब्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः। अनुक्रामेम धीतिभिः। ऋ. 5.53.11
- 37 ऋ. 5.57.2
- 38 ऋ. 5.55.1

- 39 ऋ. 5.55.3
 40 ऋ. 5.55.4
 41 ऋ. 5.56.9
 42 ऋ. 6.66.6; तु. 6.50.5; 1.167.5
 43 ऋ. 8.5.11
 44 ऋ. 8.22.14
 45 आ हि रुहतमश्विना रथेकोशे हिरण्यये वृषण्वसू । ऋ. 8.22.9
 46 ऋ. 10.93.6
 47 ऋ. 8.26.6
 48 ऋ. 8.26.7
 49 ऋ. 8.26
 50 ऋ. 4.3.6
 51 प्राणो वै समञ्चन प्रसारणं यस्मिन् वा अंगे प्राणो भवति तत् सं चाञ्चति प्र च
 सारयति । माश. 8.1.4.10
 52 ऋ. 7.38.5; 40.6
 53 ऋ. 5.41.15
 54 ऋ. 1.22.10
 55 ऋ. 1.169.1 ; 2. 20 .2 ; 4.55.1 ; 6.25.7; 7.21.8
 56 ऋ. 8.25.22
 57 वही 9-10
 58 वही 11; नौ शब्द वाङ्नामानि में पठित है ।
 59 वही 12
 60 वही 14
 61 वही 16-17
 62 ऋ. 8.25.21
 63 साम्राज्यमाधिपत्यं गच्छति सामराजा तुष्टुवानः । तां. 15.3.35
 64 तद् यत् समेत्य साम प्राजनयतां तत् साम्नःसामत्वम् । जैउ. 1.16.2.2;
 तु. जै. 3.379
 65 एतस्मिन् हीदं सर्वं समानम् । माश. 10.5.2.20
 66 ऐ. 3.23; गो. 2.3.20
 67 काठ. 29.2; क. 45.3
 68 तां. 11.3.9
 69 तयो (सदसतोः) यत् तत् तत्साम तन्मनः स प्राणः । जैउ. 1.17.1.2
 70 माश. 12.8.3.23; गो. 2.5.7
 71 ऋ. 2.8.5
 72 ऋ. 3.22.1
 73 ऋ. 4.7.6
 74 शौ. 19.72.1
 75 ऋ. 1.64.8; 10; 3.26.4; 8.18.11; 8.27.4 इत्यादि
 76 ऋ. 1.93.9
 77 ऋ. 1.34.1; 1.79.1; 165.13; 5.12.3
 78 आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना । ऋ. 1.34.11

- 79 ऋ. 4.3 .6
 80 ऋ. 10. 9. 4; साम 33; शौ. 1.6.1
 81 ऋ. 7.104.12
 82 जैसा कि द्यावापृथिवी के प्रसंग में बताया गया, प्रजापति के रोदन के कारण 'रोदसी' नाम हुआ और इसी रोदन के कारण 'मरुतः' का नाम रुद्राः, रुद्रासः, रुद्रिया या रुद्र-सूनवः हुआ। इस रोदन का मूल कारण है अहंकाररूप वृत्र का त्रास।
 83 उत्तरत उपचारो हि यज्ञः। माश. 8.6.1.19
 84 ऋ. 4 .3. 5
 85 'धिष्ण्यासु वृधसान' अग्नि का संकेत उन विभिन्न देवों में अग्नि का रूपान्तरित होना है जिनके निमित्त उससे 'शंस' या ब्रवः द्वारा धिषणा (वाक्) का प्रयोग करने को कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, वेद अपनी परोक्षवादी शैली द्वारा अग्नि के उत्तरोत्तर रूपान्तरित होने की बात कह रहा है।
 86 मरुदिभरुग्रः शुभमन्य ईयते। ऋ. 7.82.5
 87 ऋ. 9.28.1-2
 88 वही 3
 89 शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः। ऋ. 1.88.2
 90 ऋ. 1.87.2-4
 91 ऋ. 1.127.6
 92 ऋ. 5.55.8
 93 ऋ. 10.31.3
 94 ऋ. 1.120.10
 95 ऋ. 1.120.11
 96 ऋ. 1.120.12
 97 ऋ. 5.53.15
 98 वही 14
 99 ऋ. 7.89.3
 100 ऋ. 8.70.11
 101 ऋ. 8.70.14
 102 मै. 4.4 2; 4.3.10
 103 काठ.32.2
 104 शौ. 6.24.1
 105 ऋ. 1.152.5; द्र. सा. भा.
 106 ऋ. 5.55.1-9
 107 ऋ. 6.66.7
 108 अनश्वासो ये पवयोऽरथा इन्द्रेषिता अभयवर्तन्त दस्यून्। ऋ. 5.31.5
 109 ऋ. 1.34.9
 110 ऋ. 4.44.5
 111 श्री अरविन्द : वेदरहस्य, पृ.19
 112 ऋ. 1.182.1
 113 वही 2
 114 ऋ. 1.182.5. Shri Vipin Kumar Col. Deoband. In Public Domain.

115 ऋ. 1.182.6

116 ऋ. 1.116.16; 117.16

117 ऋ. 10.130

118 ऐ. 6.3; माश. 2.1.4.10

119 ऐ. 5.3

120 पतित्रिभिः (ऋ. 6.62.6); पेतथुः (ऋ. 1.182.5); रथो पतात् (ऋ. 1.46.3) आदि ।

121 सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । ऋ. 10.85.9

122 यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।

क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः । ऋ. 10.85.15

123 ऋ. 4.38.6

124 ऋ. 1.30.17; 53.5

125 ऋ. 1.186.7

126 ऋ. 7.71.1

127 ऋ. 9.55.3; 61.3

128 ऋ. 5.54.2

129 ऋ. 1.161.7

दशम अध्याय

उपसंहार

मनुष्य-व्यक्तित्व की समग्रता

षाट्कौशिक मनुष्य-व्यक्तित्व का जो विवेचन अब तक हुआ है उसके प्रसंग में पूर्वोक्त रथ तथा अश्व के रूपक विशेषतः विचारणीय हैं। हिरण्यय नामक कोश के सन्दर्भ में हमने जहाँ 'अनश्व-रथ' को 'अचित्तं ब्रह्म' रूप में प्राप्त किया वहीं अश्वयुक्त रथ को उस हिरण्ययरथ रूप में देखा जिससे सवितादि देव अवतरण करते हैं। प्रथम को एक 'मारुतं रथं'¹ 'शर्घं रथे शुभं त्वेषम्'² तथा 'शर्घन्तमं गणम्'³ अथवा 'स्वर्यं पर्वतम्'⁴ कहकर यह संकेत किया गया है कि वह अनश्व रथ या अचित्तं ब्रह्म षाट्कौशिक व्यक्तित्व की वह अद्वैत चेतना है जिसे हम 'ब्रह्मात्म-सायुज्य' की अवस्था कह चुके हैं। इसी प्रसंग में मरुतों की अनेकरूपता का आह्वान करते हुए⁵ प्रथमतः एक रथ में (रथे) दो अश्वों और तत्पश्चात् अनेक रथों में (रथेषु) रोहित अश्वों के संयोजन की प्रार्थना की गई है।⁶ एक रथ में दो अश्वों को संयुक्त करने का अर्थ है अद्वैत को द्वैत रूप देकर नानात्व की सृष्टि करना, जबकि अनेक रथों में आरोहण करने वाले रोहित अश्वों को सन्नद्ध करने का तात्पर्य है अनेकता से एकीभूत चेतना की ओर आरोहण करना।

अश्वद्वय

अद्वैत और अनेकत्व की दृष्टि से रथ के प्रसंग में जैसा द्विविध वर्णन प्राप्त होता है वैसा ही अश्व के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। प्रथम रूप में वह मनुष्य-व्यक्तित्व के सप्त लोकों को एकत्रित करने वाला 'देवजात सप्ति'⁷ है जबकि द्वितीय रूप में 'प्रथमं जायमानः' है जिसके द्वैत रूप को दो पक्षों अथवा दो बाहुओं के द्वारा संकेतित किया गया है।⁸ उसके नानात्व को लक्ष्य करके उस अश्व की 'राति' को ले जाने वाले अनेक कहे गये हैं।⁹ अश्व के इन दोनों रूपों का उल्लेख क्रमशः आरोहणशील और अवरोहणशील 'अश्विनौ शुभस्पती' के प्रसंग में देख चुके हैं। यहाँ, यह पूर्व कथन भी स्मरणीय है कि दोनों प्रकार के रथ अथवा अश्व मरुद्गण नामक रश्मिपुंज के द्विविध प्रतीक हैं। इसीलिये दोनों अश्वों से संयुक्त अश्विनौ को 'मरुत्तमा' भी कहा जाता है।

अश्वमेध और पुरुषमेध

ब्रह्मात्मसायुज्य की हिरण्यकोशीय चेतना का अवतरण जब अवरोहणशील अश्व के रूप में कल्पित किया जाता है, तो वह 'इन्द्रापूर्णा' के 'प्रिय पाथ' को व्याप्त करने वाला कहा जाता है।¹⁰ इन्द्रापूर्णा नाम से वह अवरोहणशील चेतनायुग्म अभिप्रेत है, जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की संयुक्त पोषणक्रिया में अभिव्यक्त होता है। इस कार्य में व्यष्टिगत इन्द्र (जीव) रूप अश्व मस्तिष्क रूप पुरोडाश¹¹ को प्रमुखता प्रदान करता है (पुरोनायते), क्योंकि इसमें विश्वदेव नामक

सभी प्राण केन्द्रीभूत होते हैं। अतः उसे 'विश्वदेव्य भी कहा जाता है और तन-मन के पोषण का आधारभूत साधन होने से वही 'पूष्णो भागः' भी होता है :-

एषच्छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यं ।

अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वतात्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति ॥ ऋ. 1.162.3

ज्ञानेन्द्रियों, कर्मन्द्रियों तथा विश्वदेवाः प्राणों में जीवात्मारूप अश्व के विभक्त होने को ही अश्वमेध-यज्ञ रूप में कल्पित किया गया है। इस प्रसंग में यज्ञ का जो अदभुत रूपक वेदमन्त्रों में प्रस्तुत किया जाता है उससे सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि यहाँ अग्नि में अश्वबलि ही अभिप्रेत है, परन्तु जब 'पक्व' अश्व के उन साक्षात्कर्त्ताओं का उल्लेख होता है, जो उससे 'सुरभिर्निरहर' कहकर कुछ देने को कहते हैं, तो स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है¹² कि अश्वमेध वस्तुतः जीवात्मा रूप अश्व को ज्ञानाग्नि में पकाने का नाम है।

इस प्रसंग में, यह भी ध्यातव्य है कि जब यजुर्वेद 'प्राणश्च मे अश्वमेधश्च मे कल्पताम्' कहता है¹³ तो भी यही ध्वनित होता है कि अश्वमेध भी प्राण के समान ही कोई आध्यात्मिक तत्त्व होगा। इसी प्रकार ऋग्वेद जिस 'ऋतायते अश्वमेधाय सूरये' को अग्नि द्वारा मेधा देने का प्रसंग उपस्थित करता है¹⁴ और जिस अश्वमेध के भीतर 'शतदाव्नी इन्द्राग्नी' को सुवीर्यम् नामक 'बृहदक्षत्रम्' का निवेश करने वाला कहा जाता है,¹⁵ वह भी सामान्य प्राण से भिन्न कोई उच्चतर आध्यात्मिक स्तर ही होना चाहिये। इस दृष्टि से सम्बन्धित सूक्त (ऋ. 5.27) के ऋषि अत्रि को 'तुरीय' अवस्था के आत्मा के रूप में समझा जा सकता है। सत्पति (ब्रह्म) की कृपा से, उसके कारण, सूक्ष्म और स्थूल देह में आनन्दज्योति की वर्षा हो रही है, अतः उसका यह त्रिवृत् स्तर त्रैवृण्य एवं त्र्यरुण कहा गया। अब वह अपने 'दस्युओं' (आन्तरिक शत्रुओं) को त्रस्त करने में समर्थ होने से 'त्रसदस्यु त्र्यरुण' भी है। उसका जो पक्ष पहले असुर था वह भी 'चेतिष्ठ' (ज्ञान से सुसम्पन्न) तथा मघोनः (आध्यात्मिक धनों से युक्त) हो गया। (मं. 1)

अब उसकी प्रार्थना यही है कि उसके 'मनस्मय'¹⁶ 'अन' को वहन करने वाले गौ-युग्म महिमावान् बनाये, परिणामतः त्रैवृण्य त्र्यरुण व्यक्तित्व को सहस्रवर्णशील दशप्राणों द्वारा जाना जाय:-

त्रैवृण्यो अग्ने दशभिः सहस्रैर्वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत । ऋ. 5.27.1

इसके साथ ही, मूलाधार से सहस्रारपर्यन्त शतदेवकर्मों तथा दशेन्द्रियों समेत दशप्राणों के तन्तुओं रूप गायों के योक्ता हरीयुग्म को देने वाला वैश्वानर अग्नि त्र्यरुण को 'शर्म' प्रदान करे तथा प्रणवनिमित्त (नविष्टाय) नवमी सुमति के इच्छुक उस त्रसदस्यु त्र्यरुण को शर्म प्रदान करे, जो सबल (तुविजातस्य) हुए मुझ अत्रि की 'पूर्वी गिरः' (पुरव्यापी विज्ञानगिराओं) को युक्त मन से जानता है (मं. 2-3)। इस प्रकार, ऋत सम्पन्न 'अश्वमेध सूरि' बना व्यक्तित्व मेधा का अधिकारी होता है (मं. 4), तब अत्रि को अश्वमेध प्रदत्त ब्रह्मानन्द की परक धारायें कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर के परिप्रेक्ष्य में कल्पित व्याप्ति साधाराओं के रूप में

आनन्दित करने लगते हैं (मं.5)। इस शतदाता अश्वमेध के भीतर इन्द्राग्नी 'सुवीर्यम्' नामक 'बृहत् क्षत्रम्' का निवेश इस प्रकार करते हैं मानो युवा सूर्य का द्युलोक में निवेश हो रहा हो (मं. 6)। दूसरे शब्दों में, मनुष्यव्यक्तित्व 'अश्वमेध' तब होता है जब अत्रि (तुरीय) स्तर पर ब्राह्मी मेधा का आत्मा की चेतनाधाराओं के साथ सहस्रवण होने लगता है।

इस अश्वमेध की तुलना पुरुष-सूक्त के पुरुषमेध से की जा सकती है। वहाँ ब्रह्मात्मसायुज्य से प्रसूत जिस हिरण्यकोशीय चेतना में ब्रह्म और आत्मा की शक्तियों का सहस्रवण होता है वह 'सहस्रवण' ही पुरुष सूक्त के 'सहस्रशीर्षाः' आदि विशेषणों के मूल में है। पूर्वोक्त अश्व के समान पुरुष भी नानात्व में विभाजित होकर यज्ञ रूप ग्रहण करता है। अन्तर यह है कि यह पुरुष व्यक्तिगत चेतनाभूमि को आवृत करने के साथ ही उससे परे भी स्वीकार किया गया है।¹⁷ 'इदं सर्व' और 'भूतं भव्यम्' में तो उसकी शक्ति (महिमा) अभिव्यक्त है, परन्तु वह स्वयं तो उससे भी बड़ा है:- अतो ज्यायँश्च पुरुषः।¹⁸ इस पुरुषयज्ञ द्वारा सम्पादित होने वाली नानात्व सृष्टि के आलंकारिक वर्णन द्वारा न केवल पिण्डाण्डगत सृष्टि का, अपितु ब्रह्माण्डगत सृष्टि का संकेत भी प्राप्त होता है।¹⁹

आरोहणशील-अश्व,

उक्त अश्वमेध और पुरुषमेध की तुलना से स्पष्ट है कि दोनों का मूलाधार हिरण्यकोशीय चेतना का अवतरण है। इसकी पुष्टि उस अश्व के वर्णन से भी होती है, जो आरोहण करता है। तदनुसार, आरोहणशील अश्व को यम द्वारा प्रदत्त, त्रित द्वारा आयुक्त एवं इन्द्र द्वारा अधीष्ठित कहा गया है।²⁰ यम द्वारा प्रदत्त होने का अर्थ है यम-नियम-संयम प्रदत्त चेतना को अतिमानसिक यात्रा के लिये प्रयुक्त करना। इस प्रकार मनोमय-आत्मारूप अवर इन्द्र उस पर आरुढ़ होता है, तो विज्ञानमय-आत्मा रूप गन्धर्व उसकी रश्मा (लगाम) पकड़ता है तथा उसे कारणदेह में पहुँचाता है जिसे 'अन्तो वै सूरः'²¹ कहकर स्मृत किया जाता है। इस 'सूर' से उस चेतनारूप अश्व को पुनः 'वसवः' नामक प्राण निकालते हैं - 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।' वसवः से वे प्राण अभिप्रेत हैं जो समाधि की अवस्था में भी शरीर में बसते हैं। उक्त आरोहणशील अश्व समाधि-यात्रा करने वाली आत्म-चेतना है। समाधि के पश्चात्, व्युत्थानावस्था प्रारम्भ होने के साथ ही उक्त प्राण चेतनारूप अश्व को पुनः कारण देह से निकालकर सूक्ष्म और स्थूल स्तरों पर ले आते हैं। इस विचित्र अश्व के त्रिस्तरीय बन्धनों का वर्णन भी प्राप्त होता है -

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्र।

उतेव मे वरुणश्छन्त्यस्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥ ऋ. 1.163.4

यहाँ अश्व के तीन द्युस्थानीय बन्धन हिरण्यय, आनन्दमय और विज्ञानमय कोशों के रूप में, प्राणरूप आपः-स्थानीय बन्धन प्राण, अपान और व्यान के रूप में तथा समुद्रस्थानीय (मनःसमुद्र के) इच्छा, क्रिया और ज्ञान के रूप में माने जा सकते हैं, जबकि 'परमं जनित्रम्' चेतना स्तर में उसे वरुण देव के संरक्षकत्व में मान सकते हैं। इस प्रकार वह 'परमं सधरथम्' (समाधि) पर आसीन होकर

पुनः 'मातरं पितरम्' (द्विविध प्रवाह) की ओर गतिशील होने के पश्चात् देवों को प्राप्त हो अनेकरूपता को ग्रहण करता है।²² अतः इस अश्व की तुलना उस 'तपस्वी रोहित से कर सकते हैं जो अपने तप द्वारा द्युलोक की ओर आरोहण करके अपनी 'योनिम्' (तु जनित्रम्) को प्राप्त करता है और पुनः जन्म लेकर 'देवानामधिपतिः' हो जाता है।²³

सोम और अश्व

दूसरे शब्दों में, अश्वमेध यज्ञ का अश्व वस्तुतः उस तपस्वी अथवा संयमशील साधक जीव का प्रतीक है, जो समाधि के निमित्त आरोहण करके ब्रह्मात्मसायुज्य में अद्वैत पद प्राप्त करता है, परन्तु व्युत्थानावस्था में वही पुनः नानात्व ग्रहण करता है। तप अथवा संयम की साधना ही उस अग्नि का प्रतीक है जिसमें 'सुकृत्' एवं 'शम्' की शक्तियाँ उस अश्व को 'मेघ शृतपाकम्' रूप में पकाती हुई कही जाती हैं।²⁴ अतः जब अश्वमेधीय अश्व को, 'त्रीणि दिवि बन्धनानि' के प्रसंग ऋ.1.163.3 में सोम से विशेषतया ओत-प्रोत (सोमेन समया विपृक्त) कहा जाता है, तो इस कथन से वह साधक जीव ही अभिप्रेत हो सकता है, जो हिरण्यय, आनन्दमय और विज्ञानमय स्तरों पर ब्रह्मानन्द से ओत-प्रोत रहता है। द्युलोक से अवतरित होते हुए इस अश्व के 'आत्मानम्' का ज्ञान केवल मन द्वारा दूर से प्राप्त होता है,²⁵ परन्तु समाधिसूचक गोपद में (पदे गोः) उसके 'जिगीषमाणम्' उत्तम रूपम्' का साक्षात्कार होता है। यहाँ मनुष्य उस ब्रह्मानन्द का भोग करने के उपरान्त 'ओषधीः' (अनृत एवं दुरितनाशक तत्त्वों) को सर्वाधिक प्राप्त करता है,²⁶ क्योंकि जिस सोम से वह अश्वरूप जीव ओत-प्रोत होता है वही 'अश्वावतीः सोमवतीः ऊर्जयन्ती ओषधीः' कल्पना का मूलाधार है।²⁷ उसी में समस्त ओषधियों का संगम होता है जिसके कारण उस साधक (विप्र) को मिषक् कहा जाता है²⁸— विप्रः स उच्यते मिषक्।

इन्द्राग्नी (अश्विनौ) का मिषज्या तनू

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिरण्यकोशीय ब्रह्मानन्दमयी चेतना ही वह 'नासत्या' है जिसके समञ्चन-प्रसारणात्मक द्विविध प्रवाह के रूप में नासत्या नामक अश्विनौ युग्म की कल्पना की गई। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि पूर्वोक्त अश्वमेधीय अश्व रूप में कल्पित साधक जीव को समाधिस्तर के परिप्रेक्ष्य में सोम से अतिशयरूपेण ओतप्रोत माना गया, क्योंकि एक मन्त्र में, सोम स्वयं एक अश्व रूप में कल्पित किया गया है,²⁹ इन्द्राग्नी को सम्बोधित मन्त्र में, धिषणा देवी द्वारा अभिषुत सोम को इन्द्राग्नी 'भद्रहस्ता सुपाणी अश्विनौ' होकर कर्मों (अप्सु) में ले दौड़ते हुए कहे गये हैं।³⁰ अतः इस सोम के सन्दर्भ से ही नासत्या अश्विनौ को 'मिषजौ' कहा गया।³¹ अश्विनौ के जिस त्रिधाभूत 'मिषज्या तनूः' का उल्लेख³² प्राप्त होता है उसे ब्रह्मानन्द रूप सोम ही माना जा सकता है। इसकी समञ्चन नामक अन्तर्मुखी ज्ञानपरक क्रिया को 'अग्नि' तथा प्रसारण नामक बहिर्मुखी कर्मपरक गति को 'इन्द्र' मानकर सोमरूप अश्व के नियन्त्रक युग्म को इन्द्राग्नी रूप में माना गया। अतः इन्द्राग्नी ही वे दो अश्विनौ अश्व हैं जो सोम से अभिन्न हुए

सोमरूप अश्व को अपने ही 'भिषज्या तनू' रूप में स्वीकार कर उसका वितरण सभी प्राणरूप देवों में करते हैं। इसीलिये वे 'देवानां भिषजौ' कहे गये हैं।³³

चक्षुषी अग्नीषोमौ

इन्द्राग्नी जिस प्रकार सोम का समञ्चन प्रसारण करते हैं, उसी प्रकार अग्नीषोमौ को 'इन्द्रिय ब्रह्मवर्चसम्'³⁴ का प्रदाता माना गया है।³⁵ ब्रह्मवर्चस् का अर्थ है परब्रह्मरूप इन्द्र की सच्चिदानन्दमयी सृष्टि, जिसका प्रसार अग्नि की ज्ञानशक्ति और सोम की भावनाशक्ति के संयुक्त प्रयास से होता है। अतः अग्नीषोमौ को दो दिव्य चक्षुओं के रूप में माना गया है।³⁶ जब अग्नीषोमौ को यज्ञ का चक्षु कहा जाता है, तो इस कथन से इन दोनों की कर्मकाण्डीय अपरिहार्यता मात्र अभिप्रेत नहीं, अपितु यह भी संकेतित है कि अग्नीषोमौ नामक तत्त्वों की वह सृष्टि उस यज्ञ की भी जननी है जिसे यजुर्वेद (शुक्ल) अपने प्रथम मन्त्र में ही 'श्रेष्ठतमकर्म' के रूप में प्रस्तुत करता है।

यह सृष्टि अपने श्रेष्ठतम रूप में उस समय होती है जब वह हिरण्यकोशीय ब्रह्मरूप इन्द्र सम्राट् से युक्त 'नासत्या वसू' होती है। इसी नासत्या युग्म का द्योतक पूर्वोक्त 'इन्द्रनासत्या' है। यही युग्म 'सुवेदा वसू' भी कहलाता है, क्योंकि वह उस वेद का समञ्चन-प्रसारण करता है, जो हिरण्यकोशीय 'सुवेद'³⁷ वसु है। सुवेदा वसू द्वारा आनीत वसु वेदस् होकर आनन्दमयकोश के जातवेदस् को जन्म देता है, जिसे पहले इन्द्राग्नीसोम की संयुक्त इकाई कहा गया है। इस स्तर से वेदस् को लेकर जो अग्नीषोमौ निम्नस्तरों को जाते हैं उन्हें 'सवेदसा' कहा जाता है। ये देवों के नानात्व में सम्भूत होते हैं, जबकि पूर्वोक्त सुवेदा अग्नीषोमौ 'परमा काष्ठा' तक पहुँचने वाले हैं। अग्नीषोमौ 'वृत्रहणौ'³⁸ भी है, क्योंकि उनके द्वारा श्रेष्ठतम-कर्मरूप यज्ञ में हिरण्यकोशीय गुहास्थ³⁹ 'सुवेदं उस्मियं वसु'⁴⁰ की अभिव्यक्ति होती है। यही वह 'रायः' है जिसे विमोचन (मुक्तिदाता) इन्द्र साधक को प्रदान करता है।⁴¹ इसी के उद्भरण और अन्तर्धान नामक द्विविध क्रिया से जो ब्रह्मवीर्य प्राप्त होता है उसी से साधक इष्ट कर्म (इष्टि या यज्ञ) करने का तप करता है।⁴² उद्भरण और अन्तर्धान प्राण की पूर्वोक्त प्रसारण एवं समञ्चन प्रक्रिया के फलस्वरूप सम्भव होता है। बहिर्मुखी उद्भरण या प्रसारण द्वारा प्राप्त होने वाले सुवेद की वेदस् संज्ञा⁴³ है। इस वेदस् के साथ अवरोहण करने वाले सवेदसा युग्म का पहले उल्लेख हुआ है। सुवेद को लाने में तत्पर युग्म का नाम 'नवेदसा' है। नवेदसा नामक अग्नीषोमौ 'परमा काष्ठा' (हिरण्यकोश) तक पहुँचते⁴⁴ हैं, जबकि 'सुवेदसा' अग्नीषोमौ आनन्दमय (जातवेदस्) से वेदस् लेकर निम्नस्तरों के सभी प्राण देवों में सम्भूत होते हैं:-

अग्नीषोमौ सवेदसा सं देवत्रा बभूवथुः। (तै. 3.5.7.2)

इस प्रकार आनन्दमयकोश और हिरण्यकोश के मध्य कार्यरत 'नवेदसा' तथा आनन्दमय से अन्नमय के मध्य 'सवेदसा' युग्म के सहयोग से अवतरित होने वाले सुवेद या अन्नमय को लाने वाली सोम है जिसे 'सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्यम्'⁴⁵ कहा जाता है। गोपथब्राह्मण की

प्राणसृष्टि के प्रसंग में जिस सुवेद को देखकर सृष्टिकाम प्रजापति ने उसकी अनुकृति उत्पन्न करने की कामना से जिस 'स्वेद' को उत्पन्न किया और जो उसके रोम-रोम से 'आपः' होकर प्रवाहित हुआ वह भी यही 'सहस्रवल्श' हिरण्यय सोम है। प्रजापति के इस सृष्टि-यज्ञ का आलंकारिक वर्णन वस्तुतः उक्त व्यष्टिगत अध्वर की कल्पना का प्रबल विस्तार है। व्यष्टिगत इन्द्र अहंकाररूप वृत्र का वध करने में समर्थ होता है।⁴⁶ वृत्रहन्ता अग्नीषोमौ निस्संदेह 'सवेदसा' होने चाहिये, क्योंकि इन्द्रब्रह्म से अवतीर्ण होने वाले वेद का 'वेदस्' रूप ज्ञान-धन ही सभी प्रकार के वृत्रों का वध करने में समर्थ है तथा वही ब्रह्मवर्चस् है जिसके प्रदाता 'अग्नीषोमौ' कहे गये हैं।

नवेदसा अग्नीषोमौ

सवेदसा अग्नीषोमौ द्वारा वेदस् को निम्न स्तरों पर वितरित कर जिन प्राणों तक पहुँचाया जाता है, वे 'विश्ववेदसः'⁴⁷ नाम ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। वेदस् का प्रवाह वृत्र द्वारा अवरुद्ध करने पर सम्पूर्ण आन्तरिक 'विश्ववेदस्' सगर (विषयुक्त) हो जाता है⁴⁸ जिसके फलस्वरूप समस्त पुरुष-संहिता रूप मनुष्य-व्यक्तित्व अनृतसंहिता बन जाता है। ऐसी स्थिति में ही 'नवेदसा' अश्विनौ को सम्बोधित एक सम्पूर्ण सूक्त में निवेदन किया गया है कि वे त्रिविध रूप में सक्रिय होकर अपने याम (यम-नियम-संयम मार्ग) और राति (देन) को विभुत्व प्रदान करें।⁴⁹ उसके त्रिविध रूप से तात्पर्य सवेदसा तथा नवेदसा के उन रूपों से है जिन्हें अश्विनौ मनुष्यव्यक्तित्व में दिव्य सुवेद, सुविज्ञान नासत्य, शुभम् नाम से विख्यात ब्रह्मवीर्य को कारण, सूक्ष्म और स्थूल स्तरों पर पहुँचाता है, जबकि उनका 'यन्त्रम्' नामक तुरीय रूप केवल मनीषियों द्वारा ही प्रयत्न-साध्य होता है⁵⁰ :-

युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायं सेन्या भवतं मनीषिभिः ॥

नवेदा इन्द्र और नवेदसा अश्विनौ

अग्नीषोमौ अथवा अश्विनौ की पूर्वोक्त 'नवेदसा' संज्ञा उस नवेदाः नामक इन्द्र तत्त्व के कारण प्राप्त हुई है जिसे वे सर्वत्र पहुँचाने का कार्य करते हैं। इन्द्र को सम्बोधित एक सूक्त में उससे प्रार्थना है कि वह मेरे ऋतों का 'नवेदाः' हो जाय।⁵¹ आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें, तो नवेदाः नामक इन्द्र-तत्त्व अग्नीषोमौ (नवेदसा) का न्यूक्लियस (केन्द्र) है, जबकि उस युग्म के अग्नि एवं सोम को क्रमशः पोजिटिव (धनात्मक) और निगेटिव (ऋणात्मक) पक्ष कह सकते हैं। इनमें से प्रथम (अग्नि) स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तर पर क्रमशः पार्थिव, वैद्युत तथा आदित्य अग्नि है जबकि डा. फतहसिंह के अनुसार द्वितीय (सोम) ही वेद में पार्थिवाः, दिव्याः एवं समुद्रियाः आपः के रूप⁵² में कल्पित हुआ है। इसलिये नवेदाः इन्द्र के साथ ही उसके सखा उन मरुतों के सख्य की कामना भी की जाती है, जो मनुष्य में अपने सुब्रह्म युक्त (सुयुजम्) काम को विस्तारित करते हैं।⁵³ तभी उसके 'ऋतस्य शुरुधः' (ऋत के आपः⁵⁴) प्रवाहित होते हैं और व्यापक ऋत की वृद्धि से पूर्वोक्त युग्म 'पृथ्वी' (विस्तृत) 'बहुले गभीरे' हो जाते हैं और अन्त में 'परमे धेनू' होकर 'दुग्ध' (सोम का एक रूप) प्रदान करने लगते हैं।⁵⁵

नवेदसः मरुतः

इन्द्रसखा मरुतः भी उक्त 'नवेदाः' इन्द्र के प्रसंग से ही 'नवेदसः' कहे गये हैं। नूतन और पूर्ण अथवा निरन्तर बसने वाले 'वसवः' मरुतों से 'नवेदसः' होने की प्रार्थना की जाती है⁵⁶, क्योंकि वे उक्त नवेदाः इन्द्र तथा नवेदसः (अश्विनौ) युग्म की 'रश्मयः' हैं, जिन्हें समुद्रीय आपः की वृष्टि के लिये भी कहा जाता है।⁵⁷ 'विरोकिणः सूर्यस्य रश्मयः'⁵⁸ कहलाने वाले इन मरुतों के 'आभूषण्यं महित्वनम्' तथा 'सूर्यस्येव चक्षणम्' का उल्लेख करते हुए जब उनसे निवेदन किया जाता है कि वे हमें अमृतत्त्व में स्थापित कर दें⁵⁹ तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक मरुत् सामान्य आँधी-वर्षा के देवता नहीं, अपितु वे आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जो साधक के अन्तस् में सोमरूप उक्त त्रिविध आपः की वृष्टि करते हैं। इसीलिये, नवम मण्डल में पवमानाः सोमासः को 'मरुत्वन्तः मत्सराः इन्द्रियाः हयाः' के रूप में कल्पित किया गया और साथ ही 'मेधामभि प्रयासि च' कहकर आध्यात्मिक जगत् से भी सुसम्बद्ध वर्णित किया है।⁶⁰ अतः जब इन्द्रादि के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से मरुतों को सोमपान के लिये आहूत किया जाता है, तो वस्तुतः वहाँ आन्तरिक मरुतों द्वारा ब्रह्मानन्द सोम का आस्वादन करना ही अभीष्ट समझना चाहिये। परन्तु, फिर भी सोम को कोई भौतिक पेय समझना भूल होगी, क्योंकि जहाँ 'पवमानाः' को 'मरुतः' कहा जा सकता है, वहीं एकवचनान्त पवमानः ऋ. 9.66.26 में एक रथीतम, शुभ्रस्तम मरुदगण के रूप में वर्णित हुआ है :-

'पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रस्तमः। हरिशचन्द्रो मरुदगणः।'

जो ऋतं बृहत् रूप शुक्र ज्योति को जन्म देता है और 'कृष्णा तमांसि' का वध कर देता है।⁶¹

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मरुदगण के पूर्वोक्त रश्मिपुंज को एक रथ या रथीतम रूप में कल्पित किया गया अथवा उसके आधार पर अश्विनौ युग्म को 'रथीतमा' माना गया, उसी प्रकार पवमान सोम के भी 'रथीतम' मरुदगण रूप की कल्पना भी वेद में की गई है। अतः मरुतों, अश्विनौ एवं सोम को एक समान आध्यात्मिक दृष्टि से ही समझने की आवश्यकता है। तभी हमें बोध होगा कि मरुतों के लिये प्रयुक्त 'नवेदसः' विशेषण का प्रयोग स्वयं के लिये कहते हुए साधक अपने को भी 'नवेदसः' बनाने के उपाय का अनुसंधान कर कहते हैं:- "हमने ध्यान-प्रक्रिया को ग्रहण किया, तो हमारे 'ऊमाः अंशा' (अतिमानसिक चेतना रश्मियाँ) भी उत्कृष्टतम स्तर पर पहुँच गईं और हम 'सुवित् शुष्म' को प्राप्त कर अमृतों के मध्य नवेदसः हो जायें— नवेदसो अमृतानामभूम (ऋ. 10.31.3)।" इस निमित्त गृहीत 'धीति' के लिये 'विश्वा दुरिता' को पार करने,⁶² द्रविणम् नामक सोम-तत्त्व का मनन करने, ऋतमार्ग की नमः द्वारा परिचर्या करने तथा निजी संकल्प द्वारा (स्वैन क्रतुना) मनसा श्रेष्ठ दक्षता (श्रेयांसं दक्षम्) की प्राप्ति रूप में आध्यात्मिक साधना ही अभीष्ट होती है।⁶³ इस साधना के फलस्वरूप जब 'ऊँ' सविता प्रकट हो जाते हैं⁶⁴ तो अनेक उषाओं के मध्य⁶⁵ एक अपूर्व

‘सुमति पप्रथाना’ उत्पन्न होती है जिसे मन्त्र⁶⁶ में ‘गौ’ रूप में कल्पित किया जाता है। वही सुमति ‘द्यावापृथिवी’ युग्म में परिणत होती है जिससे अनेक अहानि उषसः प्रकट होते हैं।⁶⁷

नवेदाः उषसः, अग्नि और इन्द्र

नवेदसः होने की उक्त साधना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली ‘उषसः’ के परिचय के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में उषाओं को आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में ही ‘नवेदाः’ कहा गया है, उदाहरण के लिये ऋ. 1.74.1 की नवेदाः उषायें दिव्यकर्म की इच्छुक (अपस्यवः) सत्या शक्तियों के रूप में कल्पित हैं; इन शक्तियों का विशेष सम्बन्ध उस ‘ऋत’ नामक तत्त्व से है, जो कार्यसिद्धि, कार्य-साधन एवं कार्य-समय के औचित्य का पक्षधर कहा जा सकता है। यही बृहत् नैतिकता का आधार तथा संयम साधना का सार कहा जा सकता है। अतः अग्नि से प्रार्थना है कि वह ऋत द्वारा ऋतसम्पन्न होता हुआ (ऋतयन् ऋतेन) हमारी अभिव्यक्ति का नवेदा⁶⁸ बने, क्योंकि जिन उषाओं को नवेदाः सत्याः कहा जाता है वे ‘ऋतजात सत्याः’⁶⁹ ऋतस्य देवीः⁷⁰ ऋतयुक्त अश्वों द्वारा गमनशील तथा सुषुप्त जीव की प्रबोधयित्री⁷¹ ज्ञान-शक्तियाँ हैं जो सम्भवतः इन्द्रवतः इन्द्रसखाओं के रूप में ‘मरुतः नवेदसः’ हो जाती हैं। अग्नि के सन्दर्भ में ये ही वे उषायें हैं जिनके उदय होने में अग्नि ‘ऋतानां नवेदा’ होकर मनुष्य के सख्य की कामना करता है।⁷²

इन्द्रासोमा की उषा

इन अनेक ‘ऋतजातसत्याः’ कही जाने वाली उषाओं की समष्टि उस एक उषा में दृष्टिगत होती है जिसे ‘इन्द्रासोमा’ ने उत्पन्न किया, तो ज्योति सहित सूर्य को निकाला, अहि (वृत्र) का वध किया, नदियों की बाढ़ें (अर्णासि) उत्पन्न की और ‘समुद्राणि’ का विस्तार किया।⁷³ तभी इन्द्रासोमौ ने मनुष्यों को पतनरहित पद सिद्ध करने वाला ज्ञान (अपत्यसाचं श्रुत्यम्) तथा शत्रुदमनकारी बल (पृतनाषाहं शुष्मम्) भी प्रदान किया।⁷⁴ इस अद्भुत ज्ञान और बल को लाने वाली उक्त उषा-समष्टि को ही उस ‘ऋतप्रजाता बृहती’ की कल्पना में देखा जा सकता है, जो ‘सप्तशीर्ष्णी धी’ है।⁷⁵ अतः वृषण बृहस्पति का वर्धन करके⁷⁶ ‘अशिवं कीरिम्’ (वृत्र प्रभावित जीव) हेतु ‘सत्याम्’ (बृहती) का निर्माण किया गया;⁷⁷ तो इन्द्र ने महान् अर्णव की शक्ति द्वारा (सोमसिन्धु) अर्बुद की मूर्धा का भेदन किया, अहि का वध किया तथा सप्तसिन्धुओं को प्रवाहित करके द्यावापृथिवी युग्म की रक्षा की :-

इन्द्रो मह्यो महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य।

अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून् देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः॥ ऋ.10.67.12

रूपकों के इस बृहज्जाल में भी यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञानगुरु रूप में प्रसिद्ध बृहस्पति की सप्तशीर्ष्णी बृहती धी को ही ‘महत्’ अहर्बुद्धि तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियों की चेतनाधाराओं को ही ‘सप्तसिन्धु’ कहा गया है।

सोमरेतस् से द्विधा सृष्टि

इसलिये सप्तशीर्ष्णी धी के इन सप्त रूपान्तरों की तुलना उन धियः ऋतयन्ती⁷⁸ से की जा सकती है, जो अमृत (सोम) के द्विधा विभाजन के पश्चात् इन्दु (सोम) को चाहने वाली कही जाती है। अमृतधाम के द्विधा विभाजन से ही सोम द्वारा इन्द्र और अग्नि के प्रसंग से द्विधा होकर पूर्वोक्त इन्द्रासोमौ एवं अग्नीषोमौ युग्म को जन्म दिया जाता है। इस विभाजन का प्रारम्भ उस समय होता है जब इन्द्राग्नी नामक पूर्वोक्त अश्विनौ 'भद्रहस्ता सुपाणी' होकर सोम को दिव्य कर्मों (अप्सु) में ले जाते हैं। इस प्रकार द्विधा सृष्टि-विस्तार होता है— एक ओर तो इन्द्रसोम-संयोग से मन सहित ज्ञानेन्द्रियों की अन्तर्मुखी 'द्यावा-सृष्टि' होती है और दूसरी ओर अग्नि-सोम संयोग से बहिर्मुखी पृथिवी-सृष्टि होती है। इन दोनों दिव्य-सृष्टियों का युग्म 'द्यावापृथिवी' कहलाता है। इस युग्म का सूक्ष्म परोक्ष रूप वह इन्द्रा-सोमा है जिसे हम 'इन्द्रानासत्या' कह चुके हैं और जो 'हिरण्यया', विश्वगूर्ती तथा विश्वलावसू नाम से क्रमशः कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देह के प्राणदेवों के साथ अतिशयरूपेण समवेत (सचनस्तमा) अश्विनौ कहे जाते हैं।

धिषणे, धिष्यौ और सोमयज्ञ

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि द्यावापृथिवी और अश्विनौ नामक युग्म उसी धिषणा देवी की सन्तान है जिसने इन्द्राग्नी को उनके लिये सोम-सवन करके 'भद्रहस्ता सुपाणी अश्विनौ' रूप दिया और पुनः इन्द्र एवं अग्नि के सम्बन्ध से होने वाली अश्विनौ एवं द्यावापृथिवी नाम से द्विविध सोमसृष्टि को व्यक्त किया। अतः द्यावापृथिवी को जहाँ 'धिषणे' संज्ञा प्राप्त हुई⁷⁹ वही अश्विनौ को 'धिष्यौ' अथवा 'धिष्या' कहा गया।⁸⁰ अतः द्यावापृथिवी को अश्विनौ का ही प्रत्यक्ष रूप माना जाता है।⁸¹ धिषणा द्वारा अभिषुत सोम के प्रसंग से सम्पादित होने वाले सोमसृष्टि के युग्म में सम्मिलित होने से द्यावापृथिवी का गर्भ ही सोम राजा है— 'द्यावापृथिव्योः वा एष गर्भो यत्सोमो राजा (ऐ. 1.26)। अश्विनौ सोमभेषज के बल पर ही 'देवानां भिषजौ' कहलाये तथा सोम इस युग्म का 'भिषज्या तनू' कहा गया। अतः द्यावापृथिवी एवं अश्विनौ युग्म सोम से समवेत अथवा व्याप्त मनुष्य के चेतना-स्तर हैं। इन्हीं दो स्तरों पर मनुष्य के भीतर सोम-यज्ञ सम्पन्न होता है। यही नवेदसा तथा सवेदसा अग्निषोमौ के स्तर हैं जो पूर्वोक्त मनुष्यव्यक्तित्व को एक सुसंगठित 'श्रुष्टिमन्तम् अध्वरम्' में परिणत कर देते हैं :-

अस्मे बलानि मघवत्सु धत्तं कृणुतं नो अध्वरं श्रुष्टिमन्तम्। ऋ.1.93.12

मनुष्य के भीतर विद्यमान सभी मघवान् (दिव्य सम्पद युक्त) प्राणों में बलों की स्थापना करना ही 'श्रुष्टिमन्तम् अध्वरम्' है। श्रुष्टि गेहूँ, बाजरा जैसे अन्नों की बाली का नाम है जिसमें सभी दाने सुसंगठित होकर एक संयुक्त इकाई के रूप में रहते हैं। इसी प्रकार हमारे व्यक्तित्व के विविध अंगों, आयामों और शक्तियों को सुसम्बद्ध सायुज्य प्रदान करने वाला यह आध्यात्मिक अध्वर होता है। इसके अन्तर्गत हिरण्यकोश के 'सुवेद वसु'⁸² नामक हिरण्यय सोम की धारा समस्त षाट्कोशिक व्यक्तित्व में व्याप्त हो

जाती है, परिणामस्वरूप मनुष्य-व्यक्तित्व समस्त रोगों और दुरितों से रहित हो जाता है।

आदर्श जीवन यज्ञ

उपर्युक्त अध्वर कोई कर्मकाण्डात्मक अनुष्ठान नहीं, अपितु कर्मकाण्ड को इसी ओर संकेत करने वाले एक बहुआयामीय प्रतीक के रूप में कल्पित किया गया था। अध्वर का सामान्य अर्थ है हिंसा-रहित।⁸³ अध्वर के कारण सभी देवशक्तियाँ अहिंसित हो जाती हैं और समस्त हिंसक देवशत्रु निराश होकर पलायन कर जाते हैं।⁸⁴ इस प्रकार व्यक्ति का समस्त जीवन शान्त, सुस्थिर, सुगठित और सुसम्पन्न हो जाता है। ऐसे जीवन को ही 'अध्वरो वै यज्ञः'⁸⁵ कहकर स्मृत किया जाता है। अध्वर की जो व्यापक अवधारणा वेद में स्वीकृत हुई है उसका अनुमान 'अध्वर' शब्द के अन्तरिक्ष-नामों में पठित होने से लगाया जा सकता है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार अन्तरिक्ष पृथिवी और आकाश के मध्य का कोई स्थान मात्र नहीं, अपितु वह व्यापक अन्तश्चेतना है जिसे 'अन्तर्यक्षम्'⁸⁶ कहकर ब्रह्म⁸⁷, आत्मा⁸⁸ तथा प्राण⁸⁹ आदि भी कहा जाता है। इस दृष्टि से, उक्त 'श्रुष्टिमन्तम् अध्वरम्' से वह जीवन-यज्ञ अभिप्रेत है जिसे तैत्तिरीय संहिता 'अनोवाह्यं समे जीवनम्'⁹⁰ कहती है और ब्राह्मणग्रन्थ 'यज्ञो वा अनः'⁹¹ की घोषणा करते हैं।

दूसरे शब्दों में, यह अध्वर रूप जीवन-यज्ञ मनुष्यव्यक्तित्व के अन्तर्गत उस मूलभूत अन्तश्चेतना की असंख्य तरंगों का एक अदभुत वैविध्यपूर्ण व्यापार है जिसे हमने इन्द्रब्रह्म से संयुक्त सत्यासत्यविलक्षण 'नासत्य' के नाम से जाना। साथ ही, जिसे 'नासत्या' नामक अग्नीषोमौ-युग्म (अश्विनौ) में नानात्व ग्रहण करते हुए तथा अपने में सभी प्राणों या देवों को समवेत करते हुए पाया। वेद में इसी यज्ञ के आधारभूत तत्त्व को 'इन्द्रानासत्या' नामक देवयुग्म कहा गया, जो मनुष्य-व्यक्तित्व के सभी चेतनाप्रवाहों का समाहार करता हुआ उसकी समस्त इन्द्रिय-शक्तियों और बलों का 'इन्द्र' नामक परमेश्वर के साथ सायुज्य प्रकट कर रहा है।⁹³ यही 'नवेदसा' नामक अश्विनौ युग्म है जिसे 'नवेदसः' नामक 'मरुतः रश्मयः' का युग्मीभूत पुंज माना गया है। समाधि की अवस्था में इसी को निमीलित चक्षुओं का एक पुरुष-युग्म कहा जाता है।⁹⁴ व्युत्थानावस्था में यही युग्म 'सवेदसा सहूती' (ऊँ की ऊँति सहित) अग्नीषोमौ होकर तथा विज्ञानमयकोश की गिराओं को ग्रहण करके मनुष्यव्यक्तित्व के सभी देवों (प्राणों) में सम्यक् प्रकार से प्रवाहित हो जाता है⁹⁵। ऐसी स्थिति में स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह को इस युग्म द्वारा प्रदत्त सौम्य प्राण-शक्ति क्रमशः 'अर्वतः, उध्रियाः और बलानि' कही जाती है। यह सौम्य शक्ति ही अश्विनौ का वह 'भिषज्या तनु'⁹⁶ है, जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देह के क्रमशः अग्नि, ब्राह्मण तथा आपः⁹⁷ (मरुत) नामक चेतना तत्त्व में विभक्त हुआ माना जाता है।

आध्यात्मिक-सोमयज्ञ

इस विवेचन से अध्वर का जो रूप उदभासित हो रहा है वही वास्तविक सोम-यज्ञ है। तुरिधावस्था में आध्यात्मिक 'इन्दवः' (सोम) इन्द्र परमेश्वर में प्रविष्ट

होते हैं — इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्तिवन्दवः (ऋ.1.15.1), जबकि कारणदेह में उस सोम को आपः (प्राणरूप) मरुतः पीते हैं।⁹⁸ ब्रह्मज्ञानयुक्त हो जाने से ब्राह्मणभूत सूक्ष्म देह में व्यष्टिगत इन्द्र (जीवात्मा) सोमपान करता है, क्योंकि दिव्य सोम की वह प्राप्ति वस्तुतः उसी का परमेश्वर के साथ स्थापित 'सख्यम्' है—

ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूरनु। तवेद्धि सख्यमस्तृतम्॥ ऋ. 1.15.5

इस प्रकार 'सख्यम्' में प्रकट होने वाला सोम स्थूल देह के स्तर पर द्रविणोदा अग्नि के 'द्रविणम्' में परिणत होकर स्पष्टतः अध्वर यज्ञ का रूप धारण कर लेता है।⁹⁹ यद्यपि द्रविणोदा अग्नि का यह 'द्रविणम्' (सोम) स्थूल स्तर पर ही पूर्णरूपेण प्रकट होता है, परन्तु वस्तुतः यह द्रविणोदा अग्नि का ही वह 'तुरीय' उपास्यरूप है, जो अधोवर्ती स्तर (अन्नमयकोश पर्यन्त) पर वांछनीय होता है—

यत्त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदा यजामहे। अध स्मा नो ददिर्भव॥ ऋ. 1.15.10

तुरीयावस्था से इस अध्वरयज्ञ (सोमयज्ञ) को अधस्तात् लाने वाले 'अश्विनौ यज्ञवाहसा' हैं जो द्रविणोदा अग्नि को सुदीप्त करने के कारण 'दीदयग्नी' भी कहे जाते हैं।¹⁰⁰ अश्विनौ का यह 'यज्ञवाहसा' रूप अनेक मन्त्रों में 'अश्विनौर्बाहुभ्याम्' के रूप में अध्वर को सम्पन्न करने का माध्यम होता जाता है, तो वहाँ सोमरस को सविता देव के 'प्रसव' रूप में कल्पित किया जाता है।¹⁰¹ इस प्रसंग में अश्विनौ से वह इन्द्राग्नी युग्म अभिप्रेत होता है जिसके लिये पहले 'धिषणा' सोमसवनकर्त्री के रूप में वर्णित हुई है और सोम को इन्द्राग्नी अश्विनौ का अश्व माना गया है। जब सविता का सोमरूप प्रसव तुरीयावस्था से अवतरित किया जाता है, तो सविता को उसके पोषणकर्ता रूप के कारण 'पूषा' माना जाता है। पूषा के जिन दो हस्तों का सहयोग उक्त 'सोम' यज्ञ के सम्पादन में प्राप्त होता है वे 'अग्नीषोमौ' नामक 'अश्विनौ' हैं जो सविता के वरेण्य द्वन्द्वातीत प्रसव (सोम) को तुरीय स्तर पर ग्रहण करते हैं और अश्विनौ की बाहुओं की सहायता से नीचे तक लाते हैं।¹⁰² पूषा के ये दो हाथ उस समय जिन दो बाहुओं से युक्त होते हैं वे सम्भवतः ऋ. 6.71.1; 5 के 'बाहू हिरण्यया' हैं जिन्हें अगले सूक्त¹⁰³ में 'इन्द्रासोमा' के रूप में प्रस्तुत करते हुए इस युग्म को सूर्य, स्वः, आपः तथा उषा का उद्धारक, वृत्र का संहारक एवं पक्व (सोम) को किन्हीं 'गवां वक्षणासु' के भीतर ग्रहणकर्ता बताया गया है। इन 'वक्षणासु' के लिये प्रयुक्त 'जगतीषु चित्रासु आमासु' जैसे विशेषणों से ध्वनित होता है कि ये 'आपः वै प्राणाः' कही जाने वाली प्राणधारयें हैं जिनके भीतर स्थित 'अनपिनद्धं पक्वम्' सोमरूप दुग्ध वस्तुतः आनन्द है जिसे 'इन्द्रनासत्या' से तुलनीय इन्द्रासोमौ स्थापित करते हैं। इन्द्रनासत्या कहे जाने वाले अश्विनौ जब 'विश्वपुषा राया'¹⁰⁴ के साथ आहूत होते हैं, तो स्पष्ट होता है कि यही अश्विनौ 'पूष्णोः हस्ताभ्याम्' के रूप में कल्पित हुए हैं।

इस रूप में, अश्विनौ की कल्पना 'व्यश्व' की दृष्टि से की गई प्रतीत होती है, जैसा कि सूक्त 8.26 के ऋषिनाम वैयाश्व अथवा व्यश्व से ध्वनित हो रहा है। व्यश्व (वि-अश्व) का अर्थ है 'विश्व-विशेष अश्व' है, क्योंकि इन्द्रासोमौ अश्विनौ के साथ सोम को तो अश्व रूप में ग्रहण नहीं किया जा

सकता। अतः 'इन्द्रासोमौ' को या तो बिना 'अश्व' का नासत्या माना जाय अथवा इन्द्र-परमेश्वर नामक विशेष अश्व से युक्त नासत्या अर्थात् इन्द्रनासत्या कहा जाय। अतः अश्विनौ से प्रार्थना है कि 'हे नरो! तुम दोनों वयश्व (अश्वरहित) का ज्ञान (श्रुतम्) जानो और वरुण, मित्र तथा अर्यमा से समवेत धिष्ण्या-युग्म, हे वृषणौ! तुम दोनों द्वारा ज्ञानियों के माध्यम से आदत्त तथा प्रदत्त उक्त ज्ञान मुझे प्रतिदिन देते रहो-

वैयश्वस्य श्रुतं नरोतो में अस्य वेदथः। सजोषसा वरुणो मित्रो अर्यमा॥

युवादत्तस्य धिष्ण्या युवानीतस्य सूरिभिः। अहरहर्वृषणा मह्यं शिक्षतम् ॥

ऋ. 8.26.11-12

इस निमित्त अश्विनौ से उस साधक के हितसम्पादन के लिये प्रार्थना है, जो इस युग्म के यज्ञों से उसी प्रकार आवृत है जिस प्रकार वधू वस्त्रों से आवृत होती है अथवा जो अश्विनौ के उस गृह (वर्ति) को जानता है, जो मरुतः नरः द्वारा रक्षित तथा अतिशयरूपेण व्याप्त है।¹⁰⁵

नरों (मरुतों) द्वारा रक्षित उक्त गृह वस्तुतः पूर्वोक्त 'नवेदसः' मरुतों का गणबद्ध रूप है जिसे हम ब्रह्मरथ या 'ऊँ' 'सु' रथ के रूप में भी पहले देख चुके हैं। यही वह मरुतों द्वारा रक्षित (नृपाययं) गृह (वर्तिः) भी है जहाँ साधक के मंगलार्थ 'वृषण्वसू' अश्विनौ को आने के लिये तथा 'यज्ञ' को वहन करने के लिये आमन्त्रित किया जाता है।¹⁰⁶ यह गृह द्युलोकीय चेतना-समुद्र (अर्णवे) में है।¹⁰⁷ जहाँ 'शुभ्रयावाना' अश्विनौ साधक को श्वेत धी (शुक्ल चेतना) द्वारा पहुँचाते हैं।¹⁰⁸ सूक्त के अट्टारहवें मन्त्र में जिसे 'श्वेतयावरी वाहिष्ठा हिरण्यवर्तनिः' सिन्धु नदी के रूप में चित्रित किया जाता है। चेतनार्णव रूप में कल्पित उक्त अद्वैत स्थिति में अश्विनौ का जो अद्वैत रूप (तुलनीय, उक्त 'वरो') हो जाता है उसे वसु या वायु रूप में भी सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि विकल्पार्थक 'वा' सहित मिश्रणामिश्रणार्थक 'यु' धातु के मेल से निष्पन्न वायु शब्द जहाँ 'समञ्चन-प्रसारण' क्रिया का एक समर्थ प्रतीक माना जा सकता है वहीं निवासार्थक 'वस्' धातु से निष्पन्न वसु शब्द उसकी अपेक्षाकृत स्थिति का बोधक है। अतः वसु से प्रार्थना है कि वह अपने (अश्विनौ) रथसहा, पोष्या रूप को एकजुट अद्वैत रूप प्रदान करे और वायु से निवेदन है कि वह विकल्प से सोमपान हेतु सवनों में आगमन करे।¹⁰⁹

पञ्चमुख सोमयज्ञ

इस प्रपञ्चात्मक विवेचन को प्रस्तुत करने का उद्देश्य 'अनेकता में एकता' की उस अनुसंधित्सु प्रवृत्ति को उद्घाटित करना है, जो वैदिक तत्त्वज्ञान से कर्मकाण्ड को, विशेषतः सोमयाग को प्राप्त हुई है। वैदिक तत्त्वज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जिस सोमयज्ञ की अवधारणा विकसित हुई है उसका वर्णन शांखायन आरण्यक और कौषीतकि उपनिषद् के पञ्चमुख सोम से संकेतित है।¹¹⁰ ऐतरेयाण्यक सोम को सम्पन्नतम यज्ञ मानता हुआ उसकी पञ्चविधाओं का उल्लेख करता है।¹¹¹ इस प्रसंग में ऋग्वेद सोम-सवन के लिये सविता देव की 'हिरण्यया बाहू' के उठने का उल्लेख¹¹² करता है। ये बाहू प्रस्तुत 'हिरण्यया' शीर्ष अश्विनौ-युग्म है, जो

‘सवेदसा’ होकर आनन्दमयकोश में ‘उत्सो देव हिरण्ययः’ (सोम) का सवन करते हैं। सोम-सवन की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों का वर्णन इस प्रकार किया गया है:-

1. मनुष्यव्यक्तित्व के प्रत्येक दोष के विरुद्ध ‘सविता दमूना हिरण्यपाणि का उठ खड़ा होना’¹¹³ सेन्द्रिय मन के निग्रह द्वारा दोषों का दमनकर्ता व्यक्तित्व ही यहाँ ‘दमूना सविता’ है। इन्द्रियनिग्रह से ‘आत्मा वै ज्योतिर्हिरण्यम्’ की ओर उन्मुख यह व्यक्तित्व ही ‘हिरण्यपाणिः’ है। यही ऐतरेयारण्यक की ‘प्राक्-सवन’ विधा है, क्योंकि इसी के निरन्तर अभ्यास से हिरण्ययकोश में संचित ब्रह्मानन्द सोम का भूरि-सवन सम्भव है। शांखायन आरण्यक और कौषीतकि उपनिषद् में इस अवस्था को सोम का ब्राह्मण-मुख कहा है, क्योंकि ब्रह्मसायुज्य से प्रापणीय सोम की ओर उन्मुख होने वाले उक्त ‘दमूना सविता’ के लिये ब्राह्मण अभिधान उचित ही है।
2. इसके पश्चात् तीन अवस्थाओं का वर्णन ऋग्वेद 6.71.5 में इस प्रकार है—
(1) द्युलोक के सोपानों का आरोहण, (2) द्युलोक में विश्राम, (3) अम्बम् (सोम) का नीचे को गिरना। ऐतरेयारण्यक में इन्हीं तीन सवनों की विधा उल्लिखित है। शांखायन आरण्यक और कौषीतकि उपनिषद् में यही सोम का ‘श्येनमुख’ कहा गया है, क्योंकि श्येन द्वारा सोम को लाने का समस्त व्यापार इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत आ जाता है।

उक्त चार अवस्थाओं के अतिरिक्त, पञ्चम अवस्था को ऐतरेयारण्यक ‘ऊर्ध्वा विधा’ कहता है। इसका अर्थ है आनन्दमयकोश से ऊपर हिरण्ययकोश में पहुँचना। इस स्थान को ऋग्वेद सोम (वाम) राजा का स्थायी निवास-स्थान (क्षय) कहता है और यहीं हमारे लिये सविता का ‘वाम’ आज ही नहीं, कल और प्रतिदिन रहेगा। इस प्रकार हम अपनी ध्यानबुद्धि द्वारा (धिया) सदा वाम (सोम) के सम्भाजक रहेंगे—

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः।

वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ऋ. 6.71.6

सोमराजा का स्थायी निवास होने से इस स्तर पर सोमयज्ञ को शांखायन आरण्यक और कौषीतकि उपनिषद् में ‘राजन्य-मुख’ कहा गया है।

षडायामीय सोमयज्ञ

इस प्रकार वैदिक सोमयज्ञ मूलतः एक षाट्कौशिक आध्यात्मिक यज्ञ सिद्ध होता है जिसे सम्पन्न करने का एकमात्र साधन हमारी वह ध्यानबुद्धि है जिसके द्वारा हम सवितृ ब्रह्म को उस सोम सवन के लिये उत्प्रेरित करने का अभ्यास करते हैं जिसे हिरण्ययकोश का ‘अम्बम्’ (न भवतीति) कहा गया है। इसी ‘अम्बम्’ का नीचे की ओर गिरना ही सोम-सवन है। इस कार्य के लिये सविता की दिहणमहा बाहू का उठना साधक के ध्यानाभ्यास का परिणाम है। ये ‘बाहू’ हिरण्यया ही ‘पुष्करसजा’

अश्विनौ के 'हिरण्ययी अरणी' रूप से तुलनीय हैं जिन्हें हमने पहले अग्निगर्भ का मन्थन करते पाया, क्योंकि उक्त 'अम्बम्' अग्नि और सोम दोनों का अद्वैत रूप है। इसीलिये अग्नीषोमौ सूक्त में श्येन द्वारा सोम को लाने तथा मातरिश्वा द्वारा अग्नि को लाने का एक साथ वर्णन प्राप्त होता है—

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामध्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः ।

अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरुलोकम् ।। ऋ. 1.93.6

अग्नीषोमा—युग्म ही वह अश्विनौ—युग्म है, जो समस्त इन्द्रियवीर्यों को इन्द्र (ब्रह्म) में स्थापित करता है।¹¹⁴ यह कार्य ध्यान द्वारा होता है; अतः अश्विनौ को ध्याननिमीलित नेत्रों के पुरुषद्वय के समान माना¹¹⁵ गया है। अश्विनौ का यही वांछनीय भद्ररूप 'नवेदसा'¹¹⁶ कहलाता है, क्योंकि इसके द्वारा ही समस्त इन्द्रिय शक्तियाँ 'ऊर्ध्वासः' होकर 'वषट् वषट्' अथवा 'नमः नमः' कहती हुई समस्त कोशों में व्याप्त होती हैं¹¹⁷—

इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन् ।

ताँश्च पाहि गृणतश्च सूरीन् वषड्वषळित्यूर्ध्वासो

अनक्षन्नमो नम इत्यूर्ध्वासो अनक्षन् ।।

सन्दर्भ

- 1 ऋ. 5.56.8
- 2 वही, 5.56.9
- 3 वही, 5.56.1
- 4 वही, 5.56.4
- 5 मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव हये । ऋ. 5.56.5
- 6 युङ्ध्वं ह्यरुषी रथे युङ्ध्वं रथेषु रोहितः । ऋ. 5.56.6
- 7 यद् वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि । ऋ. 1.162.1
तु. अश्विनौ के लिये ऋ. 6.62.4 में प्रयुक्त 'युयुजान सप्ती' विशेषण ।
- 8 ऋ. 1.163.1
- 9 ऋ. 1.162.2
- 10 इन्द्रापूर्णाः प्रियमप्येति पाथः । ऋ. 1.162.2
- 11 मस्तिष्को पुरोडाशः । मैस.4.1.6; काठ.35.11; 31.7; तै.3.2.8.7
- 12 ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निहरेति । ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ।। ऋ. 1.162.12
- 13 तैसं. 4.7.9.1
- 14 ऋ. 5.27.4
- 15 ऋ. 5.27.6
- 16 तु. अनोमनस्यं । ऋ. 10.85.12
- 17 स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठददशाङ्गुलम् । ऋ. 10.90.1
- 18 वही 2

- 19 द्र. वेद संस्थान, नई दिल्ली की मासिक पत्रिका 'वेद सविता' (अप्रैल 1981) में प्रकाशित 'पुरुषसूक्त की व्याख्या' नामक लेखमाला।
- 20 यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ठ॥ ऋ. 1.163.2
- 21 अन्तो वै सूरः। तां. 15.4.2; 11.14
- 22 उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वा अच्छा पितरं मातरं च। अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्या अथा शास्ते दाशुषे वार्याणि॥ ऋ. 1.163.13
- 23 रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। स योनिमेति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव॥ शौ. 13.2.25
- 24 ऋ. 1.162.10
- 25 वही 1.163.6
- 26 वही 1.163.7
- 27 वही 10.97.7
- 28 वही 10.97.6
- 29 ऋ. 9.89.4
- 30 ऋ. 1.109.4
- 31 ऋ. 1.116.16
- 32 काठ. 27.4
- 33 तैसं. 2.3.11.2-3; मैसं. 2.5.6; तैआ. 5.7.3
- 34 इन्द्रियं ब्रह्मवर्चसम्। तैसं. 2.3.3.1-2
- 35 अग्नीषोमौ वै ब्रह्मवर्चसस्य प्रदातारौ। मैसं. 2.1.4; काठ. 10.2
- 36 चक्षुषी अग्नीषोमौ। मैसं. 3.7.1; ऐ. 1.8
- 37 ऋ. 4.7. 6
- 38 काठ. 5.1
- 39 त्वेषं शर्धो न मारुतं तुविष्यन्यनर्वाणं पूषणं सं यथा शता। सं सहस्रा कारिषच्चर्षणिभ्य आँ आविर्गूळहा वसू करत् सुवेदा नो वसू करत्। ऋ. 6.48.15
- 40 त्वे तन्नः सुवेदमुस्रियं वसु यं त्वं हिनोषि मर्त्यम्॥ ऋ. 8.4.16
- 41 रास्व रायो विमोचन। (वही)
- 42 शौ. 19.72.1
- 43 वासं. 2.21
- 44 तैसं. 1.6.9. 2
- 45 ऋ. 9.5.10
- 46 अग्नीषोमाभ्यां इन्द्रो वृत्रमहन्। मैसं. 2.1.3; 4.3.1; का. 24.7
- 47 ऋ. 8.27.2; 4; 11; 19-21
- 48 सगरोऽसि विश्ववेदाः। मैसं. 2.1.2
- 49 त्रिश्चिन नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वा याम उत रातिरश्विना। ऋ. 1.34.1 (पूर्वार्ध)
- 50 ऋ. 1.34.1 (उत्तरार्ध)
- 51 देवा भुवन्नवेदा म ऋतानाम् (ऋ. 4.23.4)
- 52 त्रयीर्वा आपो, दिव्याः पार्थिवाः समुद्रियाः (मैसं. 3.6.3)
- 53 कथा कदस्य सख्यं सखिभ्यो ये अस्मिन् कामं सुयुजं ततस्ते। ऋ. 4.23.5
- 54 द्र. स. नि. ऋ. 1.163.2

- 55 ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते। ऋ. 4.23.10
 56 ऋ. 5.55.8
 57 ऋ. 5.55.5
 58 ऋ. 5.55.3
 59 ऋ. 5.55.4
 60 पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया। मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि
 प्रयांसि च॥ ऋ. 9.107.25
 61 पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जंघनत्॥
 ऋ. 9.66.24
 62 ऋ. 10.31.1
 63 वही 2
 64 वही 4
 65 वही 5
 66 वही 6
 67 वही 7
 68 ऋ. 5.12.3
 69 ऋ. 4.51.7
 70 वही 8
 71 वही 5
 72 ऋ. 4.23.4-5
 73 ऋ. 6.72.2-3
 74 ऋ. 6.72.5
 75 ऋ. 10.67.1
 76 ऋ. 10.67.10
 77 ऋ. 10.67.11
 78 ऋ. 9.94. 2
 79 इमे वै देवी धिषणे (जै. 1.80; ऋ. 3.56.6; 1.160.1 आदि)
 80 ऋ. 1.89.4; 117.19 ; 181.1; 7.67.1 आदि
 81 इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ इमे हीदं सर्वमाशनुवाताम्। माश. 4.1.5.16
 82 ऋ. 8.4.16 तु. ऋ. 6.48.15; 7.32.25
 83 द्र. ऋ. 1.1.4 का सा. भा.
 84 ते (असुराः) अध्वृतोऽयमभूदिति अपक्रामन् तदध्वरस्याध्वरत्वम्। मैसं. 3.6.10
 तेऽसुरा अपक्रामन्तोऽब्रुवन् वा इमे ध्वर्तवा अभवन्ति। तध्वरस्याध्वरत्वम्।
 क. 36.4
 85 माश. 1.2.4.5; 4.1.3
 86 तद् यदस्मिन्निदं सर्वमन्तः तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्।
 तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते। जैउ. 1.6.1.4
 87 तद्ब्रह्ममिदमन्तरिक्षम्। जैउ. 2.3.3.6
 88 अन्तरिक्षमात्मा मैसं 4.2.2; जैब्रा. 2.54; तैआ. 3.4.1; आत्मानन्तरिक्षम्। काठ. 16.9
 89 प्राणो वा अन्तरिक्षम्। तैसं. 5.6.8.5; जै. 1.307
 90 तैसं. 6.1. 9. 4
 91 माश. 1. 1. 2. 7; 3. 9. 3. 3

- 92 काश. 4.3.4. 6
- 93 इन्द्रे हि तौ तानीन्द्रियाणि वीर्याणि आप्त्वा अधत्ताम् । मैसं. 2.4.1
- 94 तयो ह वा इमौ पुरुषौ इव अक्ष्योः । एतौ एव अश्विनौ । माश. 12. 9.1.12
- 95 ऋ. 1. 93. 9
- 96 तयोः वा भिषज्या तनूरासीत्तां त्रेधा विन्यद धाताम् , अग्नौ तृतीयं ब्राह्मणे तृतीय
अप्सु तृतीयम् । काठ. 27.4
- 97 आपो वै मरुतः । ऐ. 5.30; कौ. 12.8; माश. 6.4.1. 9
- 98 ऋ. 1.15.2
- 99 तु. 'द्रविणोदा द्रविणसः, ग्रावहस्तासो अध्वरे' । ऋ. 1.15.7
- 100 ऋ. 1.15.11
- 101 देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्याम् पूष्णोर्हस्ताभ्याम् । वासं. 1.21; 5.22,
26 तु. तै. 2.6.5.2
- 102 वही; तु. ऋ. 1.93.1-12
- 103 ऋ. 6.72.1-4
- 104 ऋ. 8.26.7-8
- 105 ऋ. 8.26.13-14
- 106 ऋ. 8.26.15
- 107 ऋ. 8.26.17
- 108 ऋ. 8.26.19
- 109 ऋ. 8.26.20
- 110 शांआ. 4. 9; कौउ. 2. 9
- 111 ऐआ. 2. 3. 3
- 112 ऋ. 6. 71.1
- 113 उदु ष्य देवः सविता दमूना हिरण्यपाणिः प्रतिदोषमस्थात् । ऋ. 6.71.4
- 114 इन्द्र हि तौ तानीन्द्रियाणि वीर्याणि आप्त्वा अधत्तान् । मैसं. 2.4.1
- 115 तयो 'ह वा इमौ पुरुषौ इव अक्ष्यो एतौ एव अश्विनौ । माश. 11.9.1.1
- 116 भद्राश्विना नो भवतां नवेदसा । काठ संक 6.1.12
- 117 ऋ. 10.115. 9

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थसूची

आधार-ग्रन्थसूची

- 1 अथर्ववेद (शौनकीय सायणभाष्य समेत) : सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1957
- 2 अमरकोश : पं. शिवदत्तनिर्णयसागर प्रेस, बम्बई
- 3 ईशादि नौ उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर
- 4 ऋग्वेद संहिता (सायणभाष्य समेत) : वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1983 ई.
- 5 ऐतरेय ब्राह्मण : संपा-बाबाशास्त्रीफडके आनन्द आश्रम, पूना, 1896 ई.
- 6 ऐतरेयारण्यक : संपा- बाबा शास्त्री फडके आनन्द आश्रम, पूना, 1898 ई.
- 7 कपिष्ठल कठ संहिता : संपा - रघुवीर मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत - प्राकृत ग्रन्थमाला, लाहौर, 1932 ई.
- 8 काठक संहिता : संपा- सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, 1943 ई.
- 9 काठक संकलन : संपा - सूर्यकान्त मेहरचन्द लक्ष्मणदास संस्कृत प्राकृत ग्रन्थमाला, लाहौर, 1943 ई.
- 10 काण्वीय शतपथ ब्राह्मण : मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, 1926 ई.
- 11 कोषीतकि ब्राह्मण : संपा - बी. लिंडनर, 1887 ई.
- 12 कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् : संपा - हरिनारायण आप्टे, आनन्द आश्रम, पूना, 1900 ई.

- 13 गोपथ ब्राह्मण : संपा — जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1891 ई.
- 14 जैमिनीयब्राह्मण : संपा — लोकेशचन्द्र सरस्वती विहार, नागपुर, 1954 ई.
- 15 जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण : संपा— रामदेव दयानन्द महाविद्यालय ग्रन्थमाला, लाहौर, 1921 ई.
- 16 तांड्यमहाब्राह्मण : संपा — चिन्नस्वामी शास्त्री, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, बनारस, वि. सं. 1991
- 17 तैत्तिरीय ब्राह्मण : संपा — नारायण शास्त्री, आनन्द आश्रम, पूना, 1934 ई.
- 18 तैत्तिरीयारण्यक : संपा — बाबा शास्त्री फडके, आनन्द आश्रम, पूना, 1897 ई.
- 19 तैत्तिरीयोपनिषद् : संपा — हरिनारायण आष्टे, आनन्द आश्रम, पूना, 1897 ई.
- 20 तैत्तिरीय संहिता : संपा— काशीनाथ शास्त्री, आनन्द आश्रम, पूना, 1900-08 ई.
- 21 दैवत ब्राह्मण : संपा — वे. रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1965 ई.
- 22 निघण्टु : दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय अजमेर
- 23 निरुक्त : संपा — भण्डारकर, बम्बई, 1918
- 24 बृहदारण्यकोपनिषद् : आनन्द शर्मा, पूना
- 25 बृहद्देवता : संपा — मैकडॉनल, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1904
- 26 मन्त्रब्राह्मण : संपा — सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1980

- 27 छान्दोग्य ब्राह्मण : संपा — दुर्गामोहन भट्टाचार्य,
कालिकाता, 1958 ई.
- 28 माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण : संपा — चन्द्रधर शर्मा, अच्युत
ग्रन्थमाला, काशी, वि.सं. 1994
- 29 मैत्रायणी संहिता : संपा — सातवलेकर, भारत
मुद्रणालय, औंध, 1998 वि.सं.
- 30 यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयी) : सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल,
पारडी, 1957 ई.
- 31 श्रीमद्भगवद्गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर
- 32 शांखायन ब्राह्मण : संपा — गुलाबराय बजेशंकर,
आनन्द आश्रम, पूना, 1911 ई.
- 33 शांखायनारण्यक : संपा — श्रीधर शास्त्री, आनन्द
आश्रम, पूना, 1922
- 34 षड्विंश ब्राह्मण : संपा — जीवानन्द विद्यासागर,
कलकत्ता, 1881 ई.
- 35 सर्वानुक्रमणी : मैक्डॉनल, ऑक्सफोर्ड
विश्वविद्यालय, 1886 ई.
- 36 संहितोपनिषद् : संपा — बे. रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय
संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1965
ई.
- 37 सामविधान ब्राह्मण : संपा — बे. रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय
संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1964
ई.

सहायक ग्रन्थसूची

- 1 ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका : स्वामी दयानन्द सरस्वती,,
निर्णसागर प्रेस, बम्बई, 1935 ई.
- 2 ऋग्वैदिक स्टडीज : एम. सुन्दरराज, 31, इण्टरनेशनल
सोसायटी फार, द इन्वेस्टीगेशन
आफ एन्शियेंट
सिविलाइजेशन, मद्रास, 1983 ई.
- 3 ऋग्वेद में धन की परिकल्पना : अप्रकाशित शोधप्रबन्ध,
डॉ. श्रद्धाचौहान, जयनारायण
व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- 4 एन इन्ट्रोडक्शन टु हिन्दू डाक्ट्रेन्स : रेनेगेवॉ
- 5 काशकृत्स्न धातु व्याख्यानम् : युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय
प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं.
2022
- 6 कामायनी सौन्दर्य : डॉ. फतहसिंह, संस्कृति सदन
कोटा (राज.)
- 7 चतुर्वेद वैयाकरण पदसूची : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध
संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर
(पंजाब), 1963 ई.
- 8 द प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश : वामन शिवराम आप्टे, गोपाल
डिक्शनरी नारायण एण्ड कम्पनी,, बम्बई,
1924 ई.
- 9 द वैदिक रिलीजन : मैवडॉनल, संस्कृत पुस्तक भण्डार,
कलकत्ता, 1982 ई.
- 10 ढाई अक्षर वेद के : डॉ. फतहसिंह, वेद संस्थान, नई
दिल्ली, 1988
- 11 ब्राह्मणोद्धार कोश : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध
संस्थान, साधु आश्रम,
होशियारपुर
- 12 भारतीय मिथक कोश : उषा पुरी, नेशनल पब्लिशिंग
हाउस, नई दिल्ली, 1986 ई.

- | | | | |
|----|--------------------------------|---|---|
| 13 | भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ—सूत्र | : | डॉ. फतहसिंह, वेद संस्थान, नई दिल्ली, 1983 ई. |
| 14 | मानवता को वेदों की देन | : | डॉ. फतहसिंह, वेद संस्थान, नई दिल्ली, 1981 |
| 15 | लाइट्स ऑन द वेद | : | टी. कपालिशास्त्री,
श्रीअरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी |
| 16 | वेद सविता (दयानन्द स्वप्नांक) | : | वेद संस्थान, नई दिल्ली |
| 17 | वेद रहस्य | : | श्री अरविन्द, श्री अरविन्दाश्रम,
पाण्डिचेरी |
| 18 | वेदों में हिरण्य का प्रतीकवाद | : | अप्रकाशित शोध ग्रन्थ
डॉ प्रतिभा शुक्ला |
| 19 | वैदिक एकेश्वरवाद एवं ओंकार | : | डॉ. फतहसिंह वेद संस्थान,
नई दिल्ली |
| 20 | वैदिक एटिमॉलॉजी | : | डॉ. फतहसिंह, संस्कृति—सदन,
कोटा (राज.) |
| 21 | वैदिक दर्शन | : | डॉ. फतहसिंह, संस्कृति—सदन,
कोटा |
| 22 | वैदिक देवशास्त्र | : | सूर्यकान्त, श्री भारत भारती लि.,
दिल्ली, 1961 ई. |
| 23 | वैदिक पदानुक्रम कोश | : | विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध
संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर
(पंजाब) |
| 24 | सत्यार्थ प्रकाश | : | दयानन्द सरस्वती, निर्णयसागर
प्रेस, बम्बई |
| 25 | संस्कृत धातु कोश | : | युधिष्ठिर मीमांसक परोपकारी
ट्रस्ट, दिल्ली, सं. 2038 |
| 26 | स्पैक्ट्रम ऑफ कॉनशसनेस | : | केन विल्वर |



डॉ. श्रद्धा चौहान

जन्म - 1 जुलाई 1945

शिक्षा - एम.ए.(संस्कृत) राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
पीएच.डी. एवं डी. लिट् जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

विशेष अध्ययन-वेद

अध्यापन

- सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग जयनारायण विश्वविद्यालय (1984 से) ।
- सन् 1967 - 69 तक ज ना व्या.वि.वि. (पूर्व में जोधपुर विवि.) के संस्कृत विभाग में ही जूनियर लेक्चरर के पद पर अध्यापन ।
- राजकीय सहारिया महाविद्यालय कालाडेरा में वर्ष 1966 -67 तक अवैतनिक अध्यापन ।

प्रकाशन

मन्त्र-भागवतम् : सम्पादित ग्रन्थ (प्रकाशक, राज. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)
पथ्यास्वस्ति की सार्थकता, दीर्घतमा और वामम्, हनुमान् के देवत्व का मूलाधार, वैदिक सोम तथा गायत्री, अपराजितापुरी - पंचकोष के आलोक में, वैदिक पुरुष तत्त्व-एक विवेचन जैसे गम्भीर विषयों पर तेरह शोध लेख प्रकाशित ।
अनेक राष्ट्रीयगोष्ठियों में पत्रवाचन

सदस्यता

- ए. बी. आई. (अमेरिकन बायोग्राफिकल इन्स्टीट्यूट) के प्रोफेशनल वूमन्स एडवायजरी बोर्ड (2003 से) ।
- वर्ल्ड एसोसियेशन ऑफ वैदिक स्टडीज, नई दिल्ली
- वैदिक अध्ययन केन्द्र, जोधपुर
- राज. संस्कृत अकादमी, जयपुर

सामाजिक कार्य

सन् 1978-80 तक ग्राम पंचायत खेड़ा (बान्सूर, अलवर) नामित पूर्व महिला पंच ग्राम महिला एवं बालविकास के निजी कार्यक्रम में निरन्तर सन्निद्ध ।

